# भक्ति-सूत्र

भगवान श्री रजनीश

## नारद एक सेतु हैं

...नारद के सम्बंध में न मालूम कितनी कथाएँ प्रचलित हैं। नारद के व्यक्तित्व को समझा ही नहीं जा सका। समझने के लिए आधार नहीं है।

एक परम्परा कहती है कि वे परम मुक्ति को उपलब्ध नहीं हुए। क्यों?—क्योंकि नारद में बुद्ध जैसा व्यक्तित्व दिखायी नहीं पड़ता, न महावीर जैसा व्यक्तित्व दिखायी पड़ता है। नारद ऐसे सुलझे हुए मालूम नहीं होते जैसे बुद्ध सुलझे हुए मालूम होते हैं। नारद बड़े उलझे मालूम होते हैं। कथाएँ कहे चले जाती हैं कि पृथ्वी और स्वर्ग के बीच में न केवल खुद उलझे हैं, दूसरों को भी उलझाते रहते हैं।

नारद का व्यक्तित्व साफ-साफ नहीं है। बुद्ध साफ-साफ उस पार हैं, समझ में आते हैं। नारद न इस पार न उस पार, कहीं बीच में डोलते हैं। व्यक्तित्व बड़ा उलझा हुआ मालूम पड़ता है। एक ही किनारे पे इतनी उलझन है। दो संसारों के बीच में जो जिये—एक पैर यहाँ रखे, एक वैकुंठ में रखे—उसकी उलझन तुम समझ सकते हो। लेकिन वही मेरे लिए परम संन्यास का रूप है, जो दो अतियों के बीच अपने को सम्हाल ले।

नारद सेतु हैं। इस तरफ से देखो तो बिलकुल संसारी हैं! और उस तरफ से तुम न देख सकोगे; उस तरफ से मैं देख सकता हूँ—उस तरफ से देखो तो परम वीतराग हैं।

नारद बड़े अनूठे, रहस्यपूर्ण व्यक्ति हैं। उनका अनूठापन यही है, उनकी अद्वितीयता यही है कि वे एकतरफा नहीं हैं, एकांगी नहीं हैं। महान समन्वय उनमें सिद्ध हुआ है।

—भगवान श्री रजनीश

भक्ति-सूत्र भगवान श्री रजनीश

## नारद एक सेतु हैं

...नारद के सम्बंध में न मालूम कितनी कथाएँ प्रचलित हैं। नारद के व्यक्तित्व को समझा ही नहीं जा सका। समझने के लिए आधार नहीं है।

एक परम्परा कहती है कि वे परम मुक्ति को उपलब्ध नहीं हुए। क्यों?—क्योंकि नारद में बुद्ध जैसा व्यक्तित्व दिखायी नहीं पड़ता, न महावीर जैसा व्यक्तित्व दिखायी पड़ता है। नारद ऐसे सुलझे हुए मालूम नहीं होते जैसे बुद्ध सुलझे हुए मालूम होते हैं। नारद बड़े उलझे मालूम होते हैं। कथाएँ कहे चले जाती हैं कि पृथ्वी और स्वर्ग के बीच में न केवल खुद उलझे हैं, दूसरों को भी उलझाते रहते हैं।

नारद का व्यक्तित्व साफ-साफ नहीं है। बुद्ध साफ-साफ उस पार हैं, समझ में आते हैं। नारद न इस पार न उस पार, कहीं बीच में डोलते हैं। व्यक्तित्व बड़ा उलझा हुआ मालूम पड़ता है। एक ही किनारे पे इतनी उलझन है। दो संसारों के बीच में जो जियें—एक पैर यहां रखे, एक वैकुंठ में रखे—उसकी उलझन तुम समझ सकते हो। लेकिन वही मेरे लिए परम संन्यास का रूप है, जो दो अतियों के बीच अपने को सम्हाल ले।

नारद सेतु हैं। इस तरफ से देखो तो बिलकुल संसारी हैं! और उस तरफ से तुम न देख सकोगे; उस तरफ से मैं देख सकता हूँ—उस तरफ से देखो तो परम वीतराग हैं।

नारद बड़े अनूठे, रहस्यपूर्ण व्यक्ति हैं। उनका अनूठापन यही है, उनकी अद्वितीयता यही है कि वे एकतरफा नहीं हैं, एकांगी नहीं हैं। महान समन्वय उनमें सिद्ध हुआ है।

—भगवान श्री रजनीश

# भक्ति-सूत्र

नारद-वाणी; पहला भाग; भक्ति-सूत्र के पहले ४२ सूत्रों पर भगवान श्री रजनीश के दस प्रवचन, प्रश्नोत्तर सहित; दिनांक ११ जनवरी से २० जनवरी, १९७६; श्री रजनीश आश्रम, पूना

## भगवान श्री रजनीश का नया हिन्दी साहित्य

**एक ओंकार सतनाम**

जपुजी (नानक-वाणी) की पउड़ियों पर बीस वार्ताएँ, प्रश्नोत्तर सहित

**बिन घन परत फुहार**

संत सहजोबाई के पदों पर दस प्रवचन, प्रश्नोत्तर सहित

**अकथ कहानी प्रेम की**

संत शेख फरीद के पदों पर दस प्रवचन, प्रश्नोत्तर सहित

**दीया तले अँधेरा**

झेन और सूफी बोध-कथाओं पर आधारित बीस व्याख्यान

**कस्तूरी कुंडल बसै**

संत कबीर दास के पदों पर आधारित दस व्याख्यान

**ताओ उपनिषद : भाग – ३**

लाओत्से की ताओ तेह किंग के सूत्रों पर इक्कीस उद्‌बोधन

**तत्त्वमसि**

क्रान्तिबीज, पथ के प्रदीप, अन्तर्वीणा, घूंघट के पट खोल
पुस्तकों के संकलित पत्रों का वृहत् संकलन

# भक्ति-सूत्र

## भगवान श्री रजनीश
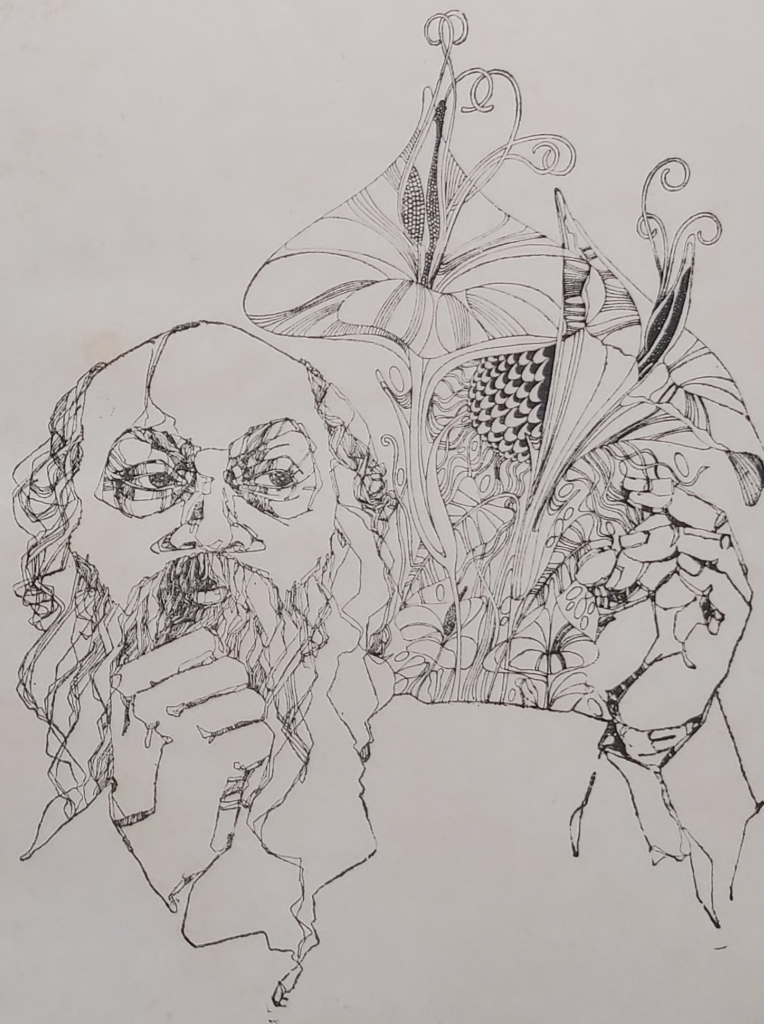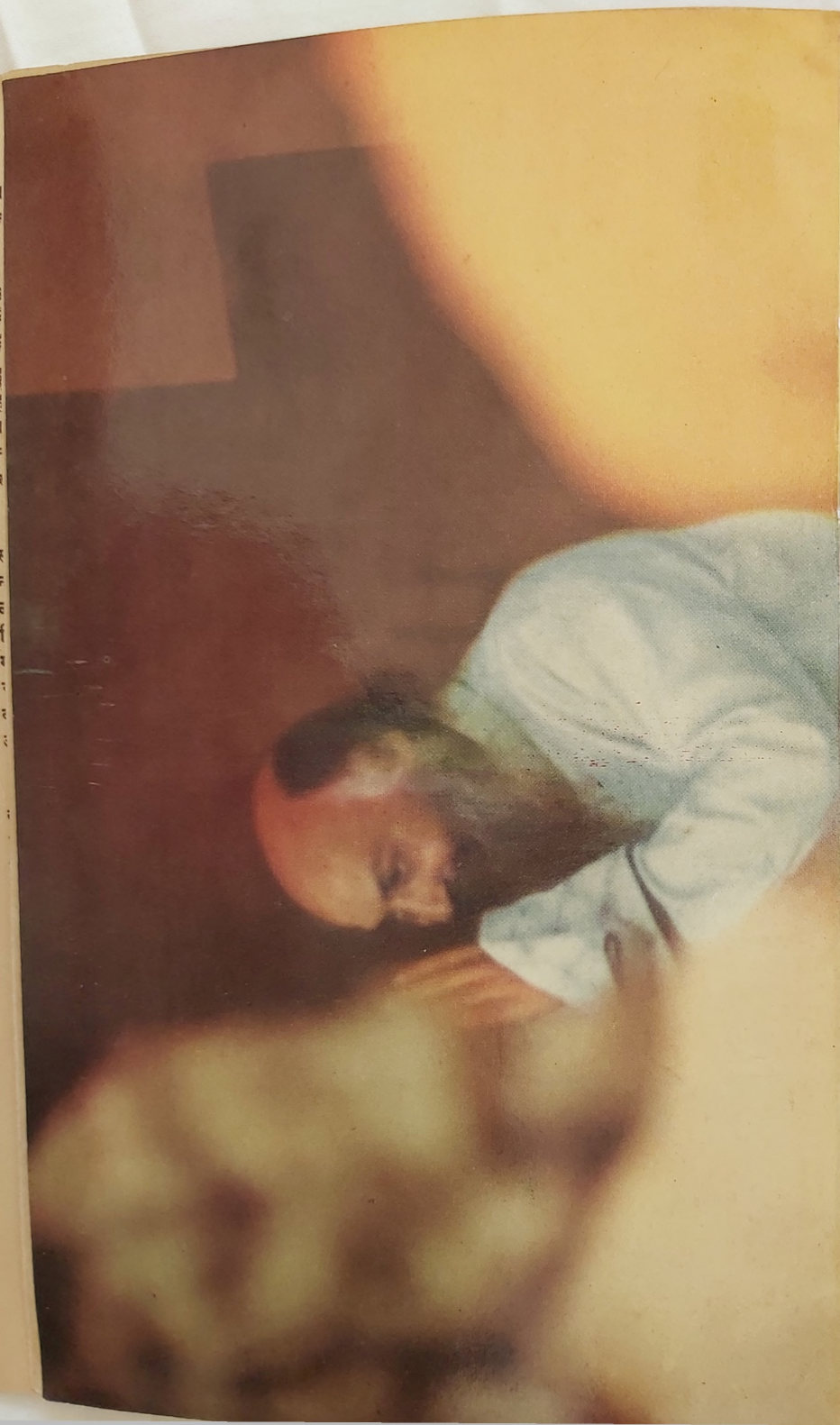
संकलन-संपादन

स्वामी चैतन्य कीर्ति

आवरण-सज्जा

स्वामी आनंद अर्हत

रजनीश फाउंडेशन प्रकाशन, पूना

प्रकाशक
मा योग लक्ष्मी
सचिव – रजनीश फाउंडेशन,
१७ – कोरेगाँव पार्क,
पूना – ४११ ००१ (महाराष्ट्र)



प्रथम संस्करण : २१ मार्च, १९७६
प्रतियाँ : ३०००
मूल्य : ३०.०० रुपये

मुद्रक
सयद इस्हाक
संगम प्रेस लिमिटेड
१७ ब कोथरूड
पूना ४११ ०२९

## अनुक्रमणिका

| प्रवचन-क्रम | | पृष्ठ |
|---|---|---|

## पहला प्रवचन

दिनांक ११ जनवरी, १९७६; श्री रजनीश आश्रम, पूना

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ २ ॥
अमृतस्वरूपा च ॥ ३ ॥
यल्लब्ध्वा पुमान सिद्धो भवति
अमृतो भवति तृप्तो भवति ॥ ४ ॥
यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति
न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥ ५ ॥
यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति
आत्मारामो भवति ॥ ६ ॥

## परम प्रेमरूपा है भक्ति

जीवन है ऊर्जा – ऊर्जा का सागर।

समय के किनारे पर अथक, अंतहीन ऊर्जा की लहरें टकराती रहती हैं : न कोई प्रारम्भ है, न कोई अंत; बस मध्य है, बीच है। मनुष्य भी उसमें एक छोटी तरंग है; एक छोटा बीज है – अनंत सम्भावनाओं का।

तरंग की आकाँक्षा स्वाभाविक है कि सागर हो जाए और बीज की आकाँक्षा स्वाभाविक है कि वृक्ष हो जाए। बीज जब तक फूलों में खिले न, तब तक तृप्ति सम्भव नहीं है।

मनुष्य कामना है परमात्मा होने की। उससे पहले पड़ाव बहुत हैं, मंजिल नहीं है। रात्रि-विश्राम हो सकता है। राह में बहुत जगहें मिल जाएँगी, लेकिन कहीं घर मत बना लेना। घर तो परमात्मा ही हो सकता है।

परमात्मा का अर्थ है : तुम जो हो सकते हो, उसकी पूर्णता।

परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं है; कहीं आकाश में बैठा कोई रूप नहीं है; कोई नाम नहीं है। परमात्मा है तुम्हारी आत्यन्तिक संभावना – आखिरी संभावना, जिसके पार फिर और कोई होना नहीं है; जिसके आगे फिर कोई जाना नहीं है; जहाँ पहुँच कर तृप्ति हो जाती है, परितोष हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्य तब तक पीड़ित रहेगा। तब तक तुम चाहे कितना ही कमा लो, कितना ही वैभव जुटा लो, कहीं कोई पीड़ा का कीड़ा तुम्हें भीतर काटता ही रहेगा; कोई बेचैनी सालती ही रहेगी; कोई काँटा चुभता ही रहेगा। लाख करो भुलाने के उपाय – बहुत तरह की शराबें हैं विस्मरण के लिए – लेकिन भुला न पाओगे। और अच्छा है कि भुला न पाओगे; क्योंकि काश, तुम भुलाने में सफल हो जाओ तो फिर बीज बीज ही रह जाएगा, फूल न बनेगा – और जब तक फूल न बने और जब तक मुक्त आकाश को गंध फूल की न मिल जाए, तब तक परितृप्ति कैसी! जब तक तुम अपने परम शिखर को छू कर बिखर न जाओ, जब तक तुम्हारा विस्फोट न हो जाए अनंत में, जब तक तुम्हारी गंगा उसी सागर में वापस न लौट जाए जहाँ से आयी है, तब तक अगर तुम भूल गये तो आत्मघात

होगा, तब तक अगर तुमने अपने को भुलाने में सफलता पा ली तो उससे बड़ी और कोई विफलता नहीं हो सकती।

अभागे हैं वे जिन्होंने समझ लिया कि सफल हो गये। धन्यभागी हैं वे, जो जानते हैं कि कुछ भी करो, असफलता हाथ लगती है। क्योंकि ये ही वे लोग हैं जो किसी-न-किसी दिन, कभी-न-कभी परमात्मा तक पहुँच जाएँगे।

जहाँ सफलता मिली वहीं घर बन जाता है। जहाँ असफलता मिली वहीं से पैर आगे चलने को तत्पर हो जाते हैं।

परमात्मा तक पहुँचे बिना कोई तृप्ति संभव नहीं है।

कहा मैंने, जीवन ऊर्जा है।

ऊर्जा के तीन रूप हैं। एक तो बीजरूप है: कुछ भी प्रगट नहीं है। फिर वृक्षरूप है: सब कुछ प्रगट हो गया है, लेकिन प्राण अप्रगट हैं। फिर फूलरूप है: फिर प्राण भी प्रगट हुआ; फिर वह अनूठी अपूर्व गंध भी आ गयी, पँखुड़ियाँ खिल गयीं और खुले आकाश के साथ मिलन हो गया; अनंत के साथ एकता हो गयी!

साधारणतः बीज का अर्थ है: कामना। वृक्ष का अर्थ है: प्रेम। फूल का अर्थ है: भक्ति।

जब तक तुम बीज में हो, तब तक कामवासना में रहोगे। जब तुम वृक्ष बनोगे तब तुम्हारे जीवन में प्रेम का अवतरण होगा। और जब तुम फूल बनोगे, तब भक्ति।

भक्ति परम शिखर है। वह आखिरी बात है।

इसे हम थोड़ा समझ लें, तभी इन अनूठे सूत्रों में प्रवेश हो सकेगा।

तुम शरीर हो; तुम मन भी हो; तुम उसके पार भी कुछ हो, जिसका तुम्हें पता नहीं।

शरीर तो बहुत स्थूल है। उसका पता चल जाता है। उसके लिए किसी बुद्धिमत्ता की जरूरत नहीं है। शरीर तो वजन रखता है। उसका बोध हो जाता है। उसके लिए किसी ध्यान की जरूरत नहीं है।

मन की भी थोड़ी झलक तुम्हें मिल जाती है, क्योंकि मन स्थूल और सूक्ष्म के मध्य में है – शरीर से भी जुड़ा है, आत्मा से भी। शरीर की तरफ से थोड़ी-सी खबरें मन की मिल जाती हैं, क्योंकि एक धागा शरीर के तट से जुड़ा है। लेकिन आत्मा की तुम्हें कोई खबर नहीं मिलती। आत्मा कोरा शब्द मालूम होता है। आत्मा शब्द सुनते से ही तुम्हारे भीतर कोई घूँघर नहीं बजते। आत्मा शब्द सुनते से ही बेचैनी-सी होती है। शब्द बेबूझ है। भाषाकोश का अर्थ तो पता है; जीवन के कोश का कुछ अर्थ पता नहीं।

शरीर के साथ जुड़ी है कामवासना। कामवासना स्थूल है। शरीर शरीर



को माँगता है: कामवासना का अर्थ। शरीर अपने से विपरीत शरीर को माँगता है; क्योंकि एक किनारा अधूरा है, दूसरे की चाह पैदा होती है। पुरुष स्त्री को माँगता है, स्त्री पुरुष को माँगती है, ताकि जीवन की सरिता बीच में बह सके, दो किनारे जुड़ जाएँ। पुरुष अकेला है, स्त्री अकेली है।

शरीर के तल पर शरीर की माँग है, शरीर से मिलन की आकांक्षा है। क्षण-भर को मिलन हो भी जाता है। क्षण-भर को शरीर शरीर में डूब जाते हैं और खो भी जाते हैं – लेकिन बस क्षण-भर को! उससे पीड़ा मिटती नहीं, गहन हो जाती है। उस मिलन के बाद बड़ा गहरा विषाद हो जाता है, क्योंकि मिलन के बाद गहरा विछोह होता है। मिलता कुछ भी नहीं; ऐसा लगता है, उलटा खो गया।

शरीर का मिलन क्षण-भर को ही हो सकता है। स्थूल एक-दूसरे में विलीन नहीं हो सकते। स्थूल की सीमा है। स्थूल अपनी सीमा को छोड़ नहीं सकता, अन्यथा स्थूल न रह जाएगा।

बर्फ के दो टुकड़ों को तुम मिलाने की कोशिश करो – मुश्किल होगी। लेकिन वे ही पिघल जाएँ, जल हो के, बिलकुल मिल जाते हैं। फिर कोई अड़चन नहीं होती। सीमा खो गयी: मिलन सुलभ हो गया।

शरीर बर्फ की तरह है – जमा हुआ, ठोस। ऊर्जा वही है; पिघल जाए तो मन बनता है। मन जल की तरह है। सीमा तो है, लेकिन तरल सीमा है, ठोस नहीं। तुम मन को कैसा भी ढालो, ढल जाता है। शरीर को कैसा भी ढालो तो न ढलेगा। मन को कैसा भी ढालो, ढल जाएगा।

हिन्दू के घर में बच्चा पैदा हो, मुसलमान के घर में रख दो, मुसलमान हो जाएगा। शरीर नहीं होगा, मन हो जाएगा। शरीर तो बाप की ही झलक देगा, माँ की झलक देगा। शरीर की खबर तो वहीं जुड़ी रहेगी जहाँ से शरीर आया है, लेकिन मन मुसलमान का हो जाएगा। बच्चे को याद भी न रहेगी कि वह कभी हिन्दू था। हिन्दू होने के पहले ही, मन इसके पहले कि ढलता, मुसलमान हो गया। मुसलमान बाद में चाहे तो हिन्दू हो जाए, ईसाई हो जाए; आस्तिक नास्तिक हो जाए, नास्तिक आस्तिक हो जाए – मन में कुछ अड़चन नहीं है।

मन तरल है। मन प्रतिपल बदलता रहता है। उसकी तरलता अनूठी है।

कामवासना है शरीर जैसी और शरीर की।

प्रेम है मन जैसा और मन का।

प्रेम की माँग शरीर की माँग से ऊपर है। प्रेम कहता है: दूसरे का मन मिल जाए! प्रेम करने वाला वेश्या के द्वार पर न जाएगा। यह बात ही बेहूदी मालूम पड़ेगी। यह बात ही सम्भव नहीं है। यह सोच भी बेहूदा मालूम पड़ेगा।

लेकिन कामवासना से भरा व्यक्ति वेश्या के घर चला जाएगा : शरीर की ही माँग है।

शरीर खरीदा जा सकता है; मन खरीदा नहीं जा सकता ।

शरीर जड़ है । मन थोड़ा-थोड़ा चेतन है; इसलिए इतना नीचा नहीं उतरा जा सकता कि खरीद और बेच की जा सके।

मन प्रेम माँगता है : कोई, जो अपना सर्वस्व देने को तैयार हो, बिना किसी शर्त के ! मन अपने को किसी को दे देना चाहता है, लुटा देना चाहता है । मन की माँग प्रेम की है ।

जब दो मन मिलते हैं तो जो रस पैदा होता है, उसका नाम प्रेम है । जब दो शरीर मिलते हैं तो जो रस पैदा होता है, उसका नाम काम है ।

फिर मन के भी बाहर तुम्हारा अस्तित्व है – आत्मा का । आत्मा ऐसे है जैसे पानी भाप बन के आकाश में उड़ गया । पानी ही है, लेकिन अब तरल सीमा भी न रही । अब कोई सीमा न रही; आकाश में फैलना हो गया ! अदृश्य हो जाती है भाप; थोड़ी दूर तक दिखायी पड़ती है, फिर खो जाती है !

आत्मा अदृश्य है – भाप जैसी !

आत्मा की तलाश किसकी है ?

शरीर माँगता है शरीर को । मन माँगता है मन को । आत्मा माँगती है आत्मा को ।

शरीर और शरीर के मिलन से जो रस पैदा होता है – क्षणभंगुर – उसका नाम : काम । मन और मन के मिलन से जो रस पैदा होता है – थोड़ा ज्यादा स्थायी, जीवन-भर चल सकता है । आकांक्षा तो मन की होती है कि जीवन के पार भी चलेगा । प्रेमी कहते हैं, 'मौत हमारे प्रेम को न तोड़ पाएगी ।' अगर प्रेम जाना है, तो प्रेमी कहता है, 'कुछ हमें छुड़ा न पाएगा । शरीर मिट जाएगा तो भी हमारा प्रेम नष्ट न होगा ।'

यह कामना ही है, लेकिन मन थोड़ा ज्यादा दूरगामी है । शरीर से उसकी सीमा थोड़ी बड़ी है ।

फिर आत्मा है; शाश्वत की माँग है उसकी । उससे कम पर उसकी तृप्ति नहीं । क्षणभंगुर को भी क्या चाहना ! अँधेरी रात में क्षण-भर को बिजली चमकती है, फिर अँधेरा और अँधेरा हो जाता है । दुख ही बेहतर है । दुख की दुनिया में क्षण-भर को सुख का फूल खिलता है, दुख और दूभर हो जाता है, फिर झेलना और मुश्किल हो जाता है ।

आत्मा मन के प्रेम को भी नहीं माँगती, क्योंकि मन तरल है : आज किसी से प्रेम किया, कल किसी और के प्रेम में पड़ सकता है । मन का कोई बहुत भरोसा नहीं है । जब प्रेम में होता है तो ऐसा ही कहता है, 'अब तेरे सिवाय किसी को



कभी प्रेम न कर सकूँगा । अब तेरे सिवाय मेरे लिए कोई और नहीं है ।' मगर ये मन की ही बातें हैं । मन का भरोसा कितना ! आज कहता है; कल बदल जाए ! अभी कहता है; अभी बदल जाए !

मन पानी की तरह तरल है ।

आत्मा की माँग है शाश्वत की, चिरंतन की, सनातन की । आत्मा की माँग है आत्मा की ।

आत्मा और आत्मा के मिलन पर जो रस पैदा होता है, उसका नाम भक्ति है।

शरीर की सीमा है ठोस । मन की सीमा है तरल । आत्मा की कोई सीमा नहीं ।

काम क्षणभंगुर है । प्रेम थोड़ा दूर तक जाता है, थोड़ा स्थायी हो सकता है । भक्ति शाश्वत है ।

काम में शरीर और शरीर का मिलन होता है – स्थूल का स्थूल से; मन में – सूक्ष्म का सूक्ष्म से; आत्मा में – निराकार का निराकार से । भक्ति निराकार के निराकार से मिलने का शास्त्र है ।

ऐसा समझो कि तुम अपने घर में बैठे हो द्वार-खिड़कियाँ बंद करके, रोशनी नहीं आती सूरज की भीतर, हवा के झोंके नहीं आते, फूलों की गंध नहीं आती, पक्षियों के कलरव की आवाज नहीं आती – तुम अपने में बंद बैठे हो : ऐसा शरीर है, द्वार-दरवाजे सब बंद !

फिर तुमने द्वार-दरवाजे खोले, खिड़कियाँ खोलीं, हवा के नये झोंकों ने प्रवेश किया, सूरज की किरणें आयीं, पक्षियों के गीत गूँजने लगे, आकाश की झलक मिली : ऐसा मन है ! थोड़ा खुलता है । लेकिन बैठे तुम घर में ही हो ।

फिर भक्ति है कि तुम घर के बाहर निकल आये, खुले आकाश में खड़े हो गये : अब सूरज आता नहीं, बरस रहा है; अब हवा कहीं से आती नहीं, तुम्हारे चारों तरफ आंदोलित होती है; अब तुम पक्षियों के कलरव में एक हो गये !

भक्ति-सूत्र पूरा शास्त्र है भक्ति का । एक-एक सूत्र को अति ध्यानपूर्वक समझने की कोशिश करना, और अति प्रेमपूर्वक भी, क्योंकि यह प्रेम का ही शास्त्र है । इसे तुम तर्क से न समझ पाओगे । स्वाद ही समझा पाएगा ।

'अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः !'

अब भक्ति की व्याख्या !

क्यों 'अब' ? 'अथातो'...!

हो चुकी बात काम की बहुत । हो चुकी चर्चा प्रेम की बहुत । अथातो भक्तिं... अब भक्ति की बात हो । जी लिये बहुत । देख लिये शरीर के भी खेल ।

देख लिये मन के भी जाल। गुज़र चुके उन सब पड़ावों से। अब भक्ति की थोड़ी बात हो।

'अब'!– अचानक शुरू होता है शास्त्र!

सिर्फ भारत में ऐसे शास्त्र हैं जो 'अथातो' से शुरू होते हैं; दुनिया की किसी भाषा में ऐसे शास्त्र नहीं हैं। क्योंकि यह तो बड़ा अधूरा मालूम पड़ता है। कहीं 'अब' से कोई शास्त्र शुरू होता है! यह तो ऐसा लगता है जैसे इसके पहले कोई बात चल रही थी; कोई कथा आगे चल रही थी जो छूट गयी है; कोई बीच का अध्याय है, प्रारंभ का नहीं।

पश्चिम के व्याख्याकार जब पहली दफा ब्रह्मसूत्र से परिचित हुए – वह भी ऐसे ही शुरू होता है: 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा,' अब ब्रह्म की जिज्ञासा – तो उन्होंने कहा कि इसके पहले कोई किताब थी जो खो गयी है। निश्चित ही, क्योंकि यह तो मध्य से शुरुआत हो रही है।

नहीं, कोई किताब खो नहीं गयी है; यह शुरुआत ही है। यह जीवन की किताब का आखिरी अध्याय है। शास्त्र शुरू ही हो रहा है, मगर जीवन की किताब का आखिरी अध्याय है। यह उनके लिए नहीं है जो अभी शरीर की वासना में पड़े हों। वे इसे न समझ पाएँगे। अभी देर है। अभी फल पकेगा। अभी उनके गिरने का समय नहीं आया। यह उनके लिए नहीं है जो अभी प्रेम की कविता में डूबे हैं और उसको ही जिन्होंने आखिरी समझा है। उन दो को छोड़ने के लिए 'अथातो'!

तो, शुरू में ही शास्त्र कह देता है कि कौन है अधिकारी। यह अधिकारी की व्याख्या है 'अथातो'। यह कहता है कि अगर चुक गये हो कामवासना से, भर गया हो मन – तो, अन्यथा अभी थोड़ी देर और भटको, क्योंकि भटके बिना कोई अनुभव नहीं है। अगर अभी प्रेम में रस आता हो तो क्षमा करो; अभी इस मंदिर में प्रवेश न हो सकेगा। अभी तुम किसी और ही प्रतिमा के पुजारी हो; अभी परमात्मा की प्यास नहीं जगी। अभी तुम या तो बीज हो या वृक्ष हो, अभी फूल होने का समय नहीं आया। और जब तक समय न आ जाए तब तक कुछ भी तो नहीं होता। इसलिए व्यर्थ मेहनत नहीं करनी है।

यह, जीवन की पाठशाला में जिनका आखिरी अध्याय करीब आ गया, उनके लिए है। इसका यह मतलब नहीं है कि यह बूढ़ों के लिए है। जैसे पश्चिम के लोगों ने गलत समझा – उन्होंने समझा कि यह आधी किताब है, आधी शायद खो गयी – वैसे पूरब के लोगों ने भी गलत समझा। उन्होंने समझा कि यह तो बूढ़ों के लिए है।

नहीं, प्रौढ़ों के लिए है, बूढ़ों के लिए नहीं है। प्रौढ़ कोई कभी भी हो सकता है। एक छोटा बच्चा प्रौढ़ हो सकता है। प्रगाढ़ बुद्धिमत्ता चाहिए! और नहीं तो बूढ़े भी बचकाने रह जाते हैं। कोई बूढ़े होने से थोड़े ही पक जाता है। धूप में पक जाने से बाल कोई वृद्ध नहीं हो जाता। बूढ़े के मन में भी वही कामनाएँ चलती रहती हैं, वही वासनाएँ चलती रहती हैं। तो उसके लिए भी नहीं है यह शास्त्र।



फिर कभी-कभी कोई जवान भी भर-जवानी में जाग जाता है, अभी जबकि सोने के दिन थे तब जाग जाता है। कभी कोई छोटा बच्चा भी अचानक बीज से छलाँग लेता है और फूल हो जाता है। कोई शंकराचार्य छोटी उम्र में, बड़ी छोटी उम्र में...। उम्र का कोई सवाल नहीं है, बोध का सवाल है।

'अथातो'...अब भक्ति की व्याख्या करते हैं। व्याख्या करते हैं, परिभाषा नहीं। परिभाषा हो नहीं सकती। कुछ चीज़ें हैं जिनका वर्णन हो सकता है, व्याख्या हो सकती है, परिभाषा नहीं हो सकती। जैसे कि तुमने कोई स्वाद पाया और तुम किसी दूसरे को समझाने लगे जिसके जीवन में अभी वैसा स्वाद आया नहीं, लेकिन स्वाद को समझने की उत्सुकता आयी है, रस जगा है, जिज्ञासा बनी है – तुम क्या करोगे? तुम वर्णन करोगे; तुम्हें जो स्वाद मिला है उसका तुम वर्णन करोगे, कैसा मिला! तुम कुछ प्रतीक चुनोगे, जिससे, जिससे तुम बात कर रहे हो, उसकी भाषा में कुछ संकेत दिये जा सकें; उसके अनुभव से तुम अपना अनुभव जोड़ने की कोशिश करोगे।

व्याख्या का अर्थ होता है: तुम्हें जिन्हें अनुभव नहीं है, उनसे अपने अनुभव को जोड़ने की चेष्टा; जो तैयार तो हैं मंदिर में प्रवेश के, लेकिन अभी मंदिर में प्रवेश नहीं हुआ है, उन्हें मंदिर की खबर देनी है; मंदिर के भीतर क्या घट रहा है, मंदिर के भीतर कैसा अनुभव हुआ है, थोड़ा-सा स्वाद उनके लिए लाना है।

क्या करेंगे? परिभाषा करेंगे? व्याख्या करेंगे। परिभाषा नहीं हो सकती। परिभाषा तो उनके बीच हो सकती है जो दोनों ही जानने वाले हों। परिभाषा संक्षिप्त होती है। परिभाषा तो एक-दो वचनों में, वाक्यों में पूरी हो जाती है। लेकिन व्याख्या थोड़ी लम्बी होती है। और व्याख्या से सिर्फ हम दृश्य देते हैं, झलक देते हैं। वह बिलकुल ठीक नहीं होती व्याख्या, क्योंकि ठीक हो नहीं सकती; थोड़ी-थोड़ी ठीक होती है, थोड़ी-थोड़ी गलत होती है। क्योंकि ज्ञानी जब अज्ञानी से बात करता है तो अज्ञानी की भाषा में करता है। परिभाषा तो बिलकुल ठीक होती है, व्याख्या बिलकुल ठीक नहीं होती – हो नहीं सकती।

जब बुद्ध बोलेंगे उनसे जिनके जीवन में बुद्धत्व नहीं है, तो अगर बुद्ध अपनी ही भाषा का उपयोग करें तो परिभाषा होगी; अगर बुद्ध उनकी भाषा का उपयोग करें जिनसे बोल रहे हैं तो व्याख्या होगी। इसलिए सूत्र पहले ही कह देता है: 'अथातो भक्तिं व्याख्या'...अब हम भक्ति की व्याख्या करते हैं।

'वह ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा है।'

भक्ति की पहली व्याख्या का सूत्र : वह ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा है।

मैंने तुम्हें कहा, ऊर्जा का एक रूप है : काम; ऊर्जा का दूसरा रूप है : प्रेम; ऊर्जा का तीसरा रूप है : भक्ति। भक्ति और काम के बीच में प्रेम है। प्रेम का एक हाथ काम से जुड़ा है; प्रेम का दूसरा हाथ भक्ति से जुड़ा है। अगर कामवासना की व्याख्या करनी हो तो भी प्रेम से ही करनी होगी। अगर भक्ति की व्याख्या करनी हो तो भी प्रेम से ही करनी होगी। क्योंकि प्रेम सेतु है दोनों के बीच। प्रेम दोनों का मध्यबिन्दु है। प्रेम दोनों का संतुलन है।

जिसने भक्ति को जाना वह उनसे बोले जिन्होंने भक्ति को नहीं जाना, तो वह किस भाषा में बोले? प्रेम के अतिरिक्त और कोई भाषा नहीं बचती। काम में तो बोला ही नहीं जा सकता, क्योंकि काम एक छोर है, भक्ति दूसरा छोर है। भक्ति तो काम के करीब-करीब विपरीत है। तो, अगर काम से कहना हो तो इतना ही कहा जा सकता है कि जो कामना नहीं है, वही भक्ति। लेकिन इससे कुछ हल न होगा, निषेध हो जाएगा।

हम पूछते हैं, 'भक्ति क्या है?' अगर काम से कहना हो तो हम इतना ही बता सकते हैं कि भक्ति क्या नहीं है। लेकिन पूछने वाला पूछ रहा है, 'हम यह नहीं पूछ रहे हैं कि भक्ति क्या नहीं है। पत्थर नहीं है, वृक्ष नहीं है, पक्षी नहीं है – माना; भक्ति है क्या? तो कहाँ से शुरू करें?'

......'परम प्रेमरूपा है।'

प्रेम से शुरुआत करनी पड़ेगी। लेकिन प्रेम में एक शर्त लगायी है : परम प्रेमरूपा! परम प्रेमरूपा का अर्थ है : ऋण काम। अगर सिर्फ प्रेमरूपा कहते तो फिर भक्ति में और प्रेम में कोई फर्क न रह जाता; फिर तो प्रेम ही भक्ति हो जाती। फिर तीसरे की कोई ज़रूरत न होती; काम और प्रेम, दो काफी थे विभाजन के लिए।

नहीं, प्रेम में थोड़ा-सा काम शेष रहता है। भक्ति में उतना भी काम शेष नहीं रह जाता।

अब हम इसे ऐसा समझें कि काम में थोड़ा-सा प्रेम है, इसलिए तो आदमी काम में उलझा रहता है। एक प्रतिशत होगा प्रेम, निन्नानवे प्रतिशत केवल कामना है, केवल वासना है; लेकिन वह एक प्रतिशत प्रेम काम को भी एक सुन्दर प्रतिमा बना देता है; काम को भी एक भावभंगिमा दे देता है जो उसकी नहीं है, उधार है; काम की कुरूपता को ढाँक लेता है, और एक सौंदर्य का आवरण दे देता है; काम की व्यर्थता को ढांक लेता है और सार्थकता की थोड़ी-सी झलक दे देता है।

कामवासना में भी प्रेम का थोड़ा-सा अंश है। और प्रेम में भी कामवासना का थोड़ा-सा अंश है। दोनों जुड़े हैं। इसलिए प्रेम भी पूरा प्रेम नहीं है; कुछ उसमें अभी भी विजातीय है। प्रेम में भी थोड़ी कामवासना है।



इसे हम ऐसा समझें कि कामी कामवासना में पड़ता है; कामवासना में पड़ने के कारण थोड़े-से प्रेम का आविर्भाव हो जाता है। प्रेमी प्रेम में डूबता है; प्रेम में डूबने के कारण कामवासना आ जाती है। दोनों में बड़ा फर्क है, लेकिन तालमेल भी है। कामी काम के कारण प्रेम करने लगता है। प्रेमी प्रेम के कारण काम में उतरता है। दोनों में मौलिक अंतर है। क्योंकि प्रेमी का काम बड़ा मधुर और प्रीतिकर हो जाएगा। कामी का प्रेम भी गंदा होगा। उसके प्रेम में भी बदबू होगी। लेकिन एक-दूसरे में घुले-मिले हैं।

परम प्रेमरूपा है भक्ति। परम प्रेमरूपा का अर्थ हुआ : प्रेम खालिस सोना बचा; चौदह कैरेट नहीं, अट्ठारह कैरेट नहीं; खालिस! उसमें एक भी कैरेट कामवासना का न रहा। शुद्ध प्रेम हो गया, तो भक्ति!

क्योंकि तुम प्रेम को शायद थोड़ा-सा जानते हो, इसलिए प्रेम के आधार पर भक्ति को समझाया जा रहा है। तुम प्रेम की थोड़ी-सी भाषा जानते हो, वह भी पूरी नहीं जानते; कहीं सपने में झलक मिली है; कहीं टटोलते-टटोलते हाथ पड़ गया है; कहीं से कोई थोड़ी पहचान आ गयी है; सांयोगिक रही होगी, लेकिन तुम्हें थोड़ा-सा स्वाद है।

जैसे कि पीतल है, और सोना तुमने नहीं देखा, तो हम पीतल से सोने को समझाते हैं। कहते हैं : ऐसा ही पीला, पर और शुद्ध, ज्योतिर्मय, सूर्य की किरण जैसा चमकता हुआ! कुछ प्रतीक खोजते हैं। प्रतीक खोजना वर्णन है, व्याख्या है।

'वह भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा है।'

सूत्र के जो भी अनुवाद किये गये हैं हिन्दी में, उन सब में यही अनुवाद किया गया है : वह भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा है। पर संस्कृत में बात कुछ और है।

'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा!' ईश्वर शब्द का प्रयोग नहीं किया है। ईश्वर शब्द नहीं है। 'उसके प्रति'! 'त्वस्मिन'! बड़ा फर्क है। जिन्होंने भी हिंदी में अनुवाद किये हैं, उन्होंने बात को संकीर्ण कर दिया।

'उसके प्रति'! 'उसका' नाम नहीं हो सकता। इशारा है। बड़ी दूर है वह। उसे ईश्वर कहने से बात हल न होगी। क्योंकि उसे ईश्वर कहने से ही हम उसकी परिभाषा कर देंगे।

ईश्वर शब्द का अर्थ होता है; ऐश्वर्यवान; सारा ऐश्वर्य जिसका है, वह ईश्वर। यह हमारी परिभाषा है, क्योंकि हम ऐश्वर्य की भाषा में सोचने के आदी हो गये हैं। हमारे लिए ईश्वर ऐसा है जैसे सम्राट; सारे जगत का है, पर है सम्राट

ही। धन की भाषा में हम सोचने के आदी हो गये हैं, ऐश्वर्य की भाषा में सोचने के आदी हो गये हैं, तो ईश्वर कहते हैं।

लेकिन धन से, और ईश्वर का क्या लेना-देना ? ऐश्वर्य से, और ईश्वर का क्या सम्बंध ? सम्राटों से उसकी कल्पना करनी ठीक नहीं। इसलिए संस्कृत शब्द ठीक है : त्वस्मिन् – 'उसके प्रति'! नाम मत दो उसे। नाम तुम दोगे, तुम्हारा नाम होगा, तुम्हारा मन प्रविष्ट हो जाएगा। सिर्फ इतना ही कहो : 'उसके'। इशारा करो। अँगुली बता दो। शब्द मत दो।

वह अनाम है; नाम में मत घसीटो।

वह अरूप है; रूप का आग्रह मत करो।

वह निराकर है; तुम कोई आकार मत दो।

'ईश्वर' देते ही आकार मिल जाता है। ईश्वर शब्द आते ही, तुम्हारे मन में आकार उठने शुरू हो जाते हैं।

सोचो थोड़ा : 'उसके प्रति'! – कोई आकार उठता है? उसके प्रति! – तुम पूछोगे, 'किसके प्रति? यह कौन है 'उस'? किसकी बात कर रहे हैं?'

'ईश्वर' कहते ही हल हो गया, तुम निश्चित हुए, तुमने कहा, समझ गये। जहाँ तुमने कहा, समझ गये, वहीं नासमझी है। तुम न समझो, बड़ी कृपा होगी। तुम बहुत जल्दी समझ जाते हो, वहीं भूल हो जाती है।

परमात्मा इतना आसान नहीं कि समझ में आ जाए। वस्तुतः उसे समझने के लिए सब समझ छोड़नी पड़ती है। उसे केवल वे ही समझ पाते हैं जो समझ का आग्रह भी छोड़ देते हैं।

इसलिए अच्छा होगा, हम भी कहें, 'उसके प्रति'! 'उसके' कहते ही बड़ा विराट का द्वार खुलता है। फिर ये पशु-पक्षी, पौधे, आकाश, सब सम्मिलित हो जाते हैं। परमात्मा कहते ही, ईश्वर कहते ही बात कुछ बिगड़ जाती है; भेद खड़ा हो जाता है; स्रष्टा और सृष्टि का भेद हो जाता है। फिर तुम सृष्टि की निंदा में लग जाते हो और स्रष्टा की पूजा में। और कहीं स्रष्टा और सृष्टि अलग नहीं हैं। स्रष्टा शब्द ठीक नहीं है; सृजन की ऊर्जा है। वही सृष्टि है, वही स्रष्टा है। 'उसके प्रति' कहना बिलकुल ठीक है।

'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' – उसके प्रति परम प्रेमरूप है। न नाम का पता है, न धाम का पता है। इसका क्या अर्थ हुआ? इसका अर्थ यह हुआ कि प्रेम तो नाम-धाम के बिना नहीं हो सकता, भक्ति हो सकती है। प्रेम के लिए तो नाम-धाम चाहिए।

तुम अगर कहो कि मैं प्रेम में पड़ गया हूँ, और कोई पूछे, 'किसके प्रति'; तुम कहो, 'इसका कोई पता नहीं' – तो तुम पागल हो।



प्रेम तो साकार के प्रति है, इसलिए नाम पता है। प्रेम का तो कोई एड्रेस है, पत्र लिखा जा सकता है। परमात्मा का कोई एड्रेस नहीं, पत्र लिखा नहीं जा सकता। परमात्मा के लिए तो बड़ा बावलापन चाहिए। निराकार के प्रति प्रेम! इसका अर्थ यह हुआ कि आब्जैक्ट, विषय तो खो गया, सब्जैक्ट, केवल तुम्हीं बचे।

जिन्होंने परमात्मा के प्रति प्रेम जाना, उन्होंने वस्तुतः यही जाना कि वहाँ कोई भी नहीं है, बस प्रेम ही है। असल में परमात्मा के प्रति प्रेम कहना ठीक नहीं है, वहाँ 'प्रति' है ही नहीं। वहाँ सिर्फ प्रेम का निवेदन है, किसी के प्रति नहीं है; सिर्फ प्रेम का आविर्भाव है; शुद्ध प्रेम की ऊर्जा का उठान है, उत्थान है, उर्ध्वगमन है; किसी के प्रति नहीं है। पर कहना होगा तुम्हारी भाषा में।

इसलिए सूत्र कहता है : 'वह उसके प्रति परम प्रेमरूपा है।' परम प्रेम तभी है जब प्रेमी की भी ज़रूरत न रह जाए। जब तक प्रेमी की ज़रूरत है, तब तक तुम्हारा प्रेम परम प्रेम नहीं है, निर्भर है। निर्भर है तो शुद्ध नहीं हो सकता। जिससे तुम प्रेम करोगे, वह तुम्हारे प्रेम को आच्छादित करेगा। जिससे तुम प्रेम करोगे, वह तुम्हारे प्रेम को रंग देगा; जिसको तुम प्रेम करोगे वह तुम्हारे प्रेम को ढंग देगा – परम नहीं हो सकता।

ऐसा समझो कि जब भी सोने का आभूषण बनाओगे, तो शुद्ध न रह जाएगा, कुछ-न-कुछ मिलाना पड़ेगा। क्योंकि शुद्ध सोना इतना नाजुक है, उसके आभूषण नहीं बनते। उसमें कुछ मिलाना ही पड़ेगा विजातीय – कुछ ताँबा मिलाओ, कुछ और मिलाओ। वह अट्ठारह कैरेट रह जाएगा, बीस कैरेट होगा, बाईस कैरेट होगा; लेकिन शुद्ध नहीं हो सकता, चौबीस कैरेट नहीं हो सकता।

ऐसा समझो कि भक्ति के जब तुम आभूषण बनाते हो, तो प्रेम हो जाता है। और जब तुम प्रेम के आभूषणों को पिघला लेते हो और शुद्ध कर लेते हो, तब भक्ति हो जाती है। लेकिन जब तुम प्रेम के आभूषण पिघलाते हो तो प्रेमी भी पिघल जाता है। तुम जिसे प्रेम करते थे, वह बचता नहीं। तुम भी नहीं बचते; प्रेम ही बचता है। वे दोनों गये। वह द्वैत गया। और जब प्रेम ही बचता है, तब प्रेम शुद्ध है। न मैं न तू, दोनों खो गये!

जलालुद्दीन रूमी की बड़ी प्रसिद्ध कविता है, मुझे बड़ी प्यारी है। एक प्रेमी अपनी प्रेयसी के द्वार पे दस्तक देता है। भीतर से आवाज आती है, 'कौन है?' प्रेमी कहता है, 'मैं हूँ तेरा प्रेमी। पहचाना नहीं? मेरी पगध्वनि विस्मृत हो गयी? मेरी आवाज़ पहचान से उतर गयी?' लेकिन भीतर से आवाज़ आयी, 'अभी तुम इस योग्य नहीं कि द्वार खुलें। अभी तुम अधिकारी नहीं।'

प्रेमी बड़ा हैरान हुआ। क्योंकि प्रेमी तो सदा सोचता है कि अधिकारी है ही। हर व्यक्ति की यही भूल है कि हर व्यक्ति जन्म से ही समझता है कि

वह प्रेम का अधिकारी है। इसलिए प्रेम को कोई सीखता ही नहीं, बिना सीखे ही प्रेम करने लगते हैं। और इसलिए फिर प्रेम में इतनी भूलें होती हैं और प्रेम में इतना उपद्रव होता है, और सारा जीवन बर्बाद हो जाता है।

प्रेम संभावना है, सत्य नहीं। प्रेम को प्रगटाना है; वह प्रगट नहीं है। प्रेम कोई मिली हुई संपदा नहीं है; खोजनी है; सृजन करना है उसका।

प्रेमी लौट गया; वर्षों भटकता रहा; प्रेम की खोज करता रहा; प्रेम का अर्थ समझने की चेष्टा करता रहा; ध्यान किया, प्रार्थना की – धीरे-धीरे प्रेम का आविर्भाव हुआ, वह लौटा। फिर उसने दस्तक दी। भीतर से आवाज़ आयी, 'कौन?' तो, जलालुद्दीन कहता है कि अब प्रेमी ने कहा: 'तू ही है।' और द्वार खुल गये।

जलालुद्दीन से अगर मेरी कभी मुलाकात हो जाए – कभी-न-कभी हो सकती है, क्योंकि जो रहा है वह कहीं होगा; जो है वह मिटता नहीं – तो उससे मैं कहूँ कि कविता पूरी कर दो, यह अधूरी है। अभी भी द्वार खुलने नहीं चाहिए। क्योंकि जहाँ 'तू' है वहाँ 'मैं' मिट नहीं सकता।

प्रेमी ने पहले कहा, 'मैं'! अब उसने बदल लिया पहलू; लेकिन पहलू बदलने से कुछ फर्क नहीं पड़ता। अब वह कहता है, 'तू'! लेकिन 'तू' का क्या अर्थ है अगर 'मैं' मिट गया हो? किसको कहोगे 'तू'? किस प्रसंग में कहोगे 'तू'?

'तू' का सारा अर्थ 'मैं' में छिपा है। जब तक 'मैं' हूँ, तभी तक 'तू' में अर्थ है। जब 'मैं' ही न रहा तो 'तू' कौन?

जलालुद्दीन से मैं कहूँ कि इसे थोड़ा और आगे बढ़ा, एक दफा और लौटा इस प्रेमी को। जल्दी मत कर। कविता खत्म करने की इतनी जल्दी भी क्या है; और चार लाइन जोड़ी जा सकती हैं। जाने दे वापस। प्रेयसी से कहलवा दे कि कुछ-कुछ तैयार हुआ, लेकिन पूरा नहीं। थोड़ी अधिकारी होने की क्षमता आयी; लेकिन अभी प्रारम्भ है। थोड़ा और भटक। थोड़ा और खोज। इतना पहुँचा है तो आगे भी पहुँच ही जाएगा। रास्ता ठीक है जिस पे चल पड़ा है, मंजिल अभी नहीं आयी। आधी यात्रा हो गयी है – 'मैं' खो गया; आधी और होनी चाहिए – तू भी खो जाए! फिर ला, कुछ वर्षों बाद! फिर लाने की वैसे जरूरत भी नहीं है। फिर तो प्रेयसी वहीं चली आएगी जहाँ प्रेमी है।

परम प्रेम तब है जब न प्रेमी रहा न प्रेयसी रही, जब द्वन्द्व खो गया।

... 'उसके प्रति परम प्रेमरूपा है ...!'

और तब –

'अभी मैखानए दीदार हर जर्रे में खुलता है<br>
अगर इंसान अपने आप से बेगाना हो जाए।'



और तब कण-कण में उसकी मधुशाला का दरवाजा खुल जाता है! कण-कण में!

'अभी मैखानए दीदार हर जर्रे में खुलता है।'

कण-कण में उसका मधु बिखर जाता है और कण-कण में उसकी मधुशाला का द्वार खुल जाता है – 'अगर इंसान अपने आप से बेगाना हो जाए!' अगर आदमी अपने को भूल जाए, तो परमात्मा को पाने में अड़चन कहाँ! अपने से बेगाना हो जाए! मैं को भूल जाए, मैं को छोड़ दे, मैं को न पकड़े रखे – तो उसकी मधुशाला कण-कण पे बिखर जाती है! फिर सभी जगह उसकी ही मस्ती है।

न तुम हो, न वह है; मस्ती ही मस्ती है – वही परम प्रेमरूप है!

'अमृतस्वरूपा च!'

बड़े अद्भुत सूत्र हैं। छोटे, बीजरूप!

'और अमृतस्वरूपा है!'

'वह भक्ति परम प्रेमरूपा है और अमृतस्वरूपा है।' क्योंकि जिसने परम प्रेम जाना, फिर उसकी कोई मृत्यु नहीं। क्योंकि वह तो मर ही चुका, अब मरेगा कैसे? मरना तो तभी तक शेष है जब तक तुम मिटे नहीं, मरे नहीं। मौत तो तभी तक डरायेगी जब तक तुम हो। जिसने अपने को खो दिया उसकी कैसी मौत! उसने मौत पर विजय पा ली! वह अमृतस्वरूप को उपलब्ध हो गया!

ध्यान रखना: अहंकार की ही मृत्यु होती है, तुम्हारी कभी नहीं होती; कभी हुई नहीं, हो नहीं सकती। तुम शाश्वत हो, सनातन हो; सदा थे, सदा रहोगे। अन्यथा कोई उपाय नहीं है। तुम चाहो भी अपने को मिटा लेना तो नहीं मिटा सकते। मौत होती ही नहीं। लेकिन तुमने एक अपना काल्पनिक आकार, रूप समझ रखा है। उस कल्पना की मौत होती है। तुमने अपनी एक अहंकार की प्रतिमा बना रखी है। परमात्मा से जुदा तुमने अपने को 'मैं' कहने का भाव बना रखा है। वही मैं-भाव मरता है। चूँकि तुम उससे बड़े जुड़े हो, तुम्हें लगता है: 'मैं' मरा! 'मैं'-भाव छूट जाये ... 'अमृत-स्वरूपा च' ... तब, तब जो मिलता है उसकी कोई मृत्यु नहीं है।

'यल्लब्ध्वा पुमान सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।'

उस भक्ति को प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है।'

... 'सिद्ध हो जाता है!'

सिद्ध का क्या अर्थ होता है?

सिद्ध का अर्थ होता है: जो होने को थे वही हो गये। जो बीज की तरह लाये थे वह खिल गया फूल की तरह: सिद्ध का अर्थ होता है।

सिद्ध का अर्थ होता है : अब और साधना करने को न रही; अब और कोई साध्य न रहा; अब सभी साधनों के पार आ गये।

सिद्ध का अर्थ होता है : तुमने पा लिया अपने स्वभाव को, अपने स्वरूप को; पहुँच गये उस परम मंदिर में जिसकी तलाश थी, जन्मों-जन्मों अनंत काल तक जिसे खोजा था, जिसके लिए भटके थे।

स्वयं को खोते ही व्यक्ति सिद्ध हो जाता है। इसका अर्थ हुआ कि सारा भटकाव अहंकार का है। तुम इसलिए नहीं भटकते कि कोई तुम्हें और भटका रहा है; तुम इसलिए भटकते हो कि तुम हो। जब तक तुम हो, भटकोगे। तुम मिटे कि पहुँचे। मिटने में ही पहुँच जाना है। होने में ही भटकना है।

...'अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है।'

'जिस भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न द्वेष करता है, न आसक्त होता है और न उसे विषय-भोगों में उत्साह होता है।'

'इन्तिहा वो थी कि जीने के लिए मरता था मैं
इब्तिदा ये है कि मरने की भी हसरत न रही।'

ऐसे भी दिन थे जब जीने के लिए ऐसी आतुरता थी कि मरने को भी तैयार हो जाता था। और आखिरी बात—इन्तिहा यह है—और आखिरी बात यह है, पहुँच जाने की बात यह है कि मरने की भी हसरत न रही। जीने की तो बात छोड़ो, मरने की भी आकांक्षा नहीं उठती।

तुमने कभी खयाल किया—तुम्हें मरने की आकाँक्षा तभी उठती है जब तुम्हारी जीवन की आकाँक्षा पूरी नहीं होती! जहाँ-जहाँ अड़चन आती है जीवन की आकाँक्षा में, वहीं तुम कहते हो कि मर जाना बेहतर है। मरना तुम चाहते नहीं। जीना तुम चाहते हो अपनी शर्तों पर। शर्त कभी पूरी नहीं होती, तो मरने की तैयारी करने लगते हो।

रूसी कहानी है कि एक लकड़हारा लौट रहा है गट्ठर ले कर सिर पर। जिंदगी-भर लकड़ियाँ ढोता रहा है, थक गया है।... सभी थक जाते हैं, और सभी लकड़ियाँ ढो रहे हैं। काटो जंगल से, बेचो बाजार में; फिर दूसरे दिन काटो जंगल से, फिर बेचो बाजार में!... थक गया है। हड्डी-हड्डी जराजीर्ण हो गयी है। उस दिन तो वह बड़ा दुखी है कि इससे भी क्या सार है! 'यही करता रहा, यही करता रहूँगा, और एक दिन मर जाऊँगा और मिट्टी में गिर जाऊँगा।'

तो उसने कहा, 'ऐ मौत, सभी को आती है, एक मुझ ही को छोड़ देती है। मुझे क्यों नहीं आती? उठा ले मुझे!'

ऐसे मौत साधारणतः इतनी जल्दी सुनती नहीं, पर कहानी है कि मौत ने



सुन लिया। मौत आ गयी। लकड़हारा गट्ठर को पटक के दुखी मन से बैठा था। मौत ने आ के कहा, 'मैं आ गयी हूँ, बोलो क्या काम है?'

देखा मौत को, हाथ-पैर कँप गये, प्राण कँप गये, साँस रुक गयी। उसने कहा, 'नहीं, कुछ काम नहीं; कोई और दिखायी नहीं पड़ा, गट्ठर उठवा के सिर पे रखवाना है। कृपा कर और गट्ठर उठा के सिर पे रख दे।'

तुम जब भी मरने की बात करते हो तब गौर से देखना : वहाँ जीने की आकाँक्षा बड़ी गहरी है। इसलिए जो लोग आत्महत्या करते हैं, तुम चौंकना मत, तुम यह मत सोचना कि इन लोगों ने आत्महत्या कर ली, बात क्या है! आदमी तो जीना चाहता है; ये मर कैसे गये! ये बहुत बुरी तरह जीना चाहते थे, बड़ी प्रगाढ़ता से जीना चाहते थे। इनकी शर्तें बड़ी थीं; जिंदगी पूरी न कर पायी। ये जिंदगी से नाराज हो गये। ये जिंदगी को तो न मिटा पाये; ये जिंदगी को मिटाने के लिए तत्पर हो गये थे—अपने को मिटा लिया। मगर इनकी आत्महत्या में जीवन की आकाँक्षा है, जीवेषणा है।

जब तुम जीवन की आकाँक्षा छोड़ देते हो, तब तुम चकित हो जाओगे कि उसके साथ-ही-साथ मृत्यु की आकाँक्षा भी छूट जाती है। जिस व्यक्ति के जीवन को जीवेषणा से छुटकारा मिल गया; जो अभी राजी है कि मौत आ जाए तो तैयार पाये; जो यह भी नहीं कहता कि कल मुझे जीना है—उसे तुम कभी आत्म-हत्या करता न पाओगे; हालाँकि तुम्हें लगेगा कि इसे तो आत्महत्या कर लेनी चाहिए। जब यह आदमी कहता है कि मुझे जीने का कोई सवाल नहीं है तो इसे आत्महत्या कर लेनी चाहिए। लेकिन आत्महत्या तभी की जाती है जब जीने की बड़ी गहरी आकाँक्षा होती है। यह आत्महत्या भी क्यों करे? मरने की भी हसरत न रही। उतनी आकाँक्षा भी नहीं है अब।

...'न किसी वस्तु की इच्छा करता है।' क्योंकि जिसने भक्ति को जान लिया, वस्तुएँ व्यर्थ हो गयीं।

तुम जब कभी प्रेम को जानते हो तब भी वस्तुएँ व्यर्थ हो जाती हैं।

तुमने कभी खयाल किया—प्रेमी एक-दूसरे को वस्तुओं की भेंट देने लगते हैं! वह प्रेम का लक्षण है। क्यों? अब वस्तुओं का मोह नहीं रह जाता। वस्तुएँ देने योग्य हो जाती हैं; पकड़ रखने योग्य नहीं रह जाती।

जिसे तुम प्रेम करते हो उसे तुम सब दे देना चाहते हो। इसलिए कंजूस प्रेम नहीं कर पाते। कृपण आदमी के जीवन में कोई प्रेम नहीं हो सकता। क्योंकि कृपणता और प्रेम एक साथ नहीं हो सकते; एक ही घर में उन दोनों का निवास नहीं हो सकता।

तो, ध्यान रखना : कृपण तो प्रेमी भी नहीं हो सकता, भक्त होना तो असम्भव

है। लेकिन अक्सर तुम कृपणों को भक्त पाओगे। वह भक्ति झूठी है।

निज़ाम हैदराबाद भक्त आदमी थे। लेकिन मैंने सुना है कि वे दुनिया के सबसे बड़े सम्पत्तिशाली आदमी थे। इतनी बड़ी सम्पत्ति और किसी के पास नहीं। लेकिन कृपण तुम ऐसा आदमी न पाओगे। जो टोपी उन्होंने सिंहासन पर बैठते वक्त पहनी थी, वे चालीस साल उसको पहने रहे। उससे बास आती थी। वह इतनी गंदी हो गयी थी। वे उसको धुलने नहीं देते थे, क्योंकि धुलने में कहीं बिगड़ न जाए, कहीं खराब न हो जाए। वे मरते दम तक उसी को पहने रहे। मेहमान सिगरेट अधजली छोड़ जाते तो ऐश-ट्रे से वे इकट्ठी कर लेते थे – खुद पीने के लिए! यह तुम भरोसा न करोगे। और यह आदमी भक्त था! पाँच बार इबादत करता था भगवान की। यह असम्भव है। यह बिलकुल असम्भव है।

यह आदमी किसको धोखा दे रहा है? अभी तो इस आदमी के जीवन में प्रेम भी नहीं है! जली सिगरेटें, झूठी सिगरेटें इकट्ठी कर रहा है!...जैसे ही मेहमान जाएँ, जो पहला काम निज़ाम करते थे, वह यह कि जल्दी से सिगरेटें सँभाल के रख लेना, फिर फुर्सत से पिएँगे!

जहाँ भी तुम कृपण को पाओ, वहाँ तुम समझ लेना कि अगर वह भगवान की बातें कर रहा हो, प्रेम और भक्ति की बातें कर रहा हो, तो वे किसी गहरे घाव को छिपाने की तरकीबें हैं। कृपण कभी भक्त नहीं हो सकता। कृपण प्रेमी ही नहीं हो पाता। वह पहली ही सीढ़ी नहीं चढ़ता, दूसरी पर तो पहुँचेगा कैसे?

जब तुम प्रेम करते हो, तत्क्षण तुम्हारी पकड़ वस्तुओं से उठ जाती है, तुम भेंट कर सकते हो, दान दे सकते हो! और दे के तुम प्रसन्न होते हो, उदास नहीं। और जो तुमसे ले लेता है, तुम उसके अनुगृहीत होते हो कि उसने हलका किया। ऐसा नहीं सोचते कि वह तुम्हारा अनुगृहीत होए; क्योंकि अगर उतना भी रह गया तो सौदा हुआ, फिर तुम कृपण हो।

हिंदुस्तान में रिवाज है कि ब्राह्मण घर आये तो पहले उसे भेंट दो, दान दो, फिर दक्षिणा भी दो। दक्षिणा का मतलब होता है धन्यवाद कि तुमने भेंट स्वीकार की! दक्षिणा बड़ा अद्भुत शब्द है! पहले दान दो, और चूँकि ब्राह्मण ने स्वीकार किया, वह इनकार भी कर सकता था, फिर दक्षिणा दो कि धन्यभाग कि 'तुमने स्वीकार किया! तुम इनकार कर देते तो मेरा प्रेम अधूरा वापस लौट आता! तुमने द्वार दिया!'

इसलिए प्रेमी अनुगृहीत होता है दे कर। भक्त सब लुटा के अनुगृहीत होता है।

'...किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता है, न द्वेष करता है।' क्योंकि जब इच्छा ही नहीं रही तो द्वेष कहाँ! द्वेष तो इच्छा की छाया है। जब तक तुम



इच्छा करते हो तब तक तुम द्वेष भी करोगे। क्योंकि जो वस्तु तुम चाहते हो, वह अगर किसी और के कब्जे में है तो तुम क्या करोगे? तुम द्वेष करोगे। तुम ईर्ष्या करोगे। तुम जलोगे।

'...न आसक्त होता है।' क्योंकि जब इच्छा ही न रही...।

समझ लो इसको ठीक से। जिसके जीवन में वस्तुओं की इच्छा है, उसका अर्थ है कि उसने प्रेम को नहीं जाना – पहली बात। वह चूक गया। वस्तुएँ तो पड़ी रह जाएँगी, प्रेम साथ जाता है। थोड़ा जाता है, भक्ति होती तो पूरा जाता। उतना जाता जितना प्रेम था। जितना खालिस सोना था, साथ चला जाता; शेष विजातीय पड़ा रह जाता।

अगर तुम प्रेम तक नहीं पहुँच पाए तो उसका अर्थ केवल इतना है कि तुम जो भी इकट्ठा कर रहे हो, वह सब मौत छीन लेगी। इसलिए कृपण मौत से डरता है। जीता नहीं और मौत से डरता है। जीने की तैयारी करता है, जीता कभी नहीं। क्योंकि जीने में तो खर्च है। जीने में तो प्रेम लाना पड़ेगा। जीने में तो व्यक्तित्व प्रवेश कर जाएँगे, वस्तुओं की दुनिया समाप्त हो जाएगी। न, वह सिर्फ जीने की तैयारी करता है: मकान बनाता है जिसमें कभी रहेगा; धन इकट्ठा करता है जिसको कभी भोगेगा; शादी करता है, पत्नी, जिससे कभी प्रेम करेगा, फुर्सत से; बच्चे पैदा करता है कि कभी जब समय होगा, सुविधा होगी, तब एक बार आशीर्वाद बरसा देंगे। मगर वह दिन कभी आता नहीं। वह तैयारी ही करता है। एक दिन मौत उसे उठा लेती है। और जो भी उसने इकट्ठा किया था, वह सब पड़ा रह जाता है। इसका भय सताता है।

इसलिए कृपण डरता रहता है और डर के कारण और भी कृपण होता जाता है। मौत के खिलाफ इन्तजाम करता है।

मौत के खिलाफ एक ही इन्तज़ाम है – और वह है प्रेम। मौत के खिलाफ दूसरा कोई इंतज़ाम नहीं है, कोई सुरक्षा नहीं है। कोई बीमा-कंपनी मौत के खिलाफ सुरक्षा नहीं दे सकती। सिर्फ प्रेम ...!

क्योंकि प्रेम के क्षण में तुम वस्तुओं से ऊपर उठते हो और व्यक्तित्व दृष्टि में आता है; व्यक्तियों का संसार शुरू होता है, वस्तुओं का समाप्त होता है। तब वस्तुएँ साधनरूप हो जाती हैं। तुम प्रेम के लिए उनका उपयोग करते हो, लेकिन वे तुम्हारा उपयोग नहीं कर पातीं। जब तुम वस्तुओं की इच्छा करते हो तो जो वस्तुएँ तुम्हारे पास हैं, उनमें तुम्हारी आसक्ति होती है: कोई छीन न ले! और जो तुम्हारे पास नहीं हैं, दूसरों के पास हैं, उनसे तुम्हारा द्वेष होता है, क्योंकि उनके पास हैं और तुम्हारे पास नहीं हैं। इच्छा के दो पहलू बन जाते हैं फिर: अपने पास जो है उसे पकड़ो, और दूसरे के पास जो है उसे छीनो। तब सारा जीवन

एक छीना-झपट, एक आपाधापी, एक दौड़-धूप हो जाती है; हाथ कुछ भी नहीं लगता। मरते वक्त हाथ खाली होते हैं।

... 'न आसक्त होता है, न उसे विषय-भोगों में उत्साह होता है।'

यह बहुत समझ लेने जैसा है। विषय-भोगों में तुम्हें उत्साह तभी तक है, जब तक तुम्हें परम भोग का स्वाद नहीं मिला। क्षुद्र को भोगता आदमी तभी तक है जब तक विराट के भोग का द्वार नहीं खुला। कंकड़-पत्थर बीनते हो, क्योंकि हीरे-जवाहरातों का पता नहीं। कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करते हो, क्योंकि सम्पत्ति की कोई पहचान नहीं है।

यह लक्षण है भक्त का कि उसे विषय-भोगों में कोई उत्साह नहीं होता। कामी को सिर्फ विषय-भोग में उत्साह होता है, और कोई उत्साह नहीं होता। प्रेमी को विषय-भोग में उत्साह नहीं होता, किन्हीं और चीज़ों में उत्साह होता है; अगर उनके सहारे काम भी चले तो ठीक।

जैसे समझो : अगर तुम किसी व्यक्ति के प्रेम में हो, तो तुम चाहोगे कि दोनों बैठ के कभी शांत आकाश में तारों को देखो। कामी नहीं चाहेगा यह। कामी कहेगा, 'क्यों फिजूल समय खराब करना? तारों में क्या रखा है? एक दफा देख लिये सदा के लिए देख लिये।' कामी को तो शरीर में रस है, तारों में नहीं, चाँद में नहीं, पक्षियों के गीत में नहीं। दो प्रेमी बैठ के सितार सुन सकते हैं, या गीत गा सकते हैं, या दो प्रेमी बैठ के शांत, मौन ध्यान कर सकते हैं, प्रार्थना कर सकते हैं। उस प्रार्थना के माध्यम से ही अगर काम भी जीवन में आ जाए तो उन्हें कोई विरोध नहीं है। लेकिन शुरू उन्होंने प्रार्थना की थी। चाँद को देखते-देखते वे करीब आ जाएँ और एक-दूसरे का हाथ हाथ में ले लें तो उन्हें कुछ विरोध नहीं है; लेकिन देखना उन्होंने चाँद को शुरू किया था।

प्रेमियों की आँख एक-दूसरे पे नहीं होती; एक साथ किसी और चीज़ पे होती है। कामियों की आँख एक-दूसरे पे होती है, और किसी चीज़ पे नहीं होती। प्रेमी किसी और तीसरी चीज़ को देखते हैं अपने से पार। प्रेम का कोई गंतव्य है, काम का कोई गंतव्य नहीं है। काम अपने-आप में समाप्त हो जाता है। प्रेम अपने से पार जाता है। जो पार ले जाए, जो अतिक्रमण कराये, जो तुम्हें तुमसे ऊपर देखने की सुविधा दे, वही प्रेम है।

तो, प्रेमी कभी बैठ के सितार सुनेंगे, या कभी गीत गाएँगे, या कभी नाचेंगे, या कभी खुले आकाश के नीचे लेटेंगे, या कभी सागर-तट पर घूमेंगे, कभी सागर के नाद को सुनेंगे! लेकिन प्रेमी, कामी नहीं!

प्रेमी का कुछ लक्ष्य है जो दोनों से पार है। लेकिन बार-बार उस लक्ष्य से वे अपने पे लौट आएँगे। भक्त कभी नहीं लौटता – गया सो गया! वह जब चाँद की तरफ गया तो गया, गया, गया, फिर नहीं लौटता। भक्त पीछे लौटना नहीं जानता। कामी तो कहीं जाता ही नहीं; प्रेमी जाता है, लौट-लौट आता है; भक्त गया सो गया।



काम ऐसे है जैसे पिंजरे में बंद पक्षी; कहीं जाता नहीं, वहीं पिंजरे में ही उछल-कूद करता रहता है, वहीं हलन-चलन करता रहता है। बस पिंजरा उसकी सीमा है।

प्रेम ऐसे है जैसे कबूतर उड़ते हैं आकाश में, फिर अपने घर में वापस लौट आते हैं। पिंजरों में बंद नहीं हैं। न लौटें तो कोई उन्हें बुलाता नहीं है; कोई पड़कने नहीं जा सकता, अपने से लौट आते हैं। घर के ऊपर एक छत्ता लगा दिया होता है। उड़ते हैं दूर आकाश में, बड़ी दूर की यात्रा करते हैं, थकते हैं, लौट आते हैं वापस। प्रेमी ऐसे पक्षी हैं जो पिंजरों में बंद नहीं हैं; जाते हैं दूर अपने से पार, लौट-लौट आते हैं। भक्त ऐसा पक्षी है जो गया सो गया; उसका लौटने को कोई घर नहीं है। उसका घर सदा आगे है – और आगे! वह जब तक परमात्मा तक ही न पहुँच जाए तब तक यात्रा जारी रहती है।

'भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न द्वेष करता है, न आसक्त होता है, और न उसे विषय-भोगों में उत्साह होता है।'

'यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति!'

'उस भक्ति को जान कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है, और आत्माराम हो जाता है।'

... उन्मत्त हो जाता है! पागल हो जाता है!

भक्ति अपूर्व उन्मत्तता है। आँखें सदा नशे से सरोबोर रहती हैं। मन सदा एक अपूर्व बेहोशी में डूबा होता है। जीवन साधारण गति नहीं रह जाती, नृत्य हो जाता है। जीवन से गद्य खो जाता है, पद्य का जन्म होता है। किसी और ही आयाम में प्रवेश हो जाता है।

'वह सिजदा क्या, रहे एहसास जिसमें सिर उठाने का
इबादत और बकदरे होश तौहीने इबादत है।'

भक्त का सिर झुकता है तो फिर उठता नहीं। साधारण लोगों को तो पागल मालूम पड़ेगा। साधारण लोग तो सिर झुकाते ही नहीं, सिर्फ दिखाते हैं कि सिर झुकाते हैं। दिखाते भर हैं! अहंकार तो अकड़ा खड़ा रहता है, शरीर ही कवायद करता है।

'वह सिजदा क्या, रहे एहसास जिसमें सिर उठाने का!'

लेकिन भक्त ऐसे पागल हैं कि वे इसी को सिजदा कहते हैं, इसी को सिर झुकाना कहते हैं कि जब यह खयाल ही न रह जाए कि अब सिर उठाना भी है!

झुका दिया, उसको उठाना क्या ! मिटा दिया, उसे वापस सम्हालना क्या !

'इबादत और बकदरे होश तौहीने इबादत है !'

और होश क्या बचाना ! जब डूबे तो डूबे ! होशियारी से कहीं कोई डूबता है ? हिसाब रख के कहीं कोई प्रेम में गया है ? गणित को तो छोड़ जाना पड़ता है पीछे। तर्क के तो पार जाना होता है। बुद्धि तो बेईमानी है, चालाकी है। बुद्धि तो कुशलता है, गणित है। प्रेम इस तरह के गणित को स्वीकार नहीं करता। फिर भक्ति की तो बात ही क्या !

प्रेम में भी गणित टूटने लगता है। प्रेम में भी दो और दो चार नहीं होते सदा, कभी पाँच हो जाते हैं, कभी तीन ही रह जाते हैं। प्रेम में हिसाब-किताब की दुनिया डाँवाँडोल हो जाती है।

भक्ति तो आखिरी शराब है; फिर उसके आगे और कोई नशा नहीं।

'वह सिजदा क्या, रहे एहसास जिसमें सिर उठाने का !'

'इबादत और बकदरे होश'... प्रार्थना और वह भी होश के साथ ! – तो भले आदमी, प्रार्थना करने ही क्यों गये ? दुकान ही चलाते। वहीं तुम्हारी पात्रता थी। जब प्रार्थना करने गये तो फिर क्या होश, क्या हिसाब ?

'इबादत और बकदरे होश तौहीने इबादत है !' फिर तो तुम प्रार्थना की बेइज्जती कर रहे हो, तौहीन कर रहे हो।

सुना है मैंने, एक फकीर दीवाना हो गया। घर के लोग समझे नहीं। मित्र, प्रियजन पहचाने नहीं। यह बीमारी न थी। यह, जो आदमियों की साधारण बीमारी है, उससे मुक्त हो जाना था। लेकिन, साधारण बीमारी को हम स्वास्थ्य समझते हैं। उन्होंने वैद्य को बुला लिया। वैद्य ने उसकी नब्ज की जाँच की। तो कहते हैं, उस फकीर ने कहा :

'चारागर ! मस्त की दुनिया है जमाने से जुदा।
होश में आ कि जहाँ हम हैं वहाँ होश नहीं।'

'होश में आ कि जहाँ हम हैं वहाँ होश नहीं।!'

कहा : 'वैद्य, मस्तों की दुनिया और ही दुनिया है। यह तू क्या कर रहा है ? होश में आ ! क्या नब्ज पकड़ रहा है ?'

मस्तों की एक और ही दुनिया है। दीवाने कुछ और ही आयाम में जीते हैं। उसे हम समझें कि वह आयाम क्या है।

तुम कहाँ जीते हो ? तुम वहाँ जीते हो जहाँ गणित है, हिसाब है, साफ-सुथरी रेखाएँ हैं। तुम ऐसे जीते हो जैसे कोई बगीचा बना लेता है, साफ-सुथरा ! भक्त ऐसे जीता है जैसे कोई जंगल में जीता है : कुछ साफ-सुथरा नहीं है; आदमी के हाथ की कोई छाप नहीं है, सिर्फ परमात्मा के हस्ताक्षर हैं। वह किसी नियम से नहीं जीता। क्योंकि जिसने प्रेम को पा लिया उसके लिए कोई नियम लागू नहीं होते; जरूरत नहीं रह जाती।



संत अगस्तीन को कोई पूछता था कि मुझे एक ही नियम बता दो। बहुत नियमों की बात मुझसे मत करो, मैं नासमझ हूँ। बहुत आज्ञाएँ मुझे मत दो, क्योंकि मैं भूल ही जाऊँगा। तुम मुझे एक ही सार की बात बता दो। मैं शास्त्रों को नहीं जानता हूँ।

आदमी बड़ा अनूठा था ! क्योंकि अपने अज्ञान को स्वीकार करने से बड़ी घटना इस जगत में और नहीं। मैं अज्ञानी हूँ, उसने कहा, मुझे तुम साधारण-सा सूत्र दे दो, जो मैं पाल लूँ, जो मुझे भूले न।

तो, अगस्तीन ने बहुत सोचा। अगस्तीन बोलने में कुशल आदमी था, लेकिन इस आदमी के सामने उसका बोलना खो गया। उसने बहुत सोचा। उसने कहा, 'फिर तुम एक काम करो। प्रेम, बस इतना ही याद रखो, फिर शेष सब अपने से हो जाएगा।'

तुम प्रेम करो – सब नियम पूरे हो जाते हैं। और तुम सब नियम पूरे करो और प्रेम को छोड़ दो, तो तुम सिर्फ धोखे में हो। बिना प्रेम के कोई नियम पूरा नहीं होता। बिना प्रेम के सारी नीति अनीति है और सारा आचरण सिर्फ दुराचरण को छिपाने की व्यवस्था है।

प्रेम के अतिरिक्त कोई आचरण नहीं। और जिसने प्रेम को पा लिया, उसके लिए आचरण के कोई नियम नहीं, कोई अनुशासन नहीं; उसने परम अनुशासन पा लिया !

'उस भक्ति को जान कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है।'

यह वर्णन है, यह व्याख्या है, परिभाषा नहीं। उस भक्ति के सम्बंध में कुछ खबरें दे रहे हैं।

... 'उन्मत्त हो जाता है !'

तुमने पागल को देखा है। पागल भी नियम छोड़ देता है, लोक-लाज छोड़ देता है, कुल-मर्यादा छोड़ देता है। पागल से हम आशा भी नहीं रखते। पागल और भक्त में थोड़ी-सी समानता है – थोड़ी-सी ! अन्तर बड़ा है, थोड़ी-सी समानता है ! पागल सामान्य जीवन से नीचे गिर जाता है, भक्त ऊपर उठ जाता है। दोनों सामान्य जीवन के पार हो जाते हैं – एक नीचे गिर के, दूसरा ऊपर उठ के। पार होने की समानता है।

इसलिए यह सूत्र है कि ध्यान रखना : भक्ति की पहचान उन्मत्तता है। हमने चैतन्य को नाचते देखा है। घर के लोग परेशान थे : पागल हो गया ! मीरा को हमने नाचते देखा है सड़कों पर। घर के लोग, प्रियजन, परिवार के लोग – और

मीरा शाही खानदान से थी – बड़े दुखी थे । मार डालने की भी चेष्टा की, क्योंकि यह बदनामी का कारण थी । यह राजघराने की महिला और राजस्थान में, जहाँ घूंघट के बाहर आना ही सम्भव न था, रास्तों पे नाचने लगी लोक-लाज खो कर ! सब्र मर्यादा, कुल-मर्यादा भूली !......पर मीरा पागल हो गयी है !

कहते हैं, मीरा एक मंदिर में गयी । उस मंदिर में रिवाज था कि कोई स्त्री प्रवेश न कर सकेगी ।

बहुत-से मंदिर स्त्रियों के लिए बंद रहे : डरपोकों ने बनाये होंगे, कायरों ने बनाये होंगे, व्यभिचारियों ने बनाये होंगे ।

उस मंदिर का जो पुजारी था, वह बाल-ब्रह्मचारी था । और दूर-दूर तक उसकी ख्याति थी । ख्याति उसकी यही थी कि स्त्रियों को वह देखता भी नहीं, मंदिर से बाहर निकलता नहीं । मीरा उस द्वार पे पहुँच गयी । कृष्ण का मंदिर था, वह नाचने लगी । वह भीतर प्रवेश करने लगी । उसे रोका गया । पुजारी घबड़ाया हुआ आया । उसने कहा कि सुनो, यहाँ स्त्रियों का प्रवेश नहीं है ।

मीरा ने गौर से उस पुजारी को देखा और उसने कहा, 'मैंने तो सोचा था कि एक ही पुरुष है । तो दो हैं पुरुष ? तुम भी एक पुरुष हो ? मैंने तो कृष्ण को ही जाना कि एक पुरुष है, बाकी तो सब प्रकृति है । पुरुष तो एक ही है, बाकी तो सब गोपियाँ हैं । और कृष्ण के मंदिर में इतने दिन रह के तुम क्या करते रहे ? अभी भी तुम पुरुष हो ? तुम्हें मेरी 'स्त्री' दिखायी पड़ती है, लेकिन मुझे तुम्हारा 'पुरुष' दिखायी नहीं पड़ता । रास्ता दो !'

उस दिन जैसे किसी ने नींद से जगाया उस पुजारी को ! रास्ता दे दिया । आँखें आँसुओं से भर गयीं, पश्चाताप से भर गयीं । यह अब तक का समय व्यर्थ गँवाया !......किसको रोक रहा था ?

अब मीरा क्या लोक-लाज रखे, उसे कोई पुरुष दिखायी नहीं पड़ता । तो घूंघट सरक गया है, कपड़ों का हिसाब नहीं रहा है, रास्तों पे नाच रही है !

भक्त उन्मत्त हो जाता है – होगा ही ।

ऐसा समझो कि छोटी प्याली में सागर समा जाए तो प्याली पागल न होगी तो और क्या होगी ? बूंद में सागर उतर आये तो बूंद कहाँ हिसाब रख पाएगी, और बूंदों की दुनिया के नियम कैसे बचेंगे ? फिर तो सागर की उन्मत्तता होगी । फिर तो सागर की उन्मत्त लहरें होंगी । फिर बूंद चीखे-चिल्लाये और कहे कि मेरे तो नियम और व्यवस्था थी, वह सब टूटी जा रही है ... वह टूटेगी ही ।

जब भक्त के जीवन में परमात्मा उतरता है, जब भक्त जगह देता है, द्वार देता है, हटता है मार्ग से और परमात्मा को उतरने देता है, तब एक आँधी आती है, तब एक तूफान उठता है, फिर जो कभी जाता नहीं । फिर भक्त किसी



और ही जगत में जीता है । फिर जीता नहीं अपनी तरफ से, परमात्मा ही उसमें जीता है ।

'मुहब्बत में गिराँ पा हो न इतना खौफे-रहजन से
जो इस रस्ते में लुट जाएँ बड़ी तकदीर वाले हैं ।'

लुटेरों से घबड़ाओ मत प्रेम के मार्ग पर – लुटेरे सहयोगी हैं ।

'जो इस रस्ते में लुट जाएँ बड़ी तकदीर वाले हैं !'

'हम उसे देखा किये जब तक हमें गफलत रही
पड़ गया आँखों पे परदा होश आ जाने के बाद ।'

'हम उसे देखा किये जब तक हमें गफलत रही'–जब तक हम बेहोश रहे, तब तक उसे देखा किये ।

'पड़ गया आँखों पे परदा होश आ जाने के बाद –' और जैसे ही होश आया, गणित की दुनिया वापस लौटी, आँख पे परदा पड़ गया ।

उन्मत्तता पहला लक्षण है ।

'भक्त स्तब्ध हो जाता है !' अवाक् ! ठिठक जाता है ! अब तक जो गति थी, सब रुक जाती है । अब तक जो जाना था, सब व्यर्थ हो जाता है । अब तक जिसको जीवन पहचाना था, तो वह अचानक मृत्यु जैसा हो जाता है । अब तक जो था, सब गिर जाता है, बिखर जाता है; जैसे ताश के पत्तों का घर बनाया था; या जैसे कागज की नांव में सागर के पार जाने की आकाँक्षा सँजोयी थी ! सब ठिठक जाता है, सब गिर जाता है ! अवाक् ! श्वास भी जैसे रुक जाए ! चुप हो जाता है । बोल खो जाता है । बोली बंद हो जाती है । समय लगता है वापस बोली की दुनिया को लौटने में । वापस बोलने की योग्यता जुटाने में समय लगता है ।

बुद्ध को ज्ञान हुआ, सात दिन तक चुप बैठे रहे, सात दिन तक अवाक् ! सब ठहर गया, ठिठक गया ! देव घबड़ा गये । देवताओं में परेशानी हो गयी कि कहीं बुद्ध चुप ही न रह जाएँ । जब भी कोई बुद्धत्व को उपलब्ध होता है तभी यह सम्भावना है कि कहीं वह चुप ही न रह जाए; क्योंकि घटना इतनी बड़ी है । कहीं बोल सदा के लिए न खो जाए, कहीं स्तब्धता उसकी जीवन की व्यवस्था न बन जाए ! तो कहते हैं, ब्रह्मा और देवता बुद्ध के चरणों में आये, प्रार्थना की कि आप बोलें । आप कुछ भी बोलें । और रुकना खतरनाक है ।

सदियों तक हम प्रतीक्षा करते हैं कि कोई बुद्धत्व को उपलब्ध हो तो खबर लाये उस लोक की । देवता भी तरसते हैं, आदमी ही नहीं ।

'अल्लाह ! अल्लाह ! मंजरे बर्के जमाल
देखती है आँख, लब खामोश है ।'

आँख तो देखती है, ओंठ चुप हो जाते हैं। आँख तो पहचानती है, ओंठ बोल नहीं पाते हैं।

'है ऐसी ही बात जो चुप हूँ
वर्ना क्या बात कहनी नहीं आती!'

स्तब्धता!

इसे थोड़ा समझें।

योगी मौन साधता है, भक्त को मौन आता है। योगी स्तब्ध होने की चेष्टा करता है, भक्त के ऊपर स्तब्धता बरसती है। योगी को जो चेष्टा से मिलता है, भक्त को निश्चेष्ट प्रसादरूप मिलता है। योगी जो उपाय कर-करके पाता है, भक्त सिर्फ प्रेम में अपने को खो के पा लेता है।

'जिस भक्ति को जान कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध, शांत हो जाता है, और आत्माराम हो जाता है।'

आत्माराम शब्द समझने जैसा है।

अब राम और आत्मा में फासला नहीं रह जाता, इसलिए एक शब्द बनाया: आत्माराम! अब यह कहना ठीक नहीं कि आत्मा है, अब यह कहना ठीक नहीं कि राम है; अब कुछ ऐसा है जिसमें दोनों हैं और दोनों अलग नहीं हैं, जुदा नहीं हैं —आत्माराम!

'उनसे मिल कर मैं उन्हीं में खो गया
और जो कुछ है, वह आगे राज़ है।'

उसके आगे फिर कुछ कहा नहीं जा सकता। फिर वह रहस्य की बात है, राज़ है।

'वाक़्या यह दोनों आलम में रहेगा यादगार
ज़िंदगानी मैंने हासिल की है मर जाने के बाद।'

दोनों लोकों में यह बात याद रहेगी।

'वाक़्या यह दोनों आलम में रहेगा यादगार
ज़िंदगानी मैंने हासिल की है मर जाने के बाद।'

जिन्होंने भी पायी ज़िंदगी, मर के ही पायी। जो मरने से डरते रहे, वे चूकते ही चले गये।

दो तरह की मौत है: एक जो अपने से आती है और एक जो तुम स्वीकार कर लेते हो, जो तुम बुला लेते हो। मौत तो अपने से बहुत बार आयी है और तुम मरे हो, फिर-फिर पैदा हुए हो; जिस दिन तुम मौत को अपने हाथ से स्वीकार कर लोगे, स्वेच्छया, उसी दिन मृत्यु समाधि बन जाती है।

जीसस ने कहा है: 'बचाओगे अपने को, मिटा जाओगे। मिटा दो—बचाने का बस एक ही उपाय है।'



'ज़िंदगानी मैंने हासिल की है मर जाने के बाद!'

जैसे ही तुम मिटे कि परमात्मा हुआ!

मेरे पास लोग आते हैं, वे पूछते हैं कि हम परमात्मा को कैसे खोजें। मैं कहता हूँ: तुम कृपा करके मत खोजना, नहीं तो परमात्मा बचता ही चला जाएगा। तुम जहाँ-जहाँ जाओगे, उसे न पाओगे। क्योंकि तुम्हारी मौजूदगी ही तुम्हारी आँख पे परदा है। परमात्मा नहीं छिपा है। यह तो बात ही मत पूछो कि परमात्मा को कहाँ खोजें। इतना ही पूछो कि मेरी आँख पे परदा क्या है कि जो है और दिखायी नहीं पड़ता है। तुम छुपे हो अपने ही परदे में, अपनी ही आड़ में। परमात्मा कहीं खो नहीं गया है। परमात्मा खो नहीं सकता।

एक छोटे स्कूल में एक शिक्षक ने बच्चों से पूछा, 'हाथी कहाँ पाये जाते हैं?' एक छोटी लड़की ने खड़े हो के कहा, 'हाथी, पहली बात, खोते ही नहीं। इतने बड़े होते हैं, तो खोएँगे कहाँ? पाने का सवाल नहीं है।'

परमात्मा कैसे खो जाएगा? वही सब कुछ है। उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। तुमने कैसे खोया है—यह पूछो। यह मत पूछो कि परमात्मा कैसे खो गया है।

'तजाहुल से मेरे नामोनिशां के पूछने वाले
वहीं रहता हूँ मैं अब तक जहाँ ढूंढा नहीं तूने।'

अपने भीतर भर हम नहीं ढूंढते। क्योंकि अपने भीतर ढूंढने का एक ही उपाय है: अहंकार मरे तो तुम अपने भीतर जाओ। अहंकार द्वार पे खड़ा है, अटकाता है। वह तुम्हें भीतर नहीं जाने देता। अहंकार की पर्त पिघले तो तुम अपने भीतर जाओ। 'मैं' मिटे तो तुम जानो कि तुम कौन हो।

'वहीं रहता हूँ मैं अब तक जहाँ ढूंढा नहीं तूने!'

जैसे ही तुम छोड़ते हो 'मैं', छोड़ते हो 'तू', 'मैं-तू' का जाल और मैं-तू' का भेद मिटता है—एक अभेद की रोशनी, एक अभेद का प्रकाश, जहाँ न कोई सीमा है, न जहाँ कोई अलग-अलग है, जहाँ एक का ही विस्तार है ...!

हम लहरें हैं उस सागर की। थोड़ा भीतर झाँकें, सागर हमारे भीतर है। हर लहर के भीतर सागर है। लेकिन लहरें बड़े अहंकार पे चढ़ गयीं हैं। उन्हें यह बात ही समझ में नहीं आती कि अपने भीतर झाँकने से उसका पता चल सकता है, जिससे हम पैदा हुए हैं और जिसमें हम खो जाएँगे।

भक्ति मृत्यु की कला है। भक्ति परमात्मा को खोजने की कला नहीं है, अपने को खोने की कला है।

मुझे फिर दोहराने दें। भक्ति परमात्मा को खोजने की कला नहीं, अपने को खोने की कला है। खोजने में तो अहंकार बना ही रहता है, खोजने वाला बना रहता है। खोना है अपने को। और जिसने अपने को खोया उसने उसे पाया। अपने

भीतर ही नहीं फिर, फिर सब तरफ वही मालूम पड़ता है। फिर हर पत्ती में उसी की हरियाली है। हर हवा के झोंके में उसी की ताज़गी है। चाँद-तारों में वही तुम्हारी तरफ झाँकता है। और तुम्हारे भीतर भी वही चाँद-तारों की तरफ झाँकता है।

एक बार परदा हटे –

'सुबह फूटी तो आसमां पे तेरे
रंगे रुख्सार की फुहार गिरी।
रात छायी तो रू-ए आलम पर
तेरी ज़ुल्फों की आबशार गिरी।'

उसी की ज़ुल्फें हैं रात, ढाँक लेती हैं गहरे अँधेरे में तुम्हें। उसी का रंग-रूप है! उसी की बहार है! उसी के गीत हैं! उसी की हरियाली है! उसी का जन्म है, उसी की मृत्यु है! तुमने व्यर्थ ही अपने को बीच में खड़ा कर लिया है।

अपने को बीच में खड़ा करने के कारण परमात्मा खो गया है। और परमात्मा को तुम जब तक न जान लो, तब तक तुम अपनी ऊँचाई और अपनी गहराई से वंचित रहोगे।

परमात्मा यानी तुम्हारी आखिरी ऊँचाई! परमात्मा यानी तुम्हारी आखिरी गहराई! जब तक तुम उसे न जान लो, तब तक तुम अपनी ही ऊँचाई और गहराई से वंचित रहोगे।

उस मनुष्य से ज्यादा दरिद्र और कोई भी नहीं जिस मनुष्य के जीवन से परमात्मा का भाव खो गया; जिसके जीवन में परमात्मा की तरफ उठने की आकाँक्षा खो गयी है। जो आदमी होने से तृप्त हो गया, उस आदमी से दरिद्र और कोई भी नहीं।

नीत्से ने कहा है: अभागे होंगे वे दिन जब आदमी की प्रत्यंचा पर परमात्मा की तरफ जाने का तीर न चढ़ेगा।

पर बहुत-से ऐसे लोग हैं जिनकी प्रत्यंचा पर परमात्मा की तरफ जाने वाला तीर कभी भी नहीं चढ़ता। तब वे छिछले रह जाते हैं। तब वे उथले रह जाते हैं। तब उन्हें पता नहीं चल पाता कि जो गहराई बिलकुल उनके ही पैरों के नीचे छिपी थी, और सदा उपलब्ध थी, बस ज़रा डूबने की बात थी; और जो ऊँचाई सदा उनके ही सिर पर थी, आसमां की तरह फैली थी, ज़रा आँखें ऊपर उठाने की बात थी – वे भूल ही जाते हैं।

आदमी ही हो जाने से तृप्त मत हो जाना। उससे बड़ा कोई दुर्भाग्य नहीं है।

'खयाल जिसमें है, पर तब जमाल का तेरे
उस एक खयाल की रफ़अत किसी को क्या मालूम!'



और जिसके हृदय में तेरे सौंदर्य का एक छोटा-सा खयाल भी है, परमात्मा के अनंत सौंदर्य का थोड़ा-सा खयाल भी है...।

'खयाल जिसमें है पर तब जमाल का तेरे
उस एक खयाल की रफ़अत किसी को क्या मालूम!'

उस एक छोटे-से विचार की गहराई किसी को क्या मालूम!

परमात्मा के खयाल की गहराई और ऊँचाई – वही तुम्हारा विस्तार है, वही तुम्हारा विकास है।

इस सदी की सबसे बड़ी तकलीफ यही है कि उसके सौंदर्य का बोध खो गया है। और हम लाख उपाय करते हैं सिद्ध करने के कि वह नहीं है। और हमें पता नहीं कि जितना हम सिद्ध कर लेते हैं कि वह नहीं है, उतना ही हम अपनी ही ऊँचाइयों और गहराइयों से वंचित हुए जा रहे हैं।

परमात्मा को भुलाने का अर्थ अपने को भुलाना है। परमात्मा को भूल जाने का अर्थ अपने को भटका लेना है। फिर दिशा खो जाती है। फिर तुम कहीं पहुँचते मालूम नहीं पड़ते। फिर तुम कोल्हू के बैल हो जाते हो, चक्कर लगाते रहते हो।

आँखें खोलो! थोड़ा हृदय को अपने से ऊपर जाने की सुविधा दो। काम को प्रेम बनाओ। प्रेम को भक्ति बनने दो।

परमात्मा से पहले तृप्त होना ही मत।

पीड़ा होगी बहुत। विरह होगा बहुत। बहुत आँसू पड़ेंगे मार्ग में। पर घबड़ाना मत। क्योंकि जो मिलने वाला है उसका कोई भी मूल्य नहीं है। हम कुछ भी करें, जिस दिन मिलेगा उस दिन हम जानेंगे, जो हमने किया था वह ना-कुछ था।

तुम्हारे एक-एक आँसू पर हज़ार-हज़ार फूल खिलेंगे। और तुम्हारी एक-एक पीड़ा हज़ार-हज़ार मंदिरों का द्वार बन जाएगी। घबड़ाना मत। जहाँ भक्तों के पैर पड़ें, वहाँ काबा बन जाते हैं।

आज इतना ही।

## दूसरा प्रवचन

दिनांक १२ जनवरी, १९७६; श्री रजनीश आश्रम, पूना

# स्वयं को मिटाने की कला है भक्ति

पहला प्रश्न : 'अयातो', 'अब' का मोड़-बिन्दु हम सामान्य सांसारिक जनों के जीवन में कब आ पाता है? कृपा कर समझाएँ।

पहली बात कि सामान्य कोई भी नहीं है। यदि तुम सामान्य होते तो फिर 'अयातो' का बिन्दु कभी भी न आ पाता।

सामान्य कोई भी नहीं है, क्योंकि परमात्मा छिपा बैठा है। और परमात्मा से ज्यादा असामान्य क्या होगा?

असाधारण हो तुम। तुमने समझा होगा, कंकड़-पत्थर हो। कंकड़-पत्थर तुम नहीं हो। कंकड़-पत्थर हैं ही नहीं अस्तित्व में। अस्तित्व केवल हीरों से बना है।

इसलिए पहली तो इस भ्रांति को अपने मन में जगह मत देना कि तुम सामान्य हो। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि अहंकार को आरोपित करना। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि अपने को दूसरों से असामान्य समझना। मैं यह कह रहा हूँ कि असामान्य होना जगत का स्वभाव है। तुम असामान्य हो, ऐसा नहीं; यहाँ सभी कुछ असामान्य है। यहाँ सामान्य होने की सुविधा ही नहीं है।

और इस विरोधाभास को ठीक से समझना : क्योंकि तुमने अपने को सामान्य समझ रखा है, इसलिए तुम असामान्य होने की बड़ी चेष्टा करते हो – धन से, पद से, प्रतिष्ठा से।

अहंकार की खोज ही यही है कि मान तो लिया है तुमने कि तुम सामान्य हो – और सामान्य होने में पीड़ा होती है, चुभता है काँटा, मन राज़ी नहीं होता – तो तुम असामान्य होने का ढोंग करते हो; जबकि मजा यह है कि तुम असामान्य हो, इसके ढोंग की कोई भी ज़रूरत नहीं। इसलिए जिन्होंने यह जान लिया कि असामान्य हैं, वे तो अहंकार को छोड़ ही देते हैं तत्क्षण। अब जरूरत ही न रही।

ऐसा समझो कि हीरा है, और हीरे ने समझ रखा है कि कंकड़-पत्थर है : कंकड़-पत्थर समझ रखा है, इसलिए अपने को सजाता है कि हीरा दिखायी पड़े। कंकड़-पत्थर होने को कौन राज़ी! है तो हीरा अपने को कंकड़-पत्थर मान के सजाता है, रंग-रोगन करता है कि कोई जान न ले कि मैं कंकड़-पत्थर हूँ। लेकिन

जिस दिन यह पहचान पाएगा कि मैं हीरा था ही, उसी दिन कंकड़ होने की भ्रांति भी मिट जाएगी और स्वयं को सजाने की आकांक्षा भी मिट जाएगी। वह कंकड़-पत्थर की भ्रांति की ही छाया थी। उस दिन विनम्रता का जन्म होता है।

जिस दिन तुम जानते हो कि तुम असामान्य हो, उसी दिन असामान्य होने की दौड़ मिट जाती है; जिस दिन तुम जान लेते हो कि तुम असाधारण हो ... क्योंकि अन्यथा होने का उपाय नहीं।

परमात्मा के हस्ताक्षर हैं तुम पर।
रोएँ-रोएँ पर उसका गीत लिखा है।
रोएँ-रोएँ पर उसके हाथों के चिह्न हैं।
क्योंकि उसने ही तुम्हें बनाया है।
वही तुम्हारी धड़कनों में है।
वही तुम्हारी श्वास में है।

सामान्य तुम नहीं हो। अगर सामान्य होते तो धर्म का फिर कोई उपाय नहीं। फिर 'अयातो' का बिन्दु कभी आएगा ही नहीं। अगर तुम सामान्य ही होते तो कैसे परमात्मा की ज्योति तुममें प्रज्वलित होगी? तब कैसे तुम जागोगे और कैसे तुम बुद्ध बनोगे? असम्भव है फिर।

नहीं, तुम बन पाते हो बुद्ध, तुम जागते हो, तुम समाधिस्थ हो पाते हो – क्योंकि वह तुम्हारा स्वभाव है। जब तुम नहीं जानते थे तब भी तुम वही थे। जानने-भर का फर्क पड़ता है; अस्तित्व तो सदा एकरस है। कोई जान लेता है, कोई बिना जाने जिये जाता है। ज्ञान और अज्ञान का ही भेद है। अस्तित्व में ज़रा भी भेद नहीं है। तुममें और बुद्ध में रत्ती-भर भेद नहीं है, जहाँ तक अस्तित्व का सम्बंध है। लेकिन बुद्ध ने लौट के अपने को देख लिया, तुमने लौट के अपने को नहीं देखा। तुम भिखारी बने हो, बुद्ध सम्राट हो गये हैं।

जिसने अपने को लौट के देख लिया, वह सम्राट हो गया। सम्राट तो सभी थे: कुछ को याद आ गयी, खबर आ गयी, सुराग मिल गया; कुछ को खबर ही न मिली; कुछ भिखारी ही बने हुए सम्राट बनने की चेष्टा में लगे रहे।

तुम जो बनने की चेष्टा कर रहे हो, वह तुम हो। यही तो संदेश है सारे धर्म का।

तुम जिसे खोज रहे हो उसे तुमने कभी खोया नहीं, केवल विस्मरण किया है।

इस पूरे अस्तित्व में मैंने अब तक कोई ऐसी चीज नहीं देखी जो सामान्य हो। घास का पत्ता भी उसी के रंगों से लबालब भरा है! कंकड़-पत्थरों में भी वही सोया है। जागने वालों में वही जागता है, सोने वालों में वही सोता है। बुद्धिमानों में वही बुद्धिमान है, अज्ञानियों में वही अज्ञानी है।



इसलिए सामान्य होने का तो कोई उपाय नहीं है। ज़रा गौर से किसी की भी आँखों में झाँकना, या दर्पण के सामने खड़े हो कर अपनी ही आँखों में झाँकना – और तुम पाओगे कि कोई और झाँक रहा है तुम्हारे भीतर से।

तुम तुमसे ज्यादा हो। तुम तुम पर ही समाप्त नहीं। तुम तो केवल सीमा हो तुम्हारे अस्तित्व की। अभी गहरे तुम गये ही नहीं, डुबकी लगायी ही नहीं।

इसलिए पहली बात – सामान्य मानने की भ्रांति में मत पड़ जाना। इसलिए तो उपनिषद कहते हैं: 'तत्त्वमसि श्वेतकेतु! तू वही है श्वेतकेतु।'

जिन्होंने जाना, वे घोषणा करते हैं: 'अहं ब्रह्मास्मि! मैं वही हूँ! मैं ब्रह्म हूँ!'

ये उद्घोषणाएँ अहंकार की नहीं हैं। ये उद्घोषणाएँ स्वभाव की हैं। ऐसा है। ऐसा तथ्य है। इसे झुठलाने का कोई उपाय नहीं है। इसे तुम कितना ही भुलाओ, एक-न-एक दिन तुम्हें लौट कर अपने घर आ ही जाना पड़ेगा।

तो, यह तो पहली बात – सामान्य मत मान लेना। क्योंकि जो तुम मान लिये कि सामान्य हो तो खोज बंद हो गयी। तुमने स्वीकार कर लिया कि तुम मात्र मनुष्य हो, कुछ और ज्यादा नहीं, तो और ज्यादा होने का द्वार बंद हो गया, संभावना अवरुद्ध हो गयी।

गंगोत्री पर गंगा कितनी दीन-हीन है! कितनी क्षीणकाय है! बस ज़रा-सी धार है। गोमुख से गिर जाती है। अगर गंगोत्री पर ही अपने को मान ले कि बस, यही हूँ, तो कभी की सूख जाएगी, कभी भी खो जाएगी किन्हीं भी रेगिस्तानों में। लेकिन गंगोत्री पर जो छोटी-सी गंगा है, बढ़ती जाती है, बड़ी होती जाती है, सागर से मिलती है तो सागर हो जाती है।

तुम अभी गंगोत्री पर हो सकते हो, लेकिन हो गंगा ही। सागर अभी दूर हो ... ऐसा तुम्हारी नासमझी में दिखायी पड़ता है। और जब मैं तुममें झाँकता हूँ तो तुम्हारे भविष्य को भी तुम्हारे पीछे ही खड़ा हुआ पाता हूँ। जब मैं तुममें झाँकता हूँ तो तुम्हारे बीज में मैं उन फूलों को खिलते हुए देखता हूँ जिनको तुम कभी खिलते हुए देखोगे।

मेरे लिए तुम परमात्मा हो, उससे कम कोई भी नहीं। उससे कम कोई हो ही नहीं सकता। इसलिए सामान्य की भ्रांति में मत पड़ जाना।

दूसरी बात:

'अथातो' का बिन्दु, 'अब' का क्रांति-बिन्दु, तभी आता है जब तुम जीवन के दुख और पीड़ा को सजग हो के भोगने लगते हो।

अभी भी तुमने बहुत पीड़ा भोगी है, लेकिन सोये-सोये। पीड़ा तो भोगी है,

लेकिन इस आशा में कि शायद सुख मिल जाएगा, शायद सुख आता ही होगा ! आज दुखी हो, कोई चिंता नहीं ! किसी तरह बिता लो आज को, बस ज़रा-सी समय की बात है, कल सब ठीक हो जाएगा ! थोड़ी ही देर की पीड़ा है, कल सब ठीक हो जाएगा ! ऐसी आशा में तुम जिये हो । उसी आशा में छिप के तुम्हारी पीड़ा का दर्शन तुम्हें नहीं हो पाया । तुमने उसे ओट में छिपा रखा है ।

इन परदों को हटाओ ।

न कोई कल है, न कोई कल कभी आएगा – बस, आज है, अभी और यहीं ! कल के लिए मत बैठे रहो ।

यह 'कल' आज को भुलाने की तरकीब है ।

फिर 'कल' के बहुत रूप हैं ।

धन इकट्ठा करनेवाला अभी तो जीवन को गँवाता है, सोचता है : 'कल जब धन इकट्ठा हो जाएगा तब भोग लूँगा सारे सुख ।'

यश की आकांक्षा में दौड़ने वाला सोचता है : 'अभी कैसे ? अभी तो दाँव पर लगाना है सब । जब यश मिल जाएगा भोग लूँगा ।'

वह यश कभी नहीं मिलता । कोई सिकन्दर कभी जीत नहीं पाता । यश की दौड़ अधूरी रह जाती है । धन कभी इतना नहीं हो पाता कि तुम्हारी गरीबी को मिटा दे । इतना हो ही नहीं पाता । ऐसा कभी हो ही नहीं सकता कि धन इतना हो जाए कि तुम्हारी गरीबी मिट जाए । क्योंकि गरीबी एक दृष्टिकोण है; धन से उसके मिटने न मिटने का कोई सवाल नहीं, कोई सम्बंध नहीं । जितना धन होगा, उतने ही तुम आगे की आकांक्षा, आशा से भर जाओगे ।

तुम्हारी आशा सदा छलाँग लगाती है – तुमसे आगे ! वह हमेशा कल पे खड़ी रहती है । तुम यहाँ, तुम्हारी आशा सदा कल है । लाख होता है तो दस लाख माँगती है । दस लाख होते हैं तो करोड़ माँगती है । करोड़ होते हैं तो दस करोड़ माँगती है । वह सदा तुमसे आगे छलाँग लगा लेती है । तुम उसे कभी भी न पकड़ पाओगे । उसे पकड़ने का कोई उपाय नहीं । लेकिन तुम आज को गँवा दोगे । अभिलाषा को तो कभी तुम पूरा न कर पाओगे, लेकिन आज को गँवा दोगे, जो कि अस्तित्व का सार है ।

पीड़ा है तो पीड़ा को देखो । पीड़ा को भोगो, कल से झुठलाओ मत । समझाओ मत । कल के नाम की शामक दवाएँ ले के सो जाओ मत । आज जागो ! पीड़ा है तो पीड़ा सही । भोगो उसे । काँटा है तो चुभने दो । क्योंकि वही चुभन तुम्हें जगाएगी । उसी पीड़ा से तुम उठोगे । उसी पीड़ा में तुम देखोगे कि तुम्हारा जीवन कुछ गलत ढाँचे पे दौड़ता है । अब तक तुमने जो भी किया है, कहीं बुनियादी भूल हो गयी है । तुमने अब तक जो भी किया है, परमात्मा को छोड़ कर किया



है, बाद दे कर किया है । अब तक तुमने जो भी किया है, उसमें परमात्मा की कोई जगह नहीं है ।

कहते हैं, गैलिलिओ ने सृष्टि-शास्त्र पर एक किताब लिखी, और अपने एक मित्र को दिखाने ले गया । मित्र आस्तिक था । उसने पूरी किताब देख ली, उसमें ईश्वर का कहीं उल्लेख ही न था । सृष्टि-शास्त्र, और स्रष्टा का कोई उल्लेख न था ! वैज्ञानिक करते ही नहीं उल्लेख । उसको कोई ज़रूरत नहीं मालूम होती ।

मित्र ने पूछा, 'और सब ठीक है, व्यवस्थित है, तर्कबद्ध है, समझ में आता है; लेकिन ज़रा खाली जगह मालूम पड़ती है । ईश्वर का कोई उल्लेख ही नहीं, एक बार भी नहीं ! इनकार करने के लिए भी नहीं कि कह देते कि ईश्वर नहीं है । इतना भी नहीं । ईश्वर के बिना सृष्टि थोड़ी अधूरी मालूम पड़ती है ।'

गैलिलिओ ने कहा, 'नहीं, उसकी कोई ज़रूरत ही नहीं । क्योंकि उसके बिना ही मैं सब समझा दिया हूँ । उस हाइपोथीसिस की, ईश्वर की परिकल्पना का मुझे कोई प्रयोजन नहीं है ।' कोई चीज़ पूछ लो मुझसे, अगर अनसमझायी रह गयी हो ।'

गैलिलिओ ने जैसे सृष्टि-शास्त्र की रचना की, ऐसे ही तुमने अपने जीवन को बनाया है, उसमें ईश्वर के लिए कोई जगह नहीं । उसी खाली जगह में पीड़ा का जन्म होता है । परमात्मा का जो मंदिर है, अगर खाली रहा तो वहीं से पीड़ा का आविर्भाव होता है।

इसे थोड़ा समझने की कोशिश करना ।

पीड़ा तब तक रहेगी जब तक तुम्हारे जीवन में परमात्मा की ज्योति जलती नहीं । पीड़ा परमात्मा का अभाव है । जहाँ परमात्मा होना चाहिए और नहीं है, वहीं पीड़ा है ।

तो, कब तुम्हारे जीवन में 'अथातो' की क्रांति आएगी ? कब तुम कहोगे, 'अब भक्ति की खोज' ... ?

तुम कहोगे तभी जब तुम पाओगे कि अब तक जीवन की जो सार-सम्पदा समझी थी, वह सिवाय पीड़ा के निचोड़ के और कुछ भी नहीं । जिसे तुमने प्रेम जाना, वह प्रेम न था । जिसे तुमने धन जाना वह धन न था । जिसे तुमने 'स्वयं' जाना वह 'स्वयं' न था । तुम्हारा सारा आधार ही गलत है ।

अहंकार को तुमने जाना 'स्वयं' । वह तुम न थे । वह पहचान भ्रांत थी । बाहर के धन को तुमने जाना धन, वह धन न था । जो खो जाए वह धन है ? मौत जिसे छीन ले वह धन है ?

ज्ञानी तुम्हारी सम्पदा को विपदा कहते हैं, तुम्हारी सम्पत्ति को विपत्ति कहते हैं ।

सम्पत्ति तो वही है जो मौत भी न छीन पाये । सम्पत्ति तो वही है जो कोई

भी न छीन पाये, जिसकी चोरी न हो सके, जिसे लुटेरे न ले सकें। मौत जिसके सामने हार जाए वही सम्पत्ति है।

तुमने सुना होगा : मित्र तो वही है जो विपत्ति में काम आ जाए। वह सम्पत्ति की परिभाषा है। सम्पत्ति तो वही है जो विपत्ति में काम आ जाए। और मौत से बड़ी विपत्ति कहाँ है! वहीं कसौटी है। मौत के द्वार से भी जो चली जाए, नाचती हुई, वही सम्पत्ति है।

जिसे तुमने धन समझा वह धन नहीं है; वह भीतर की निर्धनता को भुलाने का उपाय है।

जिसे तुमने अहंकार समझा वह तुम नहीं हो; वह अपने-आप को ढाँक लेने की तरकीब है, अपने अज्ञान को झुठला लेने की तरकीब है।

जिसको तुमने पद समझा वह तुम नहीं हो। जिसको तुमने पद समझा वह तुम्हें तृप्ति न देगा; तुम और और अतृप्त होते चले जाओगे।

पद तो वही है जहाँ विश्राम आ जाए। पद का अर्थ ही होता है : जिस पे विश्राम आ जाए; जिस जगह बैठ के विश्राम आ जाए, राहत मिले; जिस जगह बैठ कर यात्रा समाप्त हो जाए; पैरों को चलने की अब और ज़रूरत न रह जाए।

जहाँ पद अनावश्यक हो जाएँ वही जगह पद है, वहीं पहुँच गये; अब कोई ज़रूरत नहीं कहीं जाने की।

लेकिन ऐसा कोई पद तुमने बाहर जाना है जहाँ पहुँच के जाने की यात्रा समाप्त हो जाए? बाहर ऐसा कोई भी पद नहीं है। सारे संसार को जीतने वाले सम्राट भी आकांक्षा से वैसे ही विह्वल होते हैं जैसे सड़क के किनारे पड़ा हुआ भिखारी। ज़रा भी भेद नहीं है।

मैंने सुना है, जापान का एक सम्राट रात को घोड़े पर सवार हो कर अपनी राजधानी में चक्कर लगाता था रोज। अनेक बार उसने एक फकीर को देखा, अनेक बार! रात के किसी भी पहर में वह गया, उसने उसे सदा जागते हुए देखा, वृक्ष के नीचे कभी खड़ा, कभी बैठा, लेकिन सदा जागा हुआ।

सम्राट की उत्सुकता बढ़ी कि वह सोता क्यों नहीं! पूछा एक दिन, न रुक सका। पूछा कि उत्सुकता है, उचित तो नहीं, क्योंकि तुम्हारा काम है, तुम जागो-सोओ, मेरा क्या लेना-देना; लेकिन रोज यहाँ से निकलता हूँ तो मन में जिज्ञासा घनी होती चली गयी है : क्यों जागते हो?

तो उस फकीर ने कहा, 'कुछ सम्हाल रहा हूँ। कुछ मिल गया है, उसकी रक्षा कर रहा हूँ।'

सम्राट ने चारों तरफ देखा फकीर के, वहाँ तो कुछ भी नहीं है; एक भिक्षा-पात्र पड़ा है टूटा-फूटा, कुछ चीथड़े कपड़े पड़े हैं। फकीर हँसने लगा, उसने कहा,



'वहाँ मत देखो, मेरे भीतर देखो। जो मिला है वह भीतर है, वह खो न जाए! जागने में ही उसकी रक्षा है। सोने में उसका खो जाना है। मूर्च्छा में फिर भूल जाऊँगा। होश रखना है!'

सम्राट ने कहा, 'मुझे तो कुछ दिखायी नहीं पड़ता।'

सम्राट की अपनी भाषा है; जो बाहर है, वही उसकी भाषा है। फकीर की अपनी भाषा है; जो भीतर है, वही उसका जगत है। वे अलग यात्रा पर हैं।

सम्राट ने कहा, 'तो किसी सम्पत्ति की रक्षा कर रहे हो? तो फिर मुझमें और तुममें फर्क क्या है?'

फकीर ने कहा, 'फर्क ज्यादा नहीं है, थोड़ा ही है – फिर भी है। फर्क इतना है कि तुम बाहर से अमीर हो, मैं बाहर से गरीब हूँ; मैं भीतर से अमीर हूँ, तुम भीतर से गरीब हो। फर्क इतना ही है। मैं भी गरीब हूँ, मैं भी अमीर हूँ; तुम भी गरीब हो, तुम भी अमीर हो – इसलिए ज्यादा फर्क नहीं कह सकता; लेकिन तुम बाहर से अमीर हो, मैं भीतर से अमीर हूँ। मौत बताएगी। ... मौत ही कसौटी होगी।'

अगर तुम जीवन में झाँको अपने और बचते न रहो अपने से ... जैसा मैं देखता हूँ, तुम बचते हो; तुम तरकीबें निकालते हो किसी तरह अपने से बचने की; किसी तरह अपने से मुलाकात न हो जाए। हज़ार ढंग करते हो : कभी शराब पीते हो, कभी सिनेमा जाते हो, कभी भजन-कीर्तन भी करते हो – मगर अपने को भुलाने को। कहीं भी डूब जाओ, किसी तरह अपनी याद न आये! इसलिए तुम्हारा भजन-कीर्तन भी झूठा है; वह भी शराब है। भजन-कीर्तन तो तभी सच है, जब वह अपने को याद लाने का आधार बने, जगाये तुम्हें, सुलाये न।

जिस दिन तुम जीवन की पीड़ा को देखोगे, आँख भर के साक्षात करोगे अपना – और दुख ही दुख पाओगे ...।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि 'नरक है?' मैं उनसे कहता हूँ, 'हद हो गयी! वहीं रहते हो! मुझसे पूछने आते हो?'

वे सोचते हैं कि नरक कहीं पृथ्वी के नीचे पाताल में दबा है। किन्हीं पागलों ने सोचा होगा। किन्हीं नासमझों ने कही होगी यह बात तुमसे।

नर्क तो जीवन को अँधेरे में जीने का ढंग है। वह तो एक दृष्टिकोण है। वह तो एक शैली है। स्थान से उसका कुछ लेना-देना नहीं है।

स्वर्ग भी जीवन की एक शैली है। वह तुम पे निर्भर है। जाग कर जियो तो जहाँ हो वहाँ स्वर्ग! सोये-सोये जियो तो जहाँ हो, वहाँ नरक।

नींद से पैदा होता है नरक।

ज़रा विचारो, देखो – और तुम पाओगे, सब तरफ तुम नरक से घिरे हो।

और नरक की जरूरत है क्या ? इतना नरक काफी नहीं कि तुम और नरक की कल्पनाएँ करते हो पाताल में ?

जिस दिन तुम्हें जीवन का नरक दिखायी पड़ेगा, उसी दिन 'अथातो' का बिन्दु आ गया; उसी दिन तुम कहोगे, 'अब बस हुआ, अब रुकना है'; पैर ठिठक जाएँगे।

जैसे ही तुम ठिठकते हो इस संसार की दौड़ में, वैसे ही क्रांति घटित हो जाती है : एक नया आकाश, जिसका कहीं छोर नहीं, जिसका कहीं प्रारम्भ और अंत नहीं, तुम्हें उपलब्ध हो जाता है !

अभी तुम जीते हो बड़ी संकीर्ण गली में : रोज़ संकरी होती जाती है, रोज़ संकरी होती जाती है; रोज़-रोज़ तुम बँधते जाते हो, रोज़-रोज़ जंजीरें जकड़ती जाती हैं।

तुम्हारा जीवन ऐसा है जैसे तुम अपना ही कारागृह निर्मित करने में लगे हो। चाहे तुम कारागृह को घर कहो, मंदिर कहो, तुम्हारे नामों से कोई धोखे में आने वाला नहीं है। बीमारियों को तुम अच्छे सुन्दर नाम दे दो, इससे बीमारियों का दंश जाता नहीं।

जाग कर पहचानो, देखो !

जिस दिन तुम्हें पीड़ा दिख जाएगी, वहीं पैर ठिठक जाएँगे – लौट पड़ोगे तुम !

वह जो लौटना है, उसको महावीर ने प्रतिक्रमण कहा : अपनी तरफ आना ! उसको पतंजलि ने प्रत्याहार कहा : अपनी तरफ आना ! उसको जीसस ने कनवर्सन कहा है : क्रांति, रूपान्तरण !

अभी तुम्हारे जीवन का ढंग कामवासना है; जब तुम ठिठक जाओगे, तब तुम्हारे जीवन का ढंग प्रेम होगा; जब तुम लौट पड़ोगे, तब भक्ति। अभी जहाँ जा रहे हो वहाँ काम की खोज है, वासना की खोज है।

कामना ही संसार है।

संसार तुमसे कहीं बाहर नहीं है। मंदिर, मस्जिद में छिप के तुम संसार से न बच सकोगे; हिमालय की गुफाओं में बैठ के भी तुम संसार से न बच सकोगे – क्योंकि संसार तुम्हारी कामना में है ! वहाँ भी बैठ के तुम कामना ही करोगे।

लोग परमात्मा के सामने बैठ के भी माँगे चले जाते हैं। माँग रुकती ही नहीं। मंदिर में खड़े हैं, लेकिन राम के उन्मुख नहीं होते। मूर्ति होगी सामने, लेकिन वहाँ भी माँगे चले जाते हैं।

एक आदमी मेरे पास आया और उसने कहा कि 'अब मुझे भरोसा आ गया। लड़के को नौकरी न मिलती थी। परमात्मा से प्रार्थना की और तीन सप्ताह का



समय दे दिया कि अगर तीन सप्ताह में मिल गयी तो सदा के लिए भरोसा हो जाएगा; अगर न मिली तो बात खत्म; फिर तुम नहीं हो !' और उस आदमी ने कहा, 'मिल गयी। अब तो रोज़ पूजा करता हूँ, प्रार्थना भी करता हूँ। इसलिए आपके पास आया हूँ।'

मैंने कहा, 'संयोग से मिल गयी होगी। क्योंकि परमात्मा तुम्हारी धमकी से डर जाए कि तीन सप्ताह बस, तुम्हारा अल्टीमेटम ! – तो तुम पागल हुए हो ! और यह बड़ा खतरनाक विश्वास है जो तुमने पैदा किया है; यह किसी भी दिन टूटेगा।'

मैंने कहा, 'एक बार और कोशिश करो।'

उसने कहा, 'क्या मतलब ?'

मैंने कहा, 'एकाध और कोशिश करो। तुम्हारी पत्नी बीमार रहती है ... जब कुंजी ही मिल गयी तो पत्नी को भी ठीक कर लो।'

उसने कहा, 'ठीक कहा आपने।'

कल ही वह गया। दे आया अल्टीमेटम फिर। तीन सप्ताह बाद आया, बहुत उदास था। उसने कहा, 'खराब कर दिया आपने सब। कुछ फायदा नहीं हुआ; तबीयत और खराब हो गयी। भरोसा डगमगा गया मेरा।'

तुम्हारा भरोसा भी तुम्हारी माँग पर ही खड़ा है : परमात्मा कुछ दे तो परमात्मा है ! परमात्मा तुम्हारा अनुसरण करे तो परमात्मा है ! तुम जो माँगो, पूरा करे तो परमात्मा है ! परमात्मा तुम्हारी सेवा में रत रहे तो परमात्मा है ! परमात्मा मालिक नहीं है; मालिक तुम हो ! और अगर उसे तुम्हारी पूजा-प्रार्थना चाहनी हो तो बदले में सेवा करता रहे तुम्हारी !

तुम्हारी प्रार्थना भी झूठी है; वह भी कामना है; वहाँ भी संसार ही है।

जब तक तुम बाहर कुछ माँग रहे हो, जब तक तुम सोचते हो बाहर कुछ मिल जाएगा, जिससे तृप्ति होगी, जिससे मन चैन से भर जाएगा, राहत की साँस आएगी, आनंद के क्षण उठेंगे – अगर बाहर तुम ऐसा माँगते चले जा रहे हो, तो अभी तुम नरक से बाहर नहीं जा सकते।

बाहर जाना नरक में जाना है। बाहर जाती हुई चेतना नरक के बाहर नहीं जा सकती।

ठिठकता है कोई देख कर जीवन की व्यर्थता, जीवन का असार, निष्फलता, हाथ में सिवाय पीड़ा के और कोई संग्रह नहीं, हृदय में सिवाय आँसुओं के और कुछ दिखायी नहीं पड़ता, जीवन बिलकुल अंधकारपूर्ण है, नाव डूबी, अब डूबी तब डूबी जैसी हालत है – ऐसे क्षण में जब कोई ठिठक जाता है, उस ठिठकने के क्षण में प्रेम का आविर्भाव होता है, कामना गयी ! अब तुम माँगते नहीं, अब तुम देने को उत्सुक हो जाते हो।

प्रेम देता है, काम माँगता है। जब तक माँग है तब तक समझना, काम; जब देना शुरू हो जाए तब प्रेम।

क्योंकि तुम माँगते इसलिए हो कि माँगने से बढ़ेगी सम्पत्ति और सुख आयेगा। ठिठका हुआ व्यक्ति देना शुरू करता है: 'माँग के देख लिया, सुख न आया, दुख आया; अब जरा उलटा करके देख लें।' देना शुरू करता है और पाता है कि सुख के हलके झोंके आने लगे; बजने लगी वीणा, कहीं दूर यद्यपि, बहुत दूर यद्यपि – पर बजने लगी, स्वर सुनायी पड़ने लगे, कोई नया लोक शुरू हुआ।

यह तो ठिठके हुए आदमी की बात है। वह देने लगता है, बाँटने लगता है – और जैसे-जैसे बाँटता है, वैसे-वैसे स्वर साफ होते हैं और तब चौंक के उसे पता चलता है: 'ये स्वर मेरे ही भीतर से आते हैं! अब तक सोचा था सुगंध बाहर है; यह मेरे भीतर से आती है! कस्तूरी कुंडल बसै! यह मेरे ही नाफे में बसी है।' तब लौटना शुरू होता है। 'अथातो!' आ गया बिन्दु: 'अब'! और तभी तुम नारद के इन भक्ति-सूत्रों को समझ पाओगे। इसके पहले, जो बाहर जा रहा है, उसके लिए ये नहीं हैं। जो ठिठका है उसके लिए भी ये नहीं हैं। जो लौट पड़ा है उसके लिए ये हैं। यह पहली बात है।

दूसरी बात:

जब तक तुम सोचते हो कि तुम ही अपने सुख को ले आओगे, तब तक 'अथातो' का बिन्दु नहीं आता। तुम न ला पाओगे अपने सुख को, तुम ही तो सारा दुख ले आये हो। यह तुम्हारे ही उपक्रम का फल है। यह तुम्हारे ही श्रम की निष्पत्ति है। पुरानी भाषा में कहें तो कहते हैं, यह तुम्हारे ही कर्मों का फल है। यह पुरानी भाषा है; बात यही है। यह तुमने ही किया है। यह जो दुख तुम्हें घेरे है, यह तुमने ही आमंत्रण दिया था। ये मेहमान बिन बुलाये नहीं आ गये हैं; तुमने निमंत्रण भेजे थे। तुमने बड़ा आग्रह किया था कि आओ। यद्यपि तुमने कुछ और सोच कर बुलाया था। तुम्हारे समझने में भूल थी। बुलाये थे मित्र, आ गये हैं शत्रु। बुलाया था सुख, आ गया है दुख। आग्रह किया था फूलों के लिए, आ गये हैं काँटे – क्योंकि काँटे दूर से फूल जैसे दिखायी पड़ते हैं; क्योंकि शत्रु दूर से मित्र जैसे दिखायी पड़ते हैं।

एक छोटा बच्चा अपने साथियों के साथ यात्रा पर गया था। वहाँ से उसने पत्र लिखा अपनी माँ को कि 'पहले दिन सब अपरिचित थे, मैं किसी को जानता न था। दूसरे दिन, सभी मित्र हो गये, क्योंकि पहचान हो गयी। तीसरे दिन सभी शत्रु हो गये!'

यह तीन दिन की कथा पूरी जिंदगी की कथा है। पहले दिन जब तुम देखते हो आँख खोल कर: कोई परिचित नहीं, अनजान जगत है, अपरिचित लोगों से



घिरा हुआ है सब, अजनबी और अजनबी! फिर सभी मित्र मालूम होते हैं। फिर शत्रुता शुरू हो जाती है। दूर से जो मित्र मालूम पड़ता है, जैसे-जैसे पास आते हैं वैसे-वैसे शत्रुता शुरू हो जाती है। दूर के ढोल हैं बड़े सुहावने, पास आने पर बिलकुल व्यर्थ हो जाते हैं।

...तुमने ही निमंत्रण दिये थे; हो सकता है किन्हीं पिछले जन्मों में दिये हों, अब तुम बिलकूल भूल ही गये होओ, लेकिन तुमने ही बुलाया था। जो तुम्हारे पास आ गया है वह तुम्हारा कृत्य है। और तुम्हारे कृत्य से यह दुख बढ़ता जाएगा, पर्त-दर-पर्त तुम्हारे चारों तरफ इकट्ठा होता जाएगा। यह तुम्हारे गले को घोंट रहा है।

तुम्हारे किये दुख होता है। जब तुम ठिठकोगे, तब तुम अचानक पाओगे: 'करने की कोई जरूरत ही नहीं।' सब अनकिये, तुम्हारे बिन किये हो रहा है।

प्रेम के क्षण में जीवन स्व-स्फूर्त मालूम होता है: सब अपने-आप हो रहा है। पैदा होना, जवान होना, बूढ़े हो जाना, जन्म-मौत, सब अपने-आप हो रहा है।

लेकिन जब तुम लौटोगे, भक्ति का आयाम शुरू होगा, तब तुम पाओगे कि अपने-आप नहीं हो रहा है। तुम करने वाले नहीं हो, अपने-आप भी नहीं हो रहा है। जीवन के रोएँ-रोएँ में छिपा है कोई प्रयोजन। जीवन के कण-कण में छिपी है कोई नियति; कहो: छिपा है कोई परमात्मा! उससे हो रहा है।

कामवासना में लगा आदमी अपने पे भरोसा करता है। प्रेम में खड़े आदमी का अपने पे भरोसा डगमगा जाता है। भक्ति में जाते व्यक्ति का भरोसा अपने से बिलकुल ही शून्य हो जाता है, परमात्मा पर हो जाता है।

सुना है मैंने, जोश की बड़ी प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं:

'खुदा को सौंप दो ए 'जोश' पुश्तारा गुनाहों का
चलोगे अपने सर पे रख के यह बारे-गरां कब तक!'

– यह भारी बोझ अपने सिर पे रख कर कब तक चलोगे? दे दो परमात्मा को। तुम नाहक ही परेशान हो!

मैंने सुना है, एक आदमी को, उसकी पचहत्तरवीं वर्ष-गाँठ थी, तो मित्रों ने कहा, 'कुछ नया अनुभव तुम्हारे लिए ...? तो ऐसी कोई चीज तुमने जीवन में न की हो ...?' उसने कहा, 'हवाई जहाज में कभी नहीं बैठा।' तो उन्होंने कहा, 'चलो।' उसे हवाई जहाज में बिठला के आधा घंटा शहर का चक्कर लगवाया। आधे घंटे बाद जब वह उतरा, तो जो पायलट उसे उड़ा रहा था, उसने पूछा, 'आप प्रसन्न तो हैं? परेशान तो नहीं हुए? क्योंकि पहली ही उड़ान थी।' उसने कहा, 'नहीं, परेशान तो नहीं हुआ; पर डर के कारण मैंने अपना पूरा वजन जहाज

पे नहीं रखा। डर के मारे अपना पूरा वजन जहाज पे नहीं रखा कि कहीं वजन के कारण कोई उपद्रव न हो जाए।'

अब हवाई जहाज में तुम बैठो, वजन पूरा रखो या न रखो, वजन पूरा हवाई जहाज पर है।

सुना है मैंने, एक सम्राट अपने रथ से लौटता था, जंगल से महल की तरफ, एक गरीब आदमी को उसने राह पर बड़ा बोझ ढोते हुए देखा। दया आ गयी। कहा, 'आ, बैठ जा तू भी रथ में। कहाँ तुझे उतरना है, छोड़ देंगे।' वह बैठ तो गया रथ में, लेकिन पोटली उसने सिर की सिर पे ही रखी रही। सम्राट ने कहा, 'पोटली नीचे क्यों नहीं रख देता?' उसने कहा, 'इतनी ही आपकी कृपा क्या कम है कि मुझे बिठा लिया! अब पोटली का वजन भी आप पर छोड़ूँ, नहीं नहीं, यह मुझसे न होगा।'

लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है कि तुम रथ में बैठ के पोटली नीचे रखो रथ पर या सिर पे रखो, वजन तो रथ पर ही है।

जो ज़रा-से लौटते हैं अपनी तरफ, उनको पता चलता है कि हम नाहक ही परेशान थे; करनेवाला कर रहा था; जो होने वाला था हो रहा था; हम व्यर्थ ही बीच में उछल-कूद कर रहे थे!

तब तुम समझना कि अब तुम्हारी भक्ति की शुरुआत हुई।

भक्ति की शुरुआत का अर्थ है कि न मैं करने वाला हूँ, न मैं कर सकता हूँ — मैं हूँ ही नहीं, वही है! और तब तुम्हारे मन में उसके प्रति अनन्य प्रेम का जन्म होता है।

तुम्हारा सारा बोझ वही ढो रहा है।

और तब तो भक्त ऐसी घड़ी में आ जाता है कि वह जानता है कि भक्ति भी करने का सवाल नहीं, प्रार्थना भी मेरे किये न होगी। वही प्रार्थना करेगा; मुझसे तो होगी। अब तो उसकी तरफ जाना मुझसे न होगा; वही चलेगा मेरे पैरों से तो ही पहुँच पाऊँगा।

'उठता नहीं है अब तो कदम मुझ गरीब का
मंजिल को कह दो, दौड़ के ले मुझको राह में।'

धीरे-धीरे उसे अपनी असहाय अवस्था का बोध होता है कि मैं तो कुछ भी नहीं हूँ। अब तो मुझ गरीब का पैर भी नहीं उठता! वही उठाये तो उठता है। और अब भय भी क्या, डर भी क्या! अगर उसे पहुँचाना ही है तो मंजिल खुद ही आ के बीच राह में मुझे ले लेगी।

इसलिए भक्त किनारे को नहीं माँगता। वह तो कहता है, 'तू अगर मँझधार में भी डुबा दे तो वही किनारा है।' उसने अपना सारा बोझ उसी को दे दिया।



कृष्ण ने गीता में अर्जुन को बस इतनी ही बात समझायी है कि तू सारा बोझ परमात्मा पे छोड़ दे। तू आराम से बैठ हवाई जहाज में, नाहक अपने बोझ को मत उठाये रख। रथ में बैठ ही गया है, सिर की पोटली भी नीचे रख दे। निमित्त-मात्र हो जा!

दूसरा प्रश्न : कल का एक सूत्र था कि भक्ति उसके प्रति प्रेमरूपा है। कृपया समझाएँ कि भक्ति की यात्रा और सद्गुरु के बीच कैसा सम्बंध है।

गुरु का अर्थ है : सोये हुओं में जागा हुआ व्यक्ति; अंधों में आँख वाला। बस इतना ही। तुम्हें जो स्मरण नहीं आ रहा है, उसे स्मरण आ गया है। तुम जिसे पीठ की तरफ छिपाये हो, वह उसके आमने-सामने खड़ा हो गया है। उसने अपनी आँखों में झाँक लिया; उसने अपने हृदय में टटोल लिया — और उसने परमात्मा को छिपे वहाँ पाया है।

गुरु का अर्थ है : जो मिट गया और अब केवल परमात्मा है वहाँ।

परमात्मा तुम्हारे लिए बड़ी दूर का शब्द है। अनंत फासला मालूम होता है। तुम्हारी नींद में और परमात्मा में अनंत फासला मालूम होता है। होगा ही, क्योंकि परमात्मा जागे हुए चैतन्य का अनुभव है। इसलिए तो तुम मानते हो तो भी मान नहीं पाते। कहते हो, मानते हो, फिर भी भीतर संदेह खड़ा रहता है। लाख दबाते हो, छिपाते हो; मगर तुम जानते हो कि कहीं तो संदेह है: 'परमात्मा हो सकता है!'

मैंने सुना है कि एक आदमी की कार बिगड़ गयी थी। चाक एक बाहर आ गया था। और वह बड़ी गालियाँ बक रहा था, क्रोध में था। और गालियाँ तुम्हें सीखनी हों तो ड्राइवरों से सीखो, और कोई उतना कुशल नहीं। अकेला था। बीच जंगल में गाड़ी बिगड़ गयी है और वह गालियाँ दे रहा है, दिल भर के गालियाँ दे रहा है। एक दूसरी कार आ के रुकी। एक पादरी, एक ईसाई पुरोहित उसमें था, वह उतरा। उसने देखा कि इतनी गालियाँ बक रहा है — और गालियाँ साधारण नहीं, परमात्मा तक को दे रहा है! तो उसने कहा, 'रुक भाई, यह उचित नहीं है। परमात्मा पे भरोसा कर। सब हो जाता है।'

उस आदमी ने कहा, 'कैसे सब हो जाता है? क्या यह चाक लग जाएगा जा के?'

पादरी थोड़ा डरा, पर अब लौट भी नहीं सकता था अपनी बात से, तो उसने कहा, 'क्यों नहीं लग जाएगा? भरोसा हो तो सब हो जाता है।'

तो उसने कहा, 'तुम ही प्रार्थना करो।'

अब पादरी और भी मुश्किल में पड़ा, क्योंकि वह भी जानता है कि 'परमात्मा है कहाँ? इतना सोचा था कि बात आगे बढ़ जाएगी। अब यह

आदमी सामने खड़ा है और अब पीछे लौटना भी कायरता मालूम होती है। ' उसने सोचा कि एक कोशिश करने में क्या हर्ज है; यहाँ कोई और है भी नहीं इस जंगल में देखने वाला; पराजय भी होगी तो बस इस एक आदमी के सामने। तो उसने प्रार्थना की — और हैरानी की बात : चाक उचका और गाड़ी में लग गया ! तो उस पादरी ने आँख खोली, उस चाक को उचकते देखा तो वह चिल्लाया, ' हे भगवान, क्या तुम सच में हो ? '

जिंदगी-भर वह लोगों को परमात्मा के सम्बंध में समझा रहा था, और भरोसा नहीं है ! धंधा है, व्यवसाय है। तो कोई पूजा का व्यवसाय करता है, कोई परमात्मा का व्यवसाय करता है। भरोसा किसी को नहीं है।

आस्तिक से आस्तिक, जिसको तुम कहते हो, वह भी भीतर संदेह को लिये बैठा है। इसलिए आस्तिक डरता है कि नास्तिक की बात कहीं कान में न पड़ जाए। असली आस्तिक डरेगा ? शास्त्रों में लिखा है : ' नास्तिकों की बात मत सुनना। ' ये शास्त्र आस्तिकों ने न लिखे होंगे — ये उन्होंने लिखे होंगे जिनके हृदय में संदेह का कीड़ा अभी भी है। अन्यथा डर क्या है ? अगर तुम्हारे भीतर आस्था परिपूर्ण है, अगर तुम्हारा संदेह सच में ही समाप्त हो गया है, जल गया है, तो नास्तिक की बात सुनने में भय क्या है ? जरूर सुनना। शायद तुम्हारे शांत मौन श्रवण को अनुभव करके नास्तिक के जीवन में कोई फर्क हो जाए। तुम्हारे जीवन में तो कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं; शायद तुम्हारे ईश्वर की अनन्य आस्था नास्तिक को भी संक्रामक हो जाए ! आ जाने देना पास।

लेकिन आस्तिक डरते हैं, भयभीत होते हैं। डर अपने ही सन्देह का है, कोई और तुम्हें डरा नहीं सकता।

तुम भयभीत हो, डरे हुए हो। तुम्हें पता है कि अगर बाहर से कोई संदेह की बात करे तो तुम्हारे भीतर का संदेह, जो सो गया है, जग जाएगा, छिपा है, प्रगट हो जाएगा; बाहर का संदेह तुम्हारे भीतर के संदेह को पुकार दे देगा, प्रतिसंवेदना शुरू हो जाएगी, तुम भीतर कँपने लगोगे।

परमात्मा दूर है बहुत तुम्हारे लिए, नींद में बड़ा दूर है ! वस्तुतः दूर नहीं है; तुम्हारी नींद का ही फासला है। परमात्मा के लिए तुम दूर नहीं हो, तुम्हारे लिए परमात्मा दूर है — इसे ध्यान रखना।

जैसे तुम सोये हो, सूरज निकल आया, सूरज की किरणें तुम्हारे ऊपर बरस रही हैं, लेकिन तुम सोये हो : सूरज के लिए तुम दूर नहीं हो, तुम्हारे ऊपर बरस रहा है, तुम्हारे रोएँ-रोएँ को जगाने की चेष्टा कर रहा है; लेकिन तुम गहरी नींद में हो, तुम्हारे लिए सूरज तो बहुत दूर है, पता ही नहीं कि है भी या नहीं। तुम तो गहन अंधकार में खोये हो।



ऐसी घड़ियों में जब परमात्मा बहुत दूर मालूम पड़ता है, सद्‌गुरु उपयोगी हो सकता है : क्योंकि सद्‌गुरु तुम जैसा है, तुम्हारे पास है, मनुष्य जैसा मनुष्य है, हड्डी-माँस-मज्जा का है — और फिर भी तुमसे कुछ ज्यादा है; और फिर भी तुमने जो नहीं जाना उसने जाना है; तुम जो कल होओगे उसकी वह खबर है। वह तुम्हारा भविष्य है। वह तुम्हारी सम्भावनाओं का द्वार है।

परमात्मा बहुत दूर है; गुरु बहुत पास है। इसलिए परमात्मा के पास गुरु के बिना शायद ही कभी कोई पहुँच पाता है। गुरु ऐसा झरोखा है जिससे दूर के आकाश को तुम देख पाओगे। झरोखा पास है।

कमरे में तुम बैठे हो, तुमसे मैं आकाश की बातें करूँ और आकाश के अनंत सौंदर्य की चर्चा करूँ — व्यर्थ है। तुमसे सूरज की किरणों की कहानी कहूँ — व्यर्थ है। तुमसे फूलों की वार्ता करूँ — व्यर्थ है। लेकिन एक झरोखा खोल दूँ, एक खिड़की खोल दूँ जो बंद थी — तुम अपनी ही जगह हो तुममें कोई फर्क नहीं हुआ, तुम उठे भी नहीं जगह से, बस तुम अपनी ही कोच पर आराम कर रहे हो, तुमने कुछ भी फर्क न किया — लेकिन एक झरोखा खुल गया : दूर का आकाश अब उतना दूर नहीं ! एक कोना आकाश का दिखायी पड़ने लगा — और कोने को जिसने पकड़ लिया वह पूरे को पकड़ ही लेगा। थोड़ी फूलों की गंध भी भीतर आने लगी। थोड़ी-सी किरणें भी आ गयीं और नाचने लगीं फर्श पर। तुम वहीं के वहीं बैठे हो, तुममें कोई फर्क नहीं हुआ; लेकिन एक झरोखा तुम्हारे पास खुल गया !

गुरु एक झरोखा है। तुम वही हो, लेकिन गुरु के पास होते ही उस झरोखे से तुम बड़े आकाश को, विराट आकाश को झाँक पाओगे।

गुरु जैसे बूँद है, लेकिन बूँद का स्वाद तो वही है जो सागर का है : वैसा ही नमकीन !

बुद्ध कहा करते थे कि बूँद चख लो एक सागर की, तुमने सारा सागर चख लिया।

गुरु एक बूँद है, लेकिन ऐसी बूँद जिसने पहचान लिया अपने भीतर छिपे सागर को। तुम भी बूँद हो, लेकिन ऐसी बूँद जिसे अपने छिपे सागर की कोई खबर नहीं। बूँद और बूँद की थोड़ी बात हो सकती है। ऐसे तो गुरु और शिष्य के बीच भी वार्ता बहुत मुश्किल है, तो खोजी और परमात्मा के बीच तो वार्ता असम्भव है।

गुरु पर रुकना नहीं है; गुरु से गुजर जाना है। गुरु तो द्वार है; उससे तो पार हो जाना है। इसलिए सद्‌गुरु और गुरु में यही फर्क है।

सद्‌गुरु का अर्थ है : जो तुम्हें परमात्मा की तरफ ले जाए; इतना ही नहीं जो तुम्हें तुमसे मुक्त करे और जो तुम्हें अपने से भी मुक्त करे।

वही गुरु सद्‌गुरु है जो तुम्हें अपने से भी मुक्त होना सिखाये, नहीं तो अखीर

में गुरु पकड़ जाएगा। कहीं ऐसा न हो कि कोच से तो तुम उठ जाओ और खिड़की के चौखटे को पकड़ लो। तब तुम चूक गये। तो जो तुम्हें अपने को पकड़ने की चेष्टा में लगा हो उससे सावधान रहना।

गुरु पहले तुमसे तुम्हारा संसार, तुम्हारे गलत दृष्टिकोण छीन लेगा। और जब वे छिन गये, तो आखिरी चीज़ जो वह छीनेगा, वह स्वयं को तुमसे छीन लेगा, ताकि तुम खुले आकाश में प्रवेश पा जाओ।

और असली सवाल झुकने की कला सीखने का है। गुरु के पास तुम झुकने की कला सीख लोगे। जिस दिन तुम्हें झुकना आ गया, बस सब आ गया। असली सवाल मिटने की कला सीखने का है। गुरु के पास तुम मिटना सीख लोगे। जिस दिन मिटना आ गया, सब आ गया।

'कुछ जज्बए सादिक हो, कुछ इखलासो-इरादत
इससे हमें क्या बहस वह बुत है कि खुदा है।'

'कुछ जज्बए सादिक हो' – कुछ सत्य भावना हो, कुछ प्रेम का आविर्भाव हो; 'कुछ इखलासो-इरादत' – कुछ हमारे इरादों में, हमारी भावनाओं में, प्रेम के अंकुर का अंकुरण हो; 'इससे हमें क्या बहस, वह बुत है कि खुदा है' – वह पत्थर की मूर्ति हो कि परमात्मा हो, इससे क्या बहस! – थोड़ा प्रेम करना आ जाए, थोड़ा स्वाद लग जाए अनंत का, थोड़ी भावना की पवित्रता आ जाए, थोड़ी झुकने की कला समझ में आ जाए।

बहस नासमझ करते हैं। समझदार समय का उपयोग कर लेते हैं और जीवन की कोई गहराई सीख लेते हैं।

यही फर्क है विद्यार्थी और शिष्य में।

विद्यार्थी बहस में उत्सुक है, शिष्य जीवन को बदलने में। विद्यार्थी कुछ ज्ञान की सूचनाएँ इकट्ठी करने चला आया है, शिष्य अस्तित्व को बदलने आया है। विद्यार्थी दाँव पर कुछ भी नहीं लगाता। विद्यार्थी तो सिर्फ स्मृति का निखार कर रहा है। शिष्य जीवन को दाँव पर लगाता है; सब कुछ खोना हो तो भी तैयारी दिखलाता है। क्योंकि जब तक तुम सब खोने को तैयार न हो जाओ तब तक तुम सब को पाने के मालिक न हो सकोगे। जिसने सब खोया उसने सब पाया।

तो, गुरु के पास तो बारहखड़ी सीखनी है, अल्फाबेट। परमात्मा का गीत तो अभी कठिन पड़ेगा। तुम्हें अभी बारहखड़ी ही नहीं आती। गुरु के पास अ ब स सीख लेना है – अ ब स परमात्मा का। जब तुम सीख गये, तुम चले अपनी यात्रा पर।

पक्षी के बच्चे पैदा होते हैं, अण्डों से बाहर आते हैं। तुमने कभी देखा होगा



झाड़ों में लटके घोसलों के किनारों पर बैठे, डरते हैं, आकाश को देखते हैं: आकाश बड़ा है! अभी तक अण्डे में रहे थे, बड़ी छोटी दुनिया थी, बड़ी सुरक्षित थी, ऊष्ण थी। माँ गरमी देती रहती थी। अब दुनिया बड़ी ठंडी मालूम पड़ती है। वह ऊष्णता माँ की गयी। किनारे पर बैठते हैं वे, माँ उड़ती है। वह उड़ान उनके भीतर भी किसी सोयी हुई, प्रसुप्त आकाँक्षा को जन्म देती है। वे भी उड़ना चाहते हैं – कौन नहीं उड़ना चाहता! क्योंकि उड़ने में मुक्ति है, स्वातंत्र्य है। लेकिन डगमगाते हैं, डरते हैं। बैठे हैं घोंसले के किनारे। उन्हें अपने पंखों का पता नहीं। हो भी कैसे सकता है? पंखों का पता तो तभी चलता है जब तुम उड़ो। उड़ने के पहले पंखों का पता चल नहीं सकता। उड़ने के बिना कैसे तुम जानोगे कि तुम्हारे पास भी पंख हैं? पैर पता चलते हैं जब तुम चलते हो। आँख पता चलती है जब तुम देखते हो। कान पता चलते हैं जब तुम सुनते हो। पंख पता चलते हैं जब तुम उड़ते हो।

अभी पक्षी उड़ा नहीं, अभी अण्डे से बाहर आया है। अभी उसे कैसे पता हो सकता है कि मेरे पास भी पंख हैं। अभी वह डरता है। क्या करता है? क्या चाहता है? चाहता है उड़ना। कोशिश भी करता है, लेकिन पकड़े है ज़ोर से घोंसले को कि कहीं इस विराट शून्य में खो न जाए।

माँ क्या करती है? एक धक्का देती है। घबड़ाता है पक्षी, घबड़ाहट में पंख खुल जाते हैं। घबड़ा के लौट आता है वापस एक चक्कर मार के, लेकिन अब उसे पता हो गया: पंख उसके पास हैं; थोड़ी देर होगी चाहे, कला सीखने में थोड़ा समय लगेगा – लेकिन पंख हैं! एक बड़ा भरोसा आया! एक हिम्मत जगी! एक आत्मविश्वास का जन्म हुआ: 'तो यह आकाश भी अपना है!' दो पंखों के सहारे पूरा आकाश अपना हो जाता है। बस, दो छोटे पंखों के सहारे सारे आकाश की मालकियत मिल गयी! फिर थोड़ी-थोड़ी दूर जाने के प्रयोग करता है – और दूर, और दूर, बड़े वर्तुल बनाता है – और एक दिन फिर दूर आकाश की यात्रा पर निकल जाता है। अब माँ को धक्का देने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

गुरु तुम्हें एक धक्का देगा घोंसले के बाहर। इससे ज्यादा कुछ भी नहीं। यह तुम भी कर सकते थे। जब तुम कर लोगे तब तुम पाओगे: 'अरे, यह तो मैं भी कर सकता था!' लेकिन यह तुम पाओगे तब जब तुम कर लोगे। इसके पहले, इसके पहले कैसे तुम जानो कि पंख हैं? गुरु तुम्हें दिखा देगा तब तुम्हें लगेगा: 'अरे, यह तो बिना गुरु के भी हो सकता था!'

कृष्णमूर्ति के साथ यही हुआ: धक्का दिया ऐनीबीसेंट ने, लीडबीटर ने, उनके गुरुओं ने – पंख खुले! कृष्णमूर्ति को समझ आयी कि 'यह तो मुझसे ही हो सकता था। पंख मेरे, पंख खुले तो मेरे: धक्के के बिना भी अगर मैं ज़रा-सी मेहनत

कर लेता तो हो जाता।' तब से चालीस-पच्चास वर्ष बीत गये, वे दूसरों को यही सिखा रहे हैं कि हिम्मत करो, कूद जाओ, पंख तुम्हारे हैं, गुरु की कोई जरूरत नहीं! लेकिन कोई कूदता हुआ मालूम नहीं पड़ता। बात बिलकुल ठीक कहते हैं। बात में जरा भी गलती नहीं है। भूल-चूक कोई खोज नहीं सकता इसमें।

लेकिन कोई चाहिए जो तुम्हें धक्का दे दे। और जब गुरु धक्का देगा तो बहुत बुरा लगेगा। तो पहले गुरु तुम्हें पास बुलाएगा, प्रेम देगा, ताकि तुम आ जाओ और निकट, और निकट, और निकट; फिर एक दिन धक्का देगा। तुम चौंकोगे बहुत : ऐसा प्रेमी आदमी ऐसा दुष्ट कैसे हो गया! लेकिन जरूरी है कि धक्का दे तभी तुम्हारे पंख खुलेंगे।

इसलिए जो परमात्मा को खोजने चले हों सीधे वे थोड़ा सम्हल जाएँ : वह सीधी खोज कहीं अहंकार का ही नया करतब न हो, कहीं अहंकार की ही नयी ईजाद न हो! फिर ऐसे लोग हो सकता है बैठे रहें घोंसले में, आँख बंद कर लें और खुले आकाश के सपने देखने लगें। वह आसान है।

गुरु को खोजो; परमात्मा की खोज की कोई ज़रूरत नहीं। गुरु को खोजते ही वह खोज हो जाएगी।

'है फर्ज तुझ पै फकत बंदए-खुदा की तलाश
खुदा की फिक्र न कर, वोह मिला, मिला-न-मिला।'

– उसकी बहुत चिंता नहीं है। लेकिन किसी खुदा के बंदे की तलाश कर ले। किसी गुरु को खोज ले। फिर परमात्मा मिला न मिला, तू छोड़ फिक्र। मिल ही जाएगा, उसकी बात ही मत उठा। क्योंकि गुरु को खोजने में ही पहला कदम उठ जाता है।

गुरु को खोजने का अर्थ है : अहंकार का समर्पण।

किसी के चरणों में झुकने का अर्थ है : झुकने की कला का पहला अभ्यास।

झुक गये तो खुदा तो मिल ही जाएगा। बस तुम झुके न थे, वहीं अड़चन थी।

इसलिए गुरु की बड़ी अनिवार्यता है। ज़रूरत बिलकुल नहीं है, अनिवार्यता है पूरी। ज़रूरत बिलकुल नहीं है; ऐसा लगता है कि हो सकता है अपने-आप। कहाँ अड़चन है? पाँव तुम्हारे पास हैं, उड़ने की क्षमता तुम्हारे पास है, आकाश मौजूद है, सब मौजूद है – फिर गुरु की क्या ज़रूरत है? अगर कोई तर्क से विचार करे तो गुरु की ज़रूरत मालूम नहीं होगी। लेकिन तुम में साहस नहीं है, इसलिए गुरु की जरूरत है। वह साहस को कौन पूरा करे? तुम्हें हिम्मत कौन दे? कौन तुम्हें धक्का दे दे?

मेरे गाँव में एक बूढ़े सज्जन हैं। उन्होंने करीब-करीब गाँव के सभी बच्चों को तैरना सिखाया होगा। वे नदी के प्रेमी हैं। और गाँव-भर के बच्चे जैसे ही



तैरने योग्य हो जाते हैं, नदी पहुँच जाते हैं। और वे सुबह पूरा समय पाँच-छह घंटे का, गाँव-भर के बच्चों को तैरना सिखाने में देते हैं। मुझे भी उन्होंने तैरना सिखाया। जब मैं सीख गया, मैंने उनसे कहा, 'यह भी कोई बात हुई, तुमने सिखाया जरा भी नहीं, सिर्फ मुझे धकाया।' उन्होंने कहा, 'बस वही सिखाना है।' वे फेंक देते हैं बच्चे को। बच्चा घबड़ाता है। वे खड़े हैं सामने। दो-तीन फीट फेंक देते हैं गहरे में। बच्चा घबड़ाता है, तड़फड़ाता है, हाथ-पैर फेंकता है। वही तैरने की शुरुआत है। हाथ-पैर फेंकना ही तैरने की शुरुआत है। फिर धीरे-धीरे व्यवस्था आ जाती है। पहले अव्यवस्थित फेंकता है। पहले घबड़ाहट में फेंकता है। फिर वे दौड़ के उसे बचा लेते हैं। फिर फेंकते हैं। फिर ले आते हैं किनारे पर। फिर फेंकते हैं। कभी मुँह में पानी चला जाता है, कभी नाक में पानी चला जाता है, कभी बड़ी घबड़ाहट होती है। कभी ऐसा लगता है कि यह तो बचना मुश्किल है, मरे! और कुछ नहीं सिखाते वे। दस-पाँच दफा फेंकते हैं। हाथ-पैर में गति व्यवस्थित होने लगती है। दो-चार दिन में बच्चा तैरना सीख जाता है। सिखाते कुछ भी नहीं, सिर्फ पानी में तुम अपने से न कूद सकोगे, घबड़ाहट लगेगी, उतनी घबड़ाहट भर छीन लेने की बात है।

परमात्मा उपलब्ध है गुरु के बिना, मगर उपलब्ध न हो सकेगा। जब वह उपलब्ध हो जाएगा तब तुम जानोगे कि हो सकता था। लेकिन वह सदा बाद में।

कोलम्बस ने अमरीका खोजा। जब तक नहीं खोजा था, तो कोई भरोसा नहीं था; लोग सोचते थे यह गया, यह लौटने वाला नहीं है। क्योंकि यह सिर्फ कल्पना के आधार पर कि यदि पृथ्वी गोल है...जो कि गैलिलियो और कोपरनीकस ने सिद्ध कर दिया था कि पृथ्वी गोल है, मगर कोई देखा तो नहीं था; देखा तो अभी तक नहीं था। जब पहली दफा अन्तरिक्ष-यात्रा शुरू हुई और मनुष्य पृथ्वी के घेरे के बाहर गया तब पहली दफा दिखायी पड़ा कि पृथ्वी गोल है, इसके पहले तो किसी ने देखा न था, यह तो धारणा थी, तर्कसिद्ध थी, हज़ार प्रमाण थे, इसके लेकिन सब प्रमाण परोक्ष थे। कोलम्बस ने कहा कि 'जब पृथ्वी गोल है तो अगर मैं जाऊँ यात्रा पर और करता ही रहूँ यात्रा सीधा, सीधा, तो एक दिन वापस इसी जगह लौट आगा। अगर बीच में कुछ हुआ तो मिल गयी कोई जगह तो ठीक है, नहीं तो वापस अपने घर आ जाएँगे। गोल अगर पृथ्वी है तो लौट आएँगे अपनी जगह, भटकने का कोई सवाल नहीं है।'

कोई साथ जाने को राज़ी न था। बड़ी मुश्किल से सालों की खोज के बाद अस्सी आदमी तैयार हो सके। उनमें कई ऐसे थे जो मरने को तत्पर थे, जिनको जिन्दगी में कोई सार न था। कुछ पागल थे, दीवाने थे, उन्होंने कहा, 'चलो, कोई हर्जा नहीं; मरेंगे, और क्या होगा!' ढंग का कोई एक आदमी तैयार नहीं था।

कुछ को सम्राट की आज्ञा हुई थी, इसलिए कुछ सैनिकों को जाना पड़ रहा था, तो वे गये थे।

इन अस्सी आदमियों को ले के कोलम्बस गया। जिसने धन की सहायता दी थी, जिस रानी ने, उसके दरबारियों ने कहा था, 'यह फिजूल पैसा खराब हो रहा है। ये अस्सी आदमी मरेंगे। ये लाखों रुपये खराब होंगे।' पर उस रानी ने कहा, 'करने दो, एक प्रयोग है, देखेंगे।'

कोलम्बस अमरीका खोज के लौट आया। दरबार में उसका स्वागत हुआ। तो उन्हीं दरबारियों ने कहा, 'यह कोई क्या खास बात है, यह कोई भी खोज लेता। अगर पृथ्वी गोल है, कोई भी जाता तो मिल जाता।'

कोलम्बस की थाली में एक अण्डा रखा था। उसने अण्डा उठाया और उसने कहा, 'इसे कोई सीधा खड़ा करके बता दे टेबल पर।' कई ने कोशिश की खड़ा करने की; पर अब अंडा कैसे सीधा खड़ा हो? वह गिर-गिर जाए। उन्होंने कहा, 'यह हो ही नहीं सकता; यह असम्भव है।'

कोलम्बस ने जोर से अण्डे को ठोका टेबल पे, नीचे की पर्त सीधी हो गयी, अंदर दब गयी, अण्डा खड़ा हो गया। उन्होंने कहा, 'अरे, यह तो कोई भी कर देता!' कोलम्बस ने कहा, 'लेकिन किसी ने किया नहीं।'

करने के बाद तो सभी कुछ आसान हो जाता है। करने के पहले असली सवाल है। उस करने के पहले गुरु की जरूरत है।

अनिवार्यता बिलकुल नहीं, और अनिवार्यता पूरी है। जानोगे, तब पाओगे : हो जाता है बिना गुरु के। लेकिन तब तुम यह भी पाओगे ... अगर तुम पीछे लौट के देखो कि हो नहीं सकता था, तुम हिम्मत ही न जुटा पाते।

तीसरा प्रश्न : भक्ति साधना भी है और सिद्धि भी। कृपापूर्वक उसके अलग-अलग रूपों को हमें समझाएँ।

न, भक्ति के कोई रूप नहीं हैं।

प्रेम के कहीं कोई रूप होते हैं? प्रेम तो बस एक है। उसका स्वाद एक है। भेद तो बुद्धि से होते हैं; हृदय में भेद नहीं होते। हिन्दू की बौद्धिक धारणा अलग, मुसलमान की बौद्धिक धारणा अलग, ईसाई का फलसफा अलग है। वे बुद्धि की बातें हैं। लेकिन जब हिन्दू भक्ति से भरता है और जब मुसलमान भक्ति से भरता है और जब ईसाई भक्ति से भरता है, तो उन भक्तियों में भेद नहीं है, वे एक हैं।

भक्ति हृदय की बात है। उसका तुम्हारे अन्तस्तल से सम्बंध है, तुम्हारी बुद्धि की बाहरी बातों से नहीं। क्या तुमने सीखा है, उससे सम्बंध नहीं है; क्या तुम्हारा स्वभाव है, उससे सम्बंध है।



लेकिन यह बात सच है कि भक्ति साधना भी है और सिद्धि भी। वहाँ पहला कदम ही आखिरी कदम भी है। वहाँ साधन ही साध्य भी है।

भक्ति का अर्थ है : परम प्रेम। परम प्रेम की साधना करनी है। और जब सिद्धि होगी तब क्या होगा? परम प्रेम उपलब्ध होगा। परम प्रेम को ही साधना है और परम प्रेम को ही पाना है। प्रेम ही वहाँ मार्ग है और प्रेम ही वहाँ मंजिल है।

होना भी यही चाहिए। क्योंकि जब तुम भी किसी यात्रा पर जाते हो तो तुम जो पहला कदम उठाते हो मार्ग पर, उस पहले कदम में मंजिल एक कदम करीब आ गयी। तो कदम तुमने मार्ग पर ही नहीं उठाया, मंजिल पे भी उठाया। हजार मील की यात्रा तुम पूरी कर लोगे एक-एक कदम उठा-उठा के। एक-एक कदम मंजिल करीब आती जाती है। एक दिन तुम मंजिल पे पहुँच जाते हो। उसमें कौन-सा कदम सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण था? लगेगा : आखिरी कदम, क्योंकि आखिरी कदम ने ही मंजिल पे पहुँचाया। नहीं, जितना आखिरी कदम महत्त्वपूर्ण है, उतना ही पहला कदम भी था। क्योंकि पहला कदम अगर चूक जाता तो आखिरी तो हो ही न पाता।

तुम पानी को गरम कर रहे हो, निन्नानबे डिग्री तक गरम करते हो, सौ डिग्री पे भाप बन जाता है। क्या सौवीं डिग्री के कारण भाप बनता है? अगर पहली डिग्री न होती तो सौ डिग्री हो नहीं सकता था, निन्नानबे डिग्री ही रह जाता, भाप नहीं बनता।

पहला कदम आखिरी कदम भी है। मार्ग मंजिल भी है।

मार्ग क्या है भक्त का?

भक्त का मार्ग है : अहोभाव!

अहोभाव को समझना जरूरी है। वही उसकी विधि है।

साधारणतः कामवासना देखती है वह जो तुम्हारे पास नहीं है। कामवासना की दृष्टि अभाव पर रहती है; जो तुम्हारे पास नहीं है उसी को देखती है। भक्ति उलटी स्थिति है; जो तुम्हारे पास है, उसे देखती है।

जब जो तुम्हारे पास नहीं है, तुम उसको देखते हो, तब तुम सदा पीड़ित रहते हो, क्योंकि इतना कम है, इतना कम है, इतना कम है! और यह तो कम रहेगा ही। लाख रुपये तुम्हारे पास हैं, वह तुम नहीं देखते; अरबों-खरबों जो तुम्हारे पास नहीं हैं, वह तुम देखते हो। जो पत्नी तुम्हारे पास है उसे तुम नहीं देखते; सारे संसार की स्त्रियाँ दिखायी पड़ती हैं।

अगर पति से कोई पूछे ठीक-ठीक कि 'तू अपनी पत्नी की शक्ल बता सकता है?' — तो दिक्कत खड़ी हो जाएगी। कौन देखता है अपनी पत्नी को!

पड़ोस की पत्नी का सब नाक-नक्शा बता देगा वह । आज उसने कैसी साड़ी पहनी है, यह भी बता देगा । लेकिन अपनी पत्नी ... !

'जो है' उसे हम देखते ही नहीं ; जो नहीं है उसे देखते हैं, इसलिए पीड़ित रहते हैं । क्योंकि 'नहीं है' खलता है, काँटे की तरह चुभता है, अभाव मालूम पड़ता है । दीनता-दरिद्रता मालूम पड़ती है ।

'जो है' अगर उसे देखें तो अहोभाव पैदा होता है। तो इतना दिया है परमात्मा ने कि तुम सिवाय धन्यवाद के और क्या कर सकोगे ! तो अचानक तुम पाते हो कि तुम सम्राट हो गये, भिखारी न रहे !

'दिल दिया, दर्द दिया, दर्द में लज्जत दी है
मेरे अल्लाह ने क्या-क्या मुझे दौलत दी है !'

और तब दर्द भी सौभाग्य मालूम होने लगता है !

'दिल दिया, दर्द दिया, दर्द में लज्जत दी है।'

पीड़ा में भी एक मिठास है । सुख की तो छोड़ो, दुख में भी एक गहराई है – वह भक्त को दिखायी पड़ती है । स्वर्ग की तो छोड़ो, नरक में भी एक सौंदर्य है – वह भक्त को दिखायी पड़ता है । कामी को तो स्वर्ग में भी स्वर्ग दिखायी नहीं पड़ता; भक्त को नरक में भी स्वर्ग दिखायी पड़ता है ।

और तुम्हें जो दिखायी पड़ता है तुम उसी में जीने लगते हो । क्योंकि आदमी जिसको अनुभव करता है, जिसको देखता है, उसी में जीता है ।

भक्त भाव में जीता है ।
कामी अभाव में जीता है ।
'दिल दिया, दर्द दिया, दर्द में लज्जत दी है !'
और तब तो दर्द में भी लज्जत दिखाई पड़ने लगती है ।
दर्द में भी एक काव्य है ।
दर्द का भी एक रहस्य है ।
पीड़ा में भी कुछ अनूठी मिठास है ।
पीड़ा का भी काव्य है ।
और पीड़ा में भी कुछ जन्मता है,
जो बिना पीड़ा के नहीं जन्म सकता ।
'रंज हो, दर्द हो, वहशत हो, जुनूं हो, कुछ हो
आप जिस हाल से खुश हों, वही हाल अच्छा है।'

और भक्त कहता है, 'जो परमात्मा ने दिया है : रंज हो, दर्द हो, वशहत हो, जुनूं हो, कुछ हो ! ...'

भक्त को जैसे ही यह दिखायी पड़ना शुरू होता है कि कितना दिया है;



मेरी कोई पात्रता न थी और इतना दिया है; अपात्र था और जीवन दिया; कमाया कुछ भी न था, इतने अनंत आनंद की क्षमता दी; सौभाग्य दिया कि होऊँ, कि मेरे नासापुट श्वास लें, कि मेरी आँखें सूरज की किरणों को देखें, कि मेरा हृदय प्रेम की पुलक को अनुभव करे, कि मेरे कानों पर संगीत का साक्षात्कार हो ! कुछ भी न था, शून्य से बनाया मुझे और सब कुछ दिया !

'आप जिस हाल से खुश हों वही हाल अच्छा है !'

और तब भक्त अपनी कोई मर्जी नहीं रखता; परमात्मा की मर्जी ही उसकी मर्जी है : 'वह जहाँ ले जाए वहीं जाएँगे । वह जो कराये वही करेंगे !'

भक्त छोड़ ही देता है सब । भक्त उपकरण-मात्र हो जाता है । परमात्मा ही उससे बहता है ।

यही साधना है और यही सिद्धि भी है । जिस दिन यह स्थिति परिपूर्ण हो जाएगी ... ।

कब होती है स्थिति परिपूर्ण ? यह सौभाग्य कब पूरा होता है ? – जब भक्त की मंजिल आ जाती है।

पहले तो साधारण आदमी, जो कामवासना में जीता है, शिकायत करता है; शिकायत ही उसका जीवन है ।

तुम लोगों की बातें सुनो, सिवाय शिकायत के उनके जीवन में कुछ भी नहीं है : 'यह नहीं है, यह ठीक नहीं है; यह गलत हो रहा है, यह गलत हो रहा है; सब गलत हो रहा है !' गलत-गलत से वे घिर गये हैं । शिकायत ही शिकायत है ।

भक्त की बात सुनो : अहोभाव ही अहोभाव है !

लेकिन जब मंजिल आती है, पहले शिकायत खो जाती है, भक्त अहोभाव से भर जाता है; फिर तो अहोभाव भी खो जाता है । क्योंकि धन्यवाद भी देने का मतलब है कि थोड़ी-बहुत शिकायत शेष रही होगी । नहीं तो धन्यवाद क्यों ?

इसे थोड़ा समझें ।

धन्यवाद भी हम तभी देते हैं कि अगर इससे अन्यथा होता तो शिकायत होती । धन्यवाद शिकायत का उलटा है ।

रूमाल तुम्हारे हाथ से गिर गया, किसी ने उठा के दे दिया, तुमने कहा, 'धन्यवाद !' इसका मतलब है कि अगर वह उठा के न देता तो शिकायत होती । तो इसका अर्थ यह हुआ कि धन्यवाद ऊपर आ गया है, शिकायत भीतर चली गयी है ।

तो, भक्त जब तक मार्ग पर है, अहोभाव से भरा रहता है ।

शिकायत से बेहतर है अहोभाव, क्योंकि शिकायत में सिर्फ पीड़ा होती है, दुख होता है, दर्द होता है, अँधेरा ही अँधेरा होता है । अहोभाव में सब रोशन हो

जाता है, सब खिल जाता है ! लेकिन अभी भी कमी है। मंजिल पे आते सब बात ही समाप्त हो जाती है, कुछ कहने को नहीं रह जाता।

जब अहोभाव भी नहीं बचता तब अहोभाव पूरा हो जाता है।

इस तरह मिटना है कि कुछ भी न बचे। शिकायत तो मरे ही, अहोभाव भी मर जाए।

'दिल है तो उसी का है, जिगर है तो उसी का है
अपने को रहे-इश्क में बरबाद जो कर दे।'

'दिल है तो उसी का, जिगर है तो उसी का।'

बस उसी के पास दिल पैदा होगा, उसी के पास जिगर आएगा –

'अपने को रहे इश्क में बर्बाद जो कर दे।'

प्रेम की राह पर जो अपने को पूरा मिटा दे, वही पहली दफा हो पाता है।

भक्ति का अर्थ है : अपने को मिटाने की कला। वह मृत्यु की कला है; अपने को खोने की कला; अपने को डुबाने की कला !

चौथा प्रश्न : मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं एक अधपका फल हूँ ... ?

प्रतीत होने का सवाल नहीं, होओगे ही ! नहीं तो कभी के गिर गये होते। पके फल वृक्षों पे थोड़े ही लटके रह जाते हैं ! पके फल तो गिर जाते हैं। गिरना ही सबूत है कि फल पक गया, और कोई सबूत नहीं। पीले हो जाने से कोई पक गया, ऐसा मत समझ लेना – गिर जाने से ही ...।

उपनिषद कहते हैं : 'त्येन त्यक्तेन भुंजीथाः।' उन्होंने ही भोगा जिन्होंने त्यागा। क्योंकि त्याग से ही पता चलता है कि ठीक से भोगा, समझ गये कि भोग बेकार है। जिस दिन भोग पक जाता है उस दिन त्याग अपने-आप हो जाता है। जिस दिन फल पक जाता है उस दिन गिर जाता है।

'ऐसा प्रतीत होता है ...।'

प्रतीत होने की बात ही छोड़ दो; ऐसा जानो कि है, कि मैं एक अधपका फल हूँ। निश्चित, इस प्रतीति को सत्य समझो, तो पकने की दौड़ शुरू होगी; तो 'अथातो' का क्षण शीघ्र ही पास आ जाएगा।

आदमी जब पक जाता है तभी पूरा आदमी होता है। जिस दिन तुम पूरे आदमी होते हो उसी दिन गिर जाते हो। आदमी गिरा कि परमात्मा शुरू हो जाता है। जहाँ आदमी का अंत है वहाँ परमात्मा की शुरुआत है।

'आदमी हैं शुमार से बाहर
कहत है फिर भी आदमियत का !'



बहुत आदमी हैं, लेकिन आदमियत कहाँ ? आदमियत की बड़ी कमी है, क्योंकि पके हुए आदमी कहाँ ?

'फर्श से ताअर्श मुमकिन है तरक्की ओ उरूजा
फिर फरिश्ता भी बना लेंगे तुझे, इन्सां तो बन।'

–पहले आदमी बन, फिर हम तुझे देवता भी बना लेंगे।

'फिर फरिश्ता भी बना लेंगे तुझे, इन्सां तो बन।'

पहले पक। फिर देवत्व तो अपने-आप आ जाता है। जो आदमी पूरा हुआ कि वहीं से देवत्व की शुरुआत है।

कैसे पकोगे ?

बड़ा मुश्किल हो गया है पकना। इसलिए मुश्किल हो गया है कि तुम्हारे सारे संस्कार, सारी शिक्षा, सारा धर्म तुम्हें दमन सिखाते हैं, अनुभव नहीं सिखाते।

ऐसा समझो कि जिन-जिन चीज़ों की जानकारी से तुम्हें जीवन व्यर्थ मालूम पड़ता है, उनकी जानकारी ही पूरी नहीं होने देते।

बच्चे को हम सिखाते हैं : 'क्रोध मत कर।' सिखाना चाहिए कि क्रोध जितना बन सके कर ले। जब बच्चा क्रोधित हो तो कहना चाहिए : 'खूब कर ले। क्योंकि अभी तो घर है अपना, फिर बाहर की दुनिया में जाएगा, वहाँ तुझे लोग क्रोध न करने देंगे, अपने घर में पूरा कर ले। पिता पर, माँ पर, कर ले पूरा। क्योंकि दूसरे लोग इतनी कृपा न करेंगे। तू क्रोध को पूरी तरह कर ले, ताकि क्रोध की जलन का तुझे अनुभव हो जाए और क्रोध की व्यर्थता तुझे दिखायी पड़ जाए।'

और क्रोध ज़हर है : और सिवाय हानि के कुछ लाभ नहीं देता।

और क्रोध मूढ़ता है : दूसरे के कसूर के लिए अपने को दण्ड देना है।

क्रोध अज्ञान है : क्योंकि क्रोध में तू दूसरे के हाथ में खिलौना हो गया है; कोई भी तेरी कुंजी दबा दे सकता है; कोई भी तुझे क्रोधित कर दे सकता है, तो तू दूसरे का गुलाम हो गया, तेरी मालकियत खो गयी।

मगर यह तो तब होगा जब क्रोध पूरी तरह अनुभव किया जाए।

मेरी प्रतीति ऐसी है कि अगर तुमने जीवन में एक बार भी क्रोध का पूरा अनुभव कर लिया तो पक गया क्रोध, उसके बाद तुम क्रोध न करोगे क्रोध की बात ही खत्म हो गयी। हाथ जल गया !

दूध का जला छाँछ भी फूंक-फूंक के पीने लगता है। लेकिन तुम्हें दूध से ही नहीं जलने दिया गया, छाँछ को फूंक के पीने की तो बात बहुत दूर।

तुम्हें सिखाया गया है, कामवासना से बचो, इसलिए तुम कामवासना में पड़े हो और सड़ते हो।

मैं तुमसे कहता हूँ, बचना मत। कामवासना में पूरे ही उतर जाना। ठीक तलहटी तक उतर जाना, ताकि और जानने को कुछ शेष न रह जाए। उसे इतनी पूर्णता से जान लेना कि रस ही खो जाए। जिस चीज़ को हम पूरा जान लेते हैं उसमें रस समाप्त हो जाता है। जहाँ-जहाँ रस हो तुम्हारा, जानना कि वहाँ-वहाँ अधूरा जानना हुआ है, इसलिए अधपकापन। और ऐसा जीवन पूरा अधपका रह जाता है।

पको !

अनुभव पकाता है।

अनुभव की धूप पकाती है।

अनुभव की पीड़ा पकाती है।

अनुभव की भूल-चूक पकाती है।

भटकाना पकाता है।

राह से उतर जाना पकाता है।

जब तुम पक जाते हो, गिर जाते हो।

उस गिरने में ही – उस गिरने में ही देवत्व का क्षण शुरू होता है।

इसलिए अपने को बचाओ मत; जल्दी करो। जहाँ-जहाँ रस हो उसे पूरा-पूरा भोग ही लो। भोगने में आधा-आधा मत करना।

मैं देखता हूँ : ऐसा ही होता है। मंदिर में बैठते हो तब दुकान की सोचते हो, क्योंकि दुकान पे कभी पूरे बैठे नहीं। जब दुकान पे बैठते हो तो मंदिर की सोचते हो, क्योंकि मंदिर में कभी पूरे बैठे नहीं। जहाँ हो वहीं अधूरे हो।

दुकान पे बैठते हो तब तुम्हें बड़ी ज्ञान की बातें सूझने लगती हैं कि 'इसमें क्या रखा है ! संसार असार है !' यह सब सुनी बकवास है। अगर यह तुमने जान लिया होता तो तुम्हारी जिंदगी में क्रांति हो गयी होती।

आखिरी प्रश्न : क्या भक्ति-साधना के भी कुछ साधन हैं, कुछ टेकनीक हैं ? या वह सर्वथा स्वतःस्फूर्त और सहज है ?

नहीं, कोई साधन नहीं है।

प्रेम काकहीं कोई साधन होता है ? कोई टेकनीक ? – कोई टेकनीक नहीं होता।

प्रेम परम साधन है, स्वयं ही :

'खाकसारी का है गाफिल ! बहुत ऊँचा मर्तबा !'

मिट जाने का, ऐ सोने वाले ! ... बहुत ऊँचाई है मिट जाने की।

'खाकसारी का है गाफिल ! बहुत ऊँचा मर्तबा



यह जमीं वोह है कि जिस पर आसमां कोई नहीं।'

बस भक्ति तो मिट जाना है, ना-कुछ हो जाना है; अपने को शून्य कर लेना है, ताकि परमात्मा तुममें पूर्ण हो सके; जगह देनी है ताकि उसका प्रवेश हो सके; टूटना है !

तुमने बहुत चीज़ों को टूटते देखा है, अभी अपने को टूटते नहीं देखा। तुमने बहुत चीज़ें मिटते देखीं, अपने को मिटते नहीं देखा। तुमने बहुतों को मरते देखा, अपने को मरते नहीं देखा।

भक्ति, अपने को मरते देखना है। वह मृत्यु का साक्षात्कार है।

'हुबाब देख लिया, आबगीना देख लिया

शिकस्ते दिल की नज़ाकत किसी को क्या मालूम !'

बुलबुले को देखा पानी के, उसको टूटता देखा...। कई बार तुमने देखा होगा पानी के बुलबुले को टूटता।

छोटे बच्चे सोप के बुलबुले उठाते हैं और उनका टूटना देखते हैं, उनकी रंगीनी देखते हैं सूरज की किरणों में। गौर किया ? बुलबुले के भीतर कुछ भी नहीं होता, बाहर भी कुछ नहीं; बाहर भी खाली आकाश है, भीतर भी खाली आकाश है, बीच में एक छोटी-सी पानी की पर्त है।

'हुबाब देख लिया' – ऐसे बुलबुले को टूटते देख लिया। 'आबगीना देख लिया' – कभी शीशे को पटक के देखा : टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, खंड-खंड हो जाता है। लेकिन यह कुछ भी नहीं है।

'शिकस्ते दिल की नज़ाकत किसी को क्या मालूम !'

जिसने दिल को टूटता देखा, उसकी सूक्ष्मता का किसी को कोई भी पता नहीं है। क्योंकि जहाँ दिल टूटता है, जहाँ दिल भी एक बबूले की तरह टूट जाता है, जहाँ तुम्हारा होना एक बबूले की तरह टूट जाता है – वहाँ तुम अचानक पाते हो कि भीतर की आत्मा विराट परमात्मा से मिल गयी; ज़रा-सी दीवाल थी, खो गयी !

तुम्हारा अहंकार काँच के दर्पण से ज्यादा नहीं है : गिरा नहीं कि टूटा। ज़रा झुको और गिरा दो इसे। मिटना सीखो – बस भक्ति का सूत्र इतना ही है।

योग में हज़ार विधियाँ हैं; भक्ति का सूत्र एक है। पर एक काफी है। वैसे ही जैसे कहावत है : सौ सुनार की एक लुहार की ! ऐसे ही योगी खटखट-खटखट बहुत मचाता है। इसलिए तो उसके कर्म को 'खटकरम' कहते हैं। बहुत उपद्रव करता है। न मालूम कितनी विधियाँ बनाता है ! इसलिए तो उसकी विधियों को गोरखधंधा कहते हैं। वह महायोगी गोरख के नाम से बना है शब्द :

गोरखधंधा ! गोरख ने इतनी विधियां खोजीं कि विधियों में ही कोई खो जाए, पहुँचने की तो बात ही अलग। इसलिए – गोरखधंधा।

भक्ति तो एक ही सूत्र जानती है: अपने को खो दो। झुको। मिटो।

परमात्मा द्वार पर खड़ा है: इधर तुम झुके नहीं, उधर वह मिला नहीं।

आज इतना ही।

## तीसरा प्रवचन

दिनांक ११ जनवरी, १९७६; श्री रजनीश आश्रम, पूना

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥ ७ ॥

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥ ८ ॥

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ ९ ॥

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥ १० ॥

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥ ११ ॥

भवतु निश्चयदाढ्यार्दूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥ १२ ॥

अन्यथा पातित्याशङ्कया ॥ १३ ॥

लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीधारणावधि ॥ १४ ॥

# बड़ी संवेदनशील है भक्ति

जीवन की व्यर्थता जब तक प्रगाढ़ अनुभव न बन जाए तब तक परमात्मा की खोज शुरू नहीं होती । जीवन की व्यर्थता का बोध ही उसकी तरफ पहला कदम है । जब तक ऐसी भ्रांति बनी है कि यहाँ कुछ खोज लेंगे, पा लेंगे, यहाँ कुछ मिल जाएगा सपनों की दुनिया में – तब तक परमात्मा भी एक सपना ही है; तब तक तुम उसे खोजने नहीं निकलते; तब तक तुम स्वयं को दाँव पर भी नहीं लगाते ।

परमात्मा मुफ्त मिलने वाला नहीं है । जो भी तुम हो, तुम्हारी परिपूर्ण सत्ता जब तक दाँव पर न लग जाए, तब तक परमात्मा से कोई मिलन नहीं । क्योंकि प्रेम इससे कम पर नहीं मिल सकता, और प्रार्थना इससे कम पर शुरू नहीं होती। यह काम जुआरियों का है, दुकानदारों का नहीं । यहाँ पूरी खोने की हिम्मत चाहिए । दीवानगी चाहिए ! मस्ती चाहिए !

लेकिन यह तभी सम्भव हो पाता है जब जो तुम्हारे पास है, वह व्यर्थ दिखायी पड़ता है; वह कूड़ा-कर्कट हो जाता है, तब तुम उसे पकड़ते नहीं ।

करोड़ों लोग परमात्मा के शब्द का उच्चार करते हैं, प्रार्थना करते हैं, पूजा करते हैं; लेकिन उसकी कोई झलक नहीं मिलती । क्या पूजा व्यर्थ है ? नहीं, करने वालों ने की ही नहीं । क्या प्रार्थना शून्य आकाश में खो जाती है, कोई प्रत्युत्तर नहीं आता ? प्रार्थना थी ही नहीं; अन्यथा प्रत्युत्तर तत्क्षण आता है । इधर तुमने पुकारा भी नहीं कि उधर प्रत्युत्तर मिला नहीं ! पर तुमने पुकारा ही नहीं । तुम सोचते हो कि तुमने पुकारा, तुम सोचते हो कि तुमने प्रार्थना की; लेकिन कभी तुमने हृदय को दाँव पर लगाया नहीं ।

आधे-आधे मन से न होगा । पूरे-पूरे की माँग है ।

तो, जब तक तुम्हें लगता है कि संसार में अभी कुछ मिल सकता है, रस कायम है, जब तक तुम जागे नहीं, सपने में थोड़े उलझे हो, जब तक तुम्हें सपने में भरोसा है कि यह सच है – तब तक परमात्मा की तरफ आशाओं का प्रवाह, आकाँक्षाओं का प्रवाह शुरू नहीं होता; तब तक प्रार्थना तुम्हारी अभीप्सा नहीं

होती, तुम्हारे हृदय की भाव-दशा नहीं होती; तब तुम्हारी प्रार्थना भी तुम्हारी चालाकी, तुम्हारे गणित, तुम्हारी होशियारी का हिसाब होती है। तुम सोचते हो : 'चलो, हो-न-हो कहीं परमात्मा हो ही न, प्रार्थना भी कर लो, पूजा भी कर लो, बिगड़ता क्या है! हानि क्या है! अगर लाभ हुआ तो हो जाएगा, न हुआ तो हानि तो कुछ भी नहीं।'

मैंने सुना है, एक नाटकगृह में ऐसा हुआ कि मध्य नाटक में, जो नाटक का प्रधान पात्र था, उसे हृदय का दौरा पड़ गया, वह मर गया। संयोजक परदे के बाहर आया, उसने क्षमा माँगी कि क्षमा करें, दुख की बात है, हृदय के दौरे के कारण प्रमुख नायक की मृत्यु हो गयी है और नाटक आगे न हो सकेगा। हम क्षमा-प्रार्थी हैं, लेकिन हमारे कोई हाथ की बात भी नहीं।

लोग नाटक में बड़े उलझे थे। अभी तो जिज्ञासा जगी थी, और यह तो बीच में सब टूट गया — जैसे नींद टूट गयी!

एक स्त्री ने खड़े हो के कहा कि छाती के ऊपर मालिश करो, अभिनेता की।

मैनेजर ने कहा, 'देवी जी, वह मर चुका है। अब मालिश से क्या लाभ होगा?'

उस स्त्री ने कहा, 'लाभ न हो, हानि क्या होगी?'

बस तुम्हारी प्रार्थना ऐसी ही है कि अगर लाभ न हुआ, कोई हर्जा नहीं, 'हानि क्या होगी!'

मरते वक्त नास्तिक भी आस्तिक हो जाते हैं, इस भय से कि कहीं परमात्मा हो ही न! बूढ़े होते-होते सभी नास्तिक आस्तिक होने लगते हैं, क्योंकि जैसे-जैसे मौत करीब आती है और पैर लड़खड़ाते हैं और अँधेरा घना होने लगता है और आकाश के तारे छुपने लगते हैं, सब आशाओं के दीये बुझने लगते हैं और लगता है कि अब सिर्फ कब्र के अतिरिक्त और कोई जगह न रही, तो नास्तिक भी परमात्मा का स्मरण करने लगता है : कौन जाने, शायद हो!

लेकिन 'शायद' से प्रार्थना नहीं बनती। 'शायद' से समझदारी तो समझ में आती है, प्रेम समझ में नहीं आता।

समझदारी से कोई कभी समझदार नहीं हुआ। समझदारी के कारण ही तो तुम नासमझ बने हो। तुम्हारी समझदारी ही महँगी पड़ रही है।

तो, परमात्मा की तरफ अगर तुम होशियारी से जा रहे हो, बही-खाते का हिसाब वहाँ भी फैला रहे हो, सोचते हो कि ठीक है, संसार को भी सँभाल लें, परमात्मा को भी सँभाल लें, दोनों नावों पर सवार हो जाएँ — तो तुम मुश्किल में पड़ोगे। तुम मुश्किल में पड़े हो, क्योंकि मैं देखता हूँ, तुम दोनों नावों में आधे-आधे खड़े हो।



नाव पर तो एक ही चढ़ा जाता है ... एक ही नाव पर चढ़ा जाता है, अन्यथा दुविधा पैदा हो जाती है। दो दिशाओं में चलोगे तो टूट जाओगे, खंड-खंड हो जाओगे, बिखर जाओगे। और जब तुम ही खंड-खंड हो गये, बिखर गये, जब तुम्हारे भीतर ही एकतानता न रही, तो प्रार्थना कौन करेगा, पूजा कौन करेगा? भीड़ थोड़े ही पूजा करती है; भीतर की एकता से पूजा उठती है; भीतर की अखंडता से सुगंध उठती है प्रार्थना की।

तो इस बात को पहले खयाल में ले लेना चाहिए तो ही भक्ति-सूत्र समझ में आ सकेंगे।

यह ज़िंदगी अगर तुम्हें अभी भी रसपूर्ण मालूम पड़ती है तो थोड़ा और जी लो। आज नहीं कल, रस टूट ही जाएगा।

जितना आदमी सजग हो उतने जल्दी रस टूट जाता है। जितना आदमी बेहोश हो, उतनी देर तक रस टिकता है। बेहोशी रस का सहारा है। जितनी तुम्हारे भीतर बुद्धिमानी हो — होशियारी नहीं कह रहा हूँ, चालाकी नहीं कह रहा हूँ; बुद्धिमत्ता हो — उतनी जल्दी तुम जीवन के रस से चुक जाओगे। और जब जीवन का रस चुकता है तभी तुम्हारी रसधार जो जीवन में नियोजित थी, मुक्त होती है : अब संसार में जाने को कोई जगह न बची; अब वह रास्ता रास्ता न रहा; अब चीज़ों की तरफ दौड़ने की बात न रही; अब संग्रह को बड़ा करना है, मकान बड़ा बनाना है, धन इकट्ठा करना है, पद-प्रतिष्ठा पानी है — यह सब व्यर्थ हुआ; अब तुम अपने घर की तरफ लौटते हो।

'घर बयाबां में बनाया नहीं हमने लेकिन
जिसको घर समझे हुए थे वह बयाबां निकला।'

कोई रेगिस्तान में घर नहीं बनाया था, लेकिन जिसको घर समझे हुए थे वही रेगिस्तान निकला, वही वीरान निकला।

जिस दिन तुम्हें अपना घर बयाबां मालूम पड़े, वीरान मालूम पड़े...वीरान है; सिर्फ तुम अपने सपनों के कारण उसे सजाये हो। जरा चौंक के देखो : जिसे तुम घर कह रहे हो, वह घर नहीं है, ज्यादा-से-ज्यादा सराय है; आज टिके हो, कल विदा हो जाना पड़ेगा। जो छिन ही जाना है, उसको अपना कहना किस मुँह से संभव है? जहाँ से उखड़ ही जाना पड़ेगा, जहाँ क्षण-भर को ठहरने का अवसर मिला है, पड़ाव हो सकता है, मंजिल नहीं है, और मंजिल के पहले घर कहाँ! घर तो वहीं हो सकता है जहाँ पहुँचे तो पहुँचे, जिसके आगे जाने को कुछ और न रहे।

परमात्मा के अतिरिक्त कोई घर नहीं हो सकता।

मुझसे लोग पूछते हैं, 'संन्यास की परिभाषा क्या?' तो मैं कहता हूँ, 'दो तरह

के घर बनाने वाले हैं, दो तरह के गृहस्थ हैं : एक जो संसार में घर बनाते हैं, उनको हम गृहस्थी कहते हैं; एक जो परमात्मा में घर बनाते हैं, वे भी गृहस्थ हैं, उनको हम संन्यासी कहते हैं – सिर्फ भेद करने को । घर अलग-अलग जगह बनाते हैं । एक हैं जो पानी पर जीवन को लिखते हैं, लिख भी नहीं पाते और मिट जाता है; और एक हैं जो जीवन की शाश्वतता पर लिखते हैं । एक हैं जो रेत पर घर बनाते हैं, जिनकी बुनियाद ही डगमगा रही है; और एक हैं जो जीवन की शाश्वतता को आधार की तरह स्वीकार करते हैं ।

पहला सूत्र है : 'वह भक्ति कामनायुक्त नहीं है, क्योंकि वह निरोध-स्वरूपा है ।'

संसार यानी कामना ।

संसार का ठीक अर्थ समझ लो, क्योंकि तुम्हें संसार का भी अर्थ गलत ही बताया गया है ।

कोई घर छोड़ के भाग जाता है तो वह कहता है, संसार छोड़ दिया । कोई पत्नी को छोड़ के भाग जाता है तो वह कहता है, संसार छोड़ दिया । काश, संसार इतना स्थूल होता ! काश, तुम्हारी पत्नी के छोड़ जाने से संसार छूट जाता ! काश, बात इतनी सस्ती होती ! तो संन्यास बहुत बहुमूल्य नहीं होता ।

संसार न तो पत्नी में है, न घर में है, न धन में है, न बाजार में है, न दुकान में है – संसार तुम्हारी कामना में है । जब तुम माँगते हो कि मुझे कुछ चाहिए, जब तक तुम सोचते हो कि मेरा संतोष, मेरा सुख, मुझे कुछ मिल जाए, उसमें है, तब तक तुम संसार में हो ।

जब तक माँग है तब तक संसार है ।

संसार का अर्थ है : तुम्हारा हृदय एक भिक्षापात्र है, जिसको लिये तुम माँगते फिरते हो – कभी इस द्वार, कभी उस द्वार । कितने ठुकराये जाते हो ! लेकिन फिर-फिर सँभल के माँगने लगते हो । क्योंकि एक ही तुम्हारे मन में धारणा है कि और ज्यादा, और ज्यादा मिल जाए, तो शायद सुख हो !

'और' की दौड़ संसार है ।

तो तुम मंदिर में भी बैठ जाओ और वहाँ भी अगर तुम माँग रहे हो तो तुम संसार में ही हो । तुम हिमालय पर चले जाओ, वहाँ भी आँख बंद करके अगर तुम माँग ही रहे हो, परमात्मा से कह रहे हो, 'और दे, स्वर्ग दे, मोक्ष दे,' इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि तुम क्या माँगते हो । संसार का कोई संबंध इससे नहीं है कि तुम क्या माँगते हो; संसार का संबंध बस इससे है कि तुम माँगते हो ।

इस बात को ठीक से समझ लेना, अन्यथा संसार छोड़ने का ढोंग भी हो जाता है और संसार छूटता भी नहीं ।



संसार तुम्हारे भीतर है, बाहर नहीं । संसार तुम्हारी इस माँग में है कि 'मैं जैसा हूँ वैसा काफी नहीं हूँ, कुछ चाहिए जो मुझे पूरा करे; मैं अधूरा हूँ, अतृप्त हूँ, असंतुष्ट हूँ, कुछ मिल जाए जो मुझे पूरा करे, तृप्त करे, संतुष्ट करे !'

स्वयं को अधूरा मानने में और आशा रखने में कि कुछ मिलेगा जो पूरा कर देगा, बस वहाँ संसार है ।

माँग छूटी : संसार छूटा ! तब कोई घर छोड़ने की ज़रूरत नहीं है, न पत्नी को छोड़ने की ज़रूरत, न पति को, न बच्चों को – उनका कोई कसूर नहीं है ।... घर में रहते तुम संसार से मुक्त हो जाते हो ।... पत्नी के पास बैठे तुम संसार से मुक्त हो जाते हो । बच्चों को सजाते-सँभालते तुम संसार से मुक्त हो जाते हो । क्योंकि संसार से मुक्त होने का केवल इतना ही अर्थ है कि अब तुम तृप्त हो, जैसे हो, जो हो; तुम्हारे होने में अब कोई माँग नहीं है; तुम्हारे होने में अब कोई आकाँक्षा नहीं है; तुम्हारा होना कामनातुर नहीं है; तुम अब एक कामनाओं का फैलाव नहीं हो, विस्तार नहीं हो – तुम बस हो : तृप्त, यही क्षण; और जैसे तुम हो, पर्याप्त से भी ज्यादा है !

तब तुम्हारी प्रार्थना धन्यवाद बन जाती है, माँग नहीं । तब तुम मंदिर कुछ माँगने नहीं जाते; तुम उसे धन्यवाद देने जाते हो कि 'तूने इतना दिया, अपेक्षा से ज्यादा दिया, जो कभी माँगा नहीं था वह दिया । तेरे देने का कोई अंत नहीं ! हमारा पात्र ही छोटा पड़ता जाता है और तू भरे जा रहा है !'

...तब भी तुम रोते हो जा के मंदिर में, लेकिन तब तुम्हारे आँसुओं का सौंदर्य और !

जब तुम माँग से रोते हो, तब तुम्हारे आँसू गंदे हैं, दीन हैं, दरिद्र हैं । जब तुम अहोभाव से रोते हो, तुम्हारे आँसुओं का मूल्य कोई मोती नहीं चुका सकते । तब तुम्हारा एक-एक आँसू बहुमूल्य है, हीरा है । आँसू वही है, लेकिन अहोभाव से भरे हुए हृदय से जब आता है, तो रूपान्तरित हो जाता है ।

तुम ज़रा फर्क करके देखना । तुम दुख में भी रोये हो, पीड़ा में रोये हो, असंतोष में रोये हो, शिकायत में रोये हो; कभी अहोभाव में भी रो कर देखना; कभी आनंद में भी रो के देखना– और तुम पाओगे : तुम्हारे बदलते ही आँसुओं का ढंग भी बदल जाता है । तब आँसू फूलों की तरह आते हैं । तब आँसुओं में एक सुगंध होती है जो इस लोक की नहीं है ।

मीरा भी रोती है, पर मीरा के आँसू भिखारी के आँसू नहीं हैं । चैतन्य भी रोते हैं, लेकिन चैतन्य के आँसू दीन-दरिद्र नहीं हैं; कुछ माँग से नहीं निकल रहे हैं, किसी अभाव से पैदा नहीं हुए हैं–किसी बड़ी गहन भाव-दशा से जन्मे हैं ! गंगा का जल भी उतना पवित्र नहीं है !

'वह भक्ति कामनायुक्त नहीं है, क्योंकि वह निरोधस्वरूपा है।'

निरोधस्वरूपा !—

साधारणतः भक्ति-सूत्र पर व्याख्या करने वालों ने निरोधस्वरूपा का अर्थ किया है कि जिन्होंने सब त्याग दिया, छोड़ दिया। नहीं, मेरा वैसा अर्थ नहीं है। ज़रा-सा फर्क करता हूँ, लेकिन फर्क बहुत बड़ा है। समझोगे तो उससे बड़ा फर्क नहीं हो सकता।

निरोधस्वरूपा का अर्थ यह नहीं है कि जिन्होंने छोड़ दिया—निरोधस्वरूपा का अर्थ है कि जिनसे छूट गया। निरोध और त्याग का वही फर्क है। त्याग का अर्थ होता है: छोड़ा; निरोध का अर्थ होता है: छूटा, व्यर्थ हुआ। जो चीज़ व्यर्थ हो-जाती है उसे छोड़ना थोड़े ही पड़ता है, छूट जाती है।

सुबह तुम रोज़ घर का कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करके बाहर फेंक आते हो तो तुम कोई जा के अखबारों के दफ्तर में खबर नहीं देते कि आज फिर त्याग कर दिया कूड़े-कर्कट का, ढेर-का-ढेर त्याग कर दिया ! तुम जाओगे तो लोग तुम्हें पागल समझेंगे। अगर कूड़ा-कर्कट है तो फिर छोड़ा, इसकी बात ही क्यों उठाते हो ?

तो जो आदमी कहता है, 'मैंने त्याग किया', वह आदमी अभी भी निरोध को उपलब्ध नहीं हुआ। क्योंकि त्याग करने का अर्थ ही यह होता है कि अभी भी सार्थकता शेष थी।

अगर कोई कहता है कि मैंने बड़ा स्वर्ण छोड़ा, बड़े महल छोड़े, गौर से देखना : स्वर्ण अभी भी स्वर्ण था, महल अभी भी महल थे।' छोड़ा'! छोड़ना बड़ी चेष्टा से हुआ। चेष्टा का अर्थ ही यह होता है कि रस अभी कायम था; फल पका न था, कच्चा था, तोड़ना पड़ा।

पका फल गिरता है; कच्चा फल तोड़ना पड़ता है।

तो त्यागी तो सभी कच्चे हैं। निरोध को उपलब्ध व्यक्ति पका हुआ व्यक्ति है। त्याग और निरोध का यही फर्क है।

नारद कह सकते थे, 'त्यागस्वरूपा है', पर उन्होंने नहीं कहा। 'निरोध-स्वरूपा'! व्यर्थ हो गयी जो चीज़, वह गिर जाती है, उसका निरोध हो जाता है।

सुबह तुम जागते हो तो सपनों का त्याग थोड़े ही करते हो, कि जाग के तुम कहते हो, 'बस रात-भर के सपने छोड़ता हूँ।' जागे कि निरोध हुआ। जागते ही तुमने पाया कि सपने टूट गये; सपने व्यर्थ हो गये; सपने सिद्ध हो गये कि सपने थे, बात समाप्त हुई; अब उनकी चर्चा क्या करनी है !

जो त्याग का हिसाब रखते हैं, समझना, भोगी ही हैं—शीर्षासन करते हुए, उलटे खड़े हो गये हैं, भोगी ही हैं।

एक संन्यासी को मैं जानता हूँ जो भूलते ही नहीं...। कोई चालीस साल



पहले उन्होंने छोड़ा था संसार—छोड़ा था, निरोध नहीं हुआ था—चालीस साल बीत गये, अभी भी छूटा नहीं। छोड़ा हुआ कभी छूटता ही नहीं। वे अभी भी कहते रहते हैं कि मैंने लाखों रुपये पे लात मार दी। मैंने उनसे एक दिन कहा कि लात लग नहीं पायी; तुमने मारी होगी; चूक गयी ! उन्होंने कहा, 'क्या मतलब ?'

'चालीस साल हो गये...छूट गया, छूट गया ! इसकी चर्चा क्यों खींचते हो, इसे रोज़-रोज़ याद क्यों करते हो ? रस कायम है। लाखों में अभी भी मूल्य है। अभी भी तुम दूसरों को भूलते नहीं बताना कि मैंने लाखों पे लात मारी। तुमने बैंक-बैलेंस कायम रखा है। गिनती जारी है। नहीं, यह त्याग तो है, निरोध नहीं।'

त्याग झूठा सिक्का है निरोध का। निरोध बड़ी अद्भुत घटना है !

रामकृष्ण के पास एक आदमी आया, हज़ार सोने की अशर्फियाँ लाया था, दान करने, उनको देने। उन्होंने कहा, 'मुझे ज़रूरत नहीं। तू एक काम कर, गंगा में फेंक आ।' वह गया, लेकिन घंटा-भर हो गया, लौटा नहीं, तो रामकृष्ण ने आदमी भेजे कि देखो, क्या हुआ, कहीं दुख में डूब तो नहीं मरा ! गये तो वह एक-एक अशर्फी को बजा-बजा के फेंक रहा था, भीड़ इकट्ठी हो गयी थी, लोग चमत्कृत हो रहे थे। तो उन्होंने आ के कहा कि वह एक-एक अशर्फी गिन-गिन के फेंक रहा है।

तो रामकृष्ण गये और उससे कहा, 'नासमझ ! जब कोई इकट्ठा करता है तब तो गिनना समझ में आता है। लेकिन जब फेंकना ही है तो क्या गिन के फेंकना ! नौ सौ निन्नानवे थीं कि हज़ार थीं, क्या फर्क पड़ता है ! कोई हिसाब रखना है पीछे कि कितनी फेंकीं, कि कितनी दान कीं ? अगर हिसाब रखना है तो फेंक ही मत, अपने घर ले जा। जब हिसाब ही नहीं छूटता है तो अशर्फियाँ छोड़ने से कुछ भी न होगा। असली चीज़ हिसाब का छूटना है; असली चीज़ अशर्फियों का छूटना नहीं है।'

जीसस ने कहा है : 'तुम्हारा एक हाथ जो दान करे, दूसरे हाथ को पता न पड़े।'

सूफी फकीर कहते हैं : 'नेकी कर, कुएँ में डाल। हिसाब मत रख। किया भूल, कुएँ में डाल दे। बात खत्म हो गयी, जैसे कभी हुई ही न थी।'

लेकिन तुम जाओ अपने त्यागियों के पास, महात्माओं के पास, तुम उनके पास पूरा हिसाब पाओगे। हिसाब ठीक भी नहीं पाओगे, बहुत बढ़ाया-चढ़ाया हुआ है। हज़ार छोड़े होंगे तो लाख हो गये हैं। अब पूछता कौन है ? और त्याग की परीक्षा भी क्या है, कसौटी भी क्या है ? तुम्हारे पास लाख रुपये हैं तो तुम रुपये दिखा सकते हो; लेकिन जिसने लाख छोड़े हैं उसके पास प्रमाण क्या है कि उसने लाख

छोड़े कि दस लाख छोड़े ? न केवल महात्मागण ऐसा करते हैं, महात्माओं के शिष्य उसको बढ़ाते चले जाते हैं।

महावीर ने महल छोड़ा, धन-सम्पत्ति छोड़ी, जैनियों ने जो शास्त्र लिखे हैं, उनमें इतना बढ़ा-चढ़ा के लिखा है, वह सरासर झूठ है। क्योंकि महावीर का साम्राज्य बड़ा छोटा-सा था, कोई बड़ा नहीं था। महावीर के समय भारत में दो हज़ार राज्य थे। कोई बहुत बड़ा नहीं था, एक छोटी डिस्ट्रिक्ट से ज्यादा नहीं, एक छोटे जिले से ज्यादा नहीं था। इतने हाथी-घोड़े जितने जैनियों ने लिखे हैं, अगर होते तो आदमियों के रहने की जगह न रह जाती। लेकिन बढ़-चढ़ जाता है।

कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध हुआ। हिन्दू उसकी जो कहानी बताते हैं, उसको अगर सुनो तो ऐसा लगता है कि उस युद्ध के लिए पूरी पृथ्वी कम पड़ेगी। कुरुक्षेत्र का छोटा-सा मैदान, उसमें अठ्ठारह अक्षौहिणी सेनाएँ बन नहीं सकतीं; लड़ना तो दूर, अगर वे प्रेम भी करना चाहें, शांत खड़े हो कर, तो भी संभव नहीं है। लड़ने के लिए थोड़ी जगह चाहिए, स्थान चाहिए! लेकिन बढ़ता जाता है...।

बुद्ध के भक्तों ने जो लिखा है वह सच नहीं है, क्योंकि बुद्ध की भी जगह बड़ी छोटी थी, वह कोई बहुत बड़ा साम्राज्य नहीं था। लेकिन जिस तरह की कहानियाँ हैं...और कहानियाँ बढ़ती चली गयी हैं।

क्यों ? इन कहानियों को बढ़ाने का कारण क्या है ? कारण साफ है कि हम त्याग को भी धन की मात्रा से ही समझ पाते हैं, और कोई उपाय नहीं है।

समझो, अगर महावीर फकीर के घर पैदा होते और पास धन न होता, तो तुम कैसे जानते कि उन्होंने त्याग किया ? वे घर छोड़ देते, लेकिन त्यागी तो नहीं हो सकते थे। महात्यागी तुम कैसे कहते ? था ही नहीं कुछ तो छोड़ा क्या ?

तुम्हें भीतर के रहस्य तो दिखायी नहीं पड़ते, बस बाहर की चीज़ें दिखायी पड़ती हैं। तब तो इसका अर्थ हुआ कि केवल धनी ही त्यागी हो सकते हैं। तब तो इसका अर्थ हुआ कि त्यागी होने के पहले बहुत धनी हो जाना ज़रूरी है। तब तो इसका अर्थ हुआ कि परमात्मा के जगत में भी अन्ततः धन का ही मूल्य है, उसी से हिसाब लगेगा।

एक फकीर ने सब छोड़ दिया, उसके पास दो पैसे थे। महावीर ने भी सब छोड़ दिया, उनके पास करोड़ रुपये थे। परमात्मा के सामने हिसाब में महावीर जीत जाएँगे, गरीब हार जाएगा। दो पैसे छोड़े! इन्होंने करोड़ छोड़े!

नहीं, परमात्मा के राज्य में तुमने क्या छोड़ा, इसका सवाल नहीं है; छोड़ा या नहीं छोड़ा, बस इसका ही सवाल है; छोड़ा या छूटा, इसका ही सवाल है।

निरोध का अर्थ है : छूट जाता है।



जिन्होंने संसार के सत्य को देखा, उनके जीवन में निरोध आ जाता है। उस निरोध को नारद ने भक्ति का स्वभाव कहा।

'वह भक्ति कामनायुक्त नहीं है, और निरोधस्वरूपा है।' उसका स्वरूप है निरोध।

जैसे ही संसार से कामना हटती है, वही कामना परमात्मा की दिशा में प्रार्थना बन जाती है, वही ऊर्जा! कोई अलग ऊर्जा नहीं है। वे ही हाथ जो भिक्षा-पात्र बने थे, प्रार्थना में जुड़ जाते हैं। वही हृदय जो धन-सम्पत्ति को माँगता फिरता था, परम अहोभाव में झुक जाता है। वही जीवन-ऊर्जा जो नीचे की तरफ भागती थी, खाई-खड्ड खोजती थी, आकाश की तरफ उठने लगती है।

'तेरी राह किसने बतायी न पूछ
दिले मुज्तरब राहबर हो गया।'

—तेरी राह किसने बतायी, यह मत पूछ—प्यासा दिल सद्गुरु हो गया; व्याकुल हृदय मार्गदर्शक बन गया!

'तेरी राह किसने बतायी न पूछ
दिले मुज्तरब राहबर हो गया।'

जिस दिन संसार से तुम्हारा रस टूटता है, व्याकुलता जगती है परमात्मा की। वही मार्गदर्शक हो जाता है। वही तुम्हें ले चलता है। उसी के सहारे लोग पहुँचते हैं।

संसार की माँग करता हुआ व्यक्ति उन हज़ार चीज़ों की माँग में चाहे तो परमात्मा की माँग को भी जोड़ सकता है, लेकिन वह फेहरिश्त में एक नाम होगा—लम्बी फेहरिश्त में! और मेरे खयाल से आखिरी होगा। अगर तुम्हारी फेहरिश्त में हज़ार नाम हैं तो वह एक हज़ार एक होगा।

मेरे पास लोग आते हैं और वे कहते हैं, 'हम प्रार्थना करना चाहते हैं, समय कहाँ!' इन्हीं लोगों को मैं सिनेमा में बैठे देखता हूँ। इन्हीं लोगों को मैं क्लब-घर में ताश खेलते देखता हूँ। इन्हीं लोगों को अखबार को पढ़ते देखता हूँ सुबह से उठ के। इन्हीं लोगों को व्यर्थ की गपशप में संलग्न देखता हूँ। ये ही लोग हज़ार तरह के उपद्रव में जुड़ जाते हैं, लड़ाई-झगड़ों में जुड़ जाते हैं। हिन्दू मुसलमानों को काटने लगते हैं, मुसलमान हिन्दुओं को काटने लगते हैं। ये ही लोग! लेकिन जब प्रार्थना का सवाल उठता है तो कहते हैं, 'समय कहाँ!'

वे क्या कह रहे हैं ? वे यह कह रहे हैं कि और बड़ी चीज़ें हैं परमात्मा से, समय पहले उनको दें, फिर बच जाए तो परमात्मा को दें। वे यह नहीं कह रहे हैं कि समय नहीं है; वे यह कह रहे हैं, समय तो है—समय तो सभी के पास बराबर है—लेकिन और चीज़ें ज्यादा ज़रूरी हैं। परमात्मा क्यू में बिलकुल अन्तिम खड़ा

है। पहले धन इकट्ठा कर लें, मकान बना लें, इज्जत-प्रतिष्ठा सम्हाल लें, फिर...। ऐसे परमात्मा प्रतीक्षा ही करता रहता है, 'फिर' कभी आता नहीं – आयेगा ही नहीं, क्योंकि इस संसार की दौड़ कभी पूरी नहीं होती।

यहाँ कुछ भी पूरा होने वाला नहीं है। यहाँ तो जितना पियो उतनी प्यास बढ़ती जाती है। यहाँ तो जितना भोजन करो उतनी भूख बढ़ती जाती है। यहाँ तो जितनी तिजोड़ी भरती जाए, उतना ही आदमी भीतर कृपण होता चला जाता है। दुनिया बड़ी अद्भुत है! यहाँ गरीब के पास तो अमीर का दिल मिल भी जाए, अमीर के पास बिलकुल गरीब का दिल होता है।

इन हज़ार उपद्रवों में अगर तुम सोचते हो कि परमात्मा को भी एक आकांक्षा बना लेंगे, तो सम्भव नहीं है। परमात्मा तो अभीप्सा बने, तो ही तुम अधिकारी होते हो। अभीप्सा का अर्थ होता है: सारी इच्छाएँ उसी की इच्छा में परिणत हो जाएँ; सारे नदी-नाले उसी के सागर में गिर जाएँ; उसके अतिरिक्त कुछ भी न सूझे; उसके अतिरिक्त हृदय में कोई आवाज़ न रहे; उसके अतिरिक्त श्वासों में कोई स्वर न बजे; उसका ही एकतारा बजने लगे!

फकीरों के पास तुमने एकतारा देखा है। कभी सोचा न होगा, एकतारा प्रतीक है: परमात्मा के लिए एक ही तार काफी है। सितार में और बहुत तार होते हैं, वीणा में बहुत तार होते हैं और सारंगी में बहुत तार होते हैं – वे संसार के प्रतीक हैं; एकतारा, परमात्मा का।

बस एकतारा! एक ही अभीप्सा का स्वर बजने लगे, दूसरी कोई ध्वनि भी न रह जाए, तो ही –

'रग रग में नेशे इश्क है, ऐ चारागर मेरे!
यह दर्द वह नहीं, कि कहीं हो, कहीं न हो।'
'रग रग में नेशे इश्क है, ऐ चारागर मेरे!
यह दर्द वह नहीं, कि कहीं हो, कहीं न हो।'

जब परमात्मा का दर्द तुम्हारे रग-रग में समा जाता है; जब तुम्हारा रोआँ-रोआँ उसी को पुकारता है; सोते और जागते अहर्निश उसका ही स्मरण बना रहता है; करो कुछ भी, याद उसकी ही; जाओ कहीं, याद उसकी ही; बैठो कि उठो कि सोओ, याद उसकी ही – जब रग-रग में ऐसा समा जाता है, तभी तुमने पात्रता पायी, तभी तुम अधिकारी हुए।

और ध्यान रखना, आज नहीं कल, इस महा क्रांति में उतरना ही पड़ेगा। लाख तुम कोशिश करो इस संसार को घर बना लेने की, सफलता मिलने वाली नहीं है। कोई कभी सफल नहीं हो पाया। सपने को सच कितना ही मानो, सपना एक दिन टूटता ही है। सपने का स्वभाव ही टूट जाना है। तुम उसे सच मान के थोड़ी-बहुत



देर नींद ले सकते हो, लेकिन सदा के लिए यह नींद नहीं हो सकती। सपने का स्वभाव ही शुरू होना, समाप्त होना है। इस संसार को, तुम लाख कोशिश करो... हम सब कोशिश कर रहे हैं... हम, हमारी सारी कोशिश यही है कि बुद्ध, नारद, मीरा, इन सबको हम गलत सिद्ध कर दें।

हम सबकी कोशिश क्या है? हमारी कोशिश यही है कि हम सिद्ध कर देंगे, संसार में सुख है; हम सिद्ध कर देंगे कि परमात्मा आवश्यक नहीं है; हम सिद्ध कर देंगे कि जीवन परमात्मा के बिना पर्याप्त है; हम सिद्ध कर देंगे कि धन में है कुछ, कि यह सपना नहीं है, माया नहीं है, सत्य है।

छोड़ो इस मूढ़ता को, कभी कोई कर नहीं पाया! लेकिन इस करने की कोशिश में लोग अपने जीवन को गँवा देते हैं।

'हज़ार तरह तखय्युल ने करवटें बदलीं
कफस कफस ही रहा, फिर भी आशियां न हुआ।'

नहीं, यह घर न बन पाएगा। यह जगह कारागृह है, यह घर न बन पाएगी। यहाँ तुम अजनबी हो। यहाँ तुम लाख उपाय करो, और कल्पनाएँ कितनी ही करवटें बदलें, हज़ार तरह से कल्पनाएँ सपने को सँजोएँ, लेकिन यह जाल कल्पना का ही रहेगा।

कल्पना तुम्हारी है; सत्य परमात्मा का है। जब तक तुम सोचोगे-विचारोगे, तब तक तुम सपने में रहोगे। जब तुम सोच-विचार छोड़ोगे और जागोगे, तब तुम जानोगे, सत्य क्या है।

सत्य मुक्तिदायी है। और जो मुक्त करे वही घर है। जहाँ स्वतंत्रता हो वही घर है।

कारागृह में और घर में फर्क क्या है? दीवालें तो उन्हीं ईंटों की बनी हैं, दरवाजे उन्हीं लकड़ियों के बने हैं।

कारागृह और घर में फर्क क्या है? घर में तुम मुक्त हो; कारागृह में तुम मुक्त नहीं हो – बस इतना ही फर्क है।

घर स्वतंत्रता है; कारागृह गुलामी है।

'हज़ार तरह तखय्युल ने करवटें बदलीं
कफस कफस ही रहा, फिर भी आशियां न हुआ।'

कारागृह में तुम बदलते रहो कल्पनाएँ अपनी, सोचते रहो, जाले बुनते रहो सपनों के, सजाते रहो भीतर से कारागृह को – नहीं, घर न हो पाएगा।

जो जितनी जल्दी जाग जाए इस सम्बंध में उतना ही सौभाग्यशाली है; जितनी देर लगती है उतना ही समय व्यर्थ जाता है; जितनी देर लगती है उतनी ही गलत आदतें मजबूत होती चली जाती हैं; जितनी देर लगती है उतने ही बंधन

और भी सख्त होते चले जाते हैं और तुम्हारी शक्ति क्षीण होती चली जाती है उन्हें तोड़ने की । इसलिए बुढ़ापे की प्रतीक्षा मत करना । अगर समझ आए तो जब समझ आ जाए, क्षण-भर भी स्थगित मत करना उस समझ को ।

'लौकिक और वैदिक समस्त कर्मों के त्याग को निरोध कहते हैं ।'

संस्कृत का मूल बहुत अद्भुत है ! हिन्दी में अनुवाद जो लोग करते हैं, उन्हें त्याग और निरोध का कोई भेद साफ नहीं है ।

संस्कृत का मूल कहता है :

लोक, वेद, व्यापार, इस सबका निरोध हो जाए, न्यास हो जाए, वही भक्ति है ।

इसे समझें हम ।

'इस लोक और परलोक के व्यापार का निरोध हो जाए ... ।'

इस लोक का व्यापार है : धन की दौड़ है, पद की दौड़ है । परलोक का भी व्यापार है : सुख, आनंद, मोक्ष, वे भी यात्रा ही हैं, वे भी दौड़ हैं । किसी तरह इस संसार से तुम ऊबते हो, ऊब नहीं पाए कि तुम दूसरे संसार के सपने देखने शुरू कर देते हो । इसी तरह सपने देखने वालों ने स्वर्ग बनाये, स्वर्ग में हज़ार कल्पनाओं को जगह दी, जो-जो यहाँ पूरा नहीं हो पाया है, वह-वह वहाँ रख लिया है । और कभी-कभी तो कल्पनाएँ बड़ी मूढ़तापूर्ण मालूम होती हैं कि विचारो तो बड़ी हैरानी होती है ।

मुसलमान कहते हैं, उनके स्वर्ग में बहिश्त में, शराब के चश्मे बह रहे हैं । यहाँ पीने नहीं देते । यहाँ कहते हैं पाप और वहाँ चश्मे बहाते हैं । तुम सोच सकते हो, बात बिलकुल सीधी है, यह चश्मों की कल्पना किसने की होगी । यह उन्होंने की है जिनको यहाँ पीने में रस था और त्याग कर दिया । यह सीधी-सी बात है, सीधा मनोविज्ञान है । यहाँ पीना चाहते थे, लेकिन डर की वजह से पी न पाये । यहाँ पीना चाहते थे, लेकिन धार्मिक शिक्षण की वजह से पी न पाये । यहाँ पीना चाहते थे लेकिन हिम्मत न जुटा पाये, तो अब स्वर्ग में चश्मे बहा रहे हैं । यहाँ चुल्लू-चुल्लू मिलती है, वहाँ डुबकी लगाएँगे ।

'जाहिद के कस्रे-जुहद की बुनियाद है यही
मस्जिद बहुत करीब थी, मैखाना दूर था ।'

वह जिनको तुम त्यागी समझते हो, उनके त्याग में अधिकतर तो त्याग यही है कि मस्जिद करीब थी और मधुशाला दूर थी ... इतना ही । इसका अर्थ यह हुआ कि धर्म का शिक्षण देने वाले लोग तो पास थे, शराब का विज्ञापन करने वाले लोग दूर थे । माँ-बाप, समाज, परिवार, मंदिर-मस्जिद, स्कूल-विद्यालय, वे सब शराब के खिलाफ हैं, वे सब मंदिर और मस्जिद के पक्ष में हैं । इसलिए बैठ तो



गये मंदिर में, बैठ तो गये मस्जिद में, लेकिन मन का राग, मन की कामना, कोई शिक्षण से थोड़े ही मिटती है, अनुभव से मिटती है । सोचते तो शराब की ही हैं; यहाँ नहीं मिली, तो अब कल्पना में फैलाव करते हैं : स्वर्ग में मिलेगी !

हिन्दुओं का स्वर्ग है ... ।

और बड़े मजे की बात है, अगर तुम किसी भी जाति का स्वर्ग ठीक से पहचान लो तो तुम यह भी समझ जाओगे : उस जाति ने किन चीज़ों की वर्जना की है । उस जाति के शास्त्रों को पढ़ने की जरूरत नहीं, उनका स्वर्ग समझ लो, फौरन पता चल जाएगा कि इस जाति ने किन-किन चीज़ों को जबरदस्ती त्यागा है ।

... हिन्दुओं के स्वर्ग में कल्पवृक्ष है, जहाँ सभी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं, बैठ जाओ उसके नीचे बस ! ऐसा भी नहीं कि कुछ समय का फासला पड़ता हो; समय लगता ही नहीं है । तुमने यहाँ कामना की कि वहाँ पूरी हुई ! तुमने कहा, 'भोजन आ जाए', थाल आ गये ! बस तुम यहाँ कह भी नहीं पाये थे और थाल मौजूद हो गये ।

हिन्दुओं के स्वर्ग में कल्पवृक्ष है – क्यों ? क्योंकि हिन्दुओं ने सभी इच्छाओं के त्याग का आग्रह किया है । सभी इच्छाओं का त्याग ! स्वभावतः जो किसी तरह अपने को समझा-बुझा के त्यागी हो जाएगा, वह इसी आशा में जी रहा है कि कभी तो मरेंगे, यह देह तो कोई ज्यादा दिन चलने वाली नहीं है, और कुछ साल बीत जाएँ, फिर कल्पवृक्ष है ! फिर उसके नीचे बैठ जाएँगे !

तुमने कभी देखा, दिन में कभी उपवास कर लो तो तुम रात-भर भोजन के सपने देखते हो ! ब्रह्मचर्य का व्रत ले लो तो सपने में स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ दिखायी पड़ती हैं ।

ये सपने हैं : कल्पवृक्ष ! शराब के चश्मे ! ये इस बात की खबर दे रहे हैं कि तुमने किस-किस चीज़ को ज़बरदस्ती छोड़ दिया है – अनुभव से नहीं, पक कर नहीं । संस्कार, शिक्षण, दबाव ... !

'मस्जिद बहुत करीब थी, मैखाना दूर था !' उतने दूर जाने की तुम हिम्मत न जुटा पाये । जाते तो प्रतिष्ठा दाँव पे लगती थी । तो तुमने एक तरकीब निकाली कि यहाँ मस्जिद में रहो, स्वर्ग में मैखाने में रह लेंगे । ऐसे तुमने अपने को समझाया । ऐसे तुमने समझौता किया ।

तुम्हारे स्वर्ग तुम्हारी कल्पनाओं के जाल हैं, और तुम्हारे नरक ... ? स्वर्ग तुमने अपने लिए बनाये हैं और नरक दूसरों के लिए – वे भी बड़े विचारणीय हैं ।

हिन्दुओं का नरक है, तो वहाँ भयंकर आग जल रही है, सतत अग्नि जलती है, बुझती नहीं । उसमें जलाये जा रहे हैं लोग । भारत गरमी से पीड़ित देश है ।

यहाँ सूर्य तपता है। तो शीतलता स्वर्ग में ... शीतलमंद बहार बहती है ! सुबह ही बनी रहती है स्वर्ग में, दुपहर नहीं आती। बस सुबह की ही ताज़गी बनी रहती है। फूल खिलते हैं, मुरझाते नहीं। और शीतल हवा बहती रहती है। नरक में भयंकर लपटें हैं। वह गरम देश की धारणा है।

तिब्बती, वे नहीं बनाते, वे नहीं कहते कि नरक में लपटें हैं। उनका स्वर्ग गरम और ऊष्ण है, क्योंकि ठंढे मुल्क के लोग मरे जा रहे हैं ठंढ से; नरक में बर्फ-ही-बर्फ जमी है; उसमें लोग गल रहे हैं बर्फ में !

न तो कहीं कोई स्वर्ग है, न कहीं कोई नरक है। स्वर्ग तुम बनाते हो अपने लिए। जो-जो कामनाएँ तुम पूरी करना चाहते थे और नहीं कर पाये, तो तुम स्वर्ग में कर लेते हो। स्वर्ग हिन्दुओं का बिलकुल एयरकंडीशंड है, वातानुकूलित है। वहाँ कोई ताप नहीं लगती। पसीना नहीं आता स्वर्ग में – पसीना आता ही नहीं।

और जो तुम छोड़ दिये हो, अपने लिए कल्पना कर रहे हो, और दूसरों ने नहीं छोड़ा .. समझो कि तुम शराब पीना चाहते थे और नहीं पी पाये, तो तुमने अपने लिए तो स्वर्ग में इंतज़ाम कर लिया और जो पी रहे हैं, उनके लिए क्या करोगे ? उनको भी दण्ड तो मिलना ही चाहिए, क्योंकि तुमने त्याग किया, उन्होंने त्याग नहीं किया, तो उनको नरक की लपटों में जलाया जाएगा। और वहाँ शराब तो दूर, पानी भी पीने को न मिलेगा। आग की लपटें होंगी, कण्ठ आग से भरा होगा, और पानी नहीं मिलेगा ! पानी की बूंद नहीं मिलेगी !

इससे पता चलता है तुम्हारे मन का, तुम्हारी खुद की परेशानी का, तुम्हारी हिंसा का, तुम्हारी वासना का। न किसी स्वर्ग का इससे पता चलता है, न किसी नरक का इससे पता चलता है।

भक्ति तो उसे उपलब्ध होती है जिसको न इस संसार की कोई कामना रही न उस संसार की। जिसकी कामना का व्यापार निरुद्ध हो गया; जिसने कहा, 'अब हमें कुछ माँगना ही नहीं है, न यहाँ न वहाँ', माँग ही छोड़ दी – उसे सब मिल जाता है 'यहीं'।

'उस प्रियतम भगवान में अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषय में उदासीनता को भी निरोध कहते हैं।'

बिलकुल ठीक !

'उस प्रियतम भगवान में अनन्यता' ... ! जैसे हम उसके साथ एक हो गये, अनन्य ! ज़रा भी भेद न रह जाए ! रत्ती-भर भी फासला न रह जाए ! मैं और तू का भी फासला न रह जाए !

'उस प्रियतम में अनन्यता अपने-आप ही उसके प्रतिकूल विषय में उदासीनता बन जाती है।'



'उदासीनता' शब्द को समझ लेना ज़रूरी है। उदासीनता निरोध का मार्ग है।

जिसको तुम त्यागी कहते हो, वह उदासीन नहीं होता। जो आदमी शराब का त्याग करता है, वह शराब के प्रति उदासीन नहीं होता; शराब के प्रति बड़े विरोध में होता है – उदासीन कैसे होगा ? – विरोध में होता है।

उदासीन का तो अर्थ है : हमें कोई प्रयोजन नहीं। विरोध का अर्थ है : शराब ज़हर है।

जो आदमी कामवासना में उदासीन होता है, वह कामवासना के विरोध में नहीं होता। अगर कोई दूसरा कामवासना में जा रहा है तो इससे उसके मन में निंदा पैदा नहीं होती – 'यह उसकी मर्जी है ! यह उसकी समझ है ! उसका समय न आया होगा, कभी आयेगा।' उस पे करुणा आ सकती है, क्रोध नहीं आता।

जो आदमी धन में उदासीन है, उसके मन में धन की कोई निंदा नहीं होती। वह धन को पाप नहीं कहता। वह इतना ही कहता है कि धन की उपयोगिता है, लेकिन वह उपयोगिता बड़ी क्षणिक है। वह इतना ही कहता है कि धन सब कुछ नहीं है। वह यह नहीं कहता कि धन कुछ भी नहीं है। वह इतना ही कहता है, संसार में उपयोगी होगा; लेकिन संसार सब कुछ नहीं है। वह धन के विरोध में नहीं है।

ऐसे त्यागी हैं कि अगर उनके सामने तुम रुपये ले जाओ तो वे आँख बंद कर लेते हैं। अब यह उदासीनता न हुई। ऐसे त्यागी हैं जो धन को हाथ से नहीं छूते। यह उदासीनता न हुई।

एक आदमी मुझे मिलने आया – एक संन्यासी। कोई दो वर्ष हुए। तो मैंने उन्हें कहा कि ठीक है, कभी एक शिविर में आ जाओ तो ध्यान करो। उन्होंने कहा कि यह ज़रा मुश्किल है। उनके साथ एक आदमी और था। तो मैंने पूछा, 'इसमें क्या मुश्किल है ?'

उन्होंने कहा, 'मैं पैसा नहीं छूता। तो ट्रेन में सफर करो तो टिकट भी खरीदनी पड़ती है।'

तो मैंने कहा, 'तुम यहाँ तक कैसे आये ?'

तो वे बोले, 'यह आदमी साथ है। पैसे यह रखता है; मैं छूता भी नहीं। तो यह साथ आने को तैयार हो तो ही मैं शिविर में आ सकता हूँ।'

अब यह तो पैसे से भी ज्यादा बड़ी गुलामी हो गयी। पैसा, और यह आदमी भी उलटा...! इससे तो अकेले पैसे की गुलामी भी ठीक थी, अब यह कम-से-कम आदमी एक और उपद्रव है। और पैसे इन्हीं के हैं, रखता वह है ! यह दोहरी गुलामी हुई।

उदासीनता का अर्थ है : हो तो हो ठीक, न हो तो न हो ठीक । उदासीनता में कोई पक्षपात नहीं है । उदासीनता बड़ी अद्‌भुत बात है । वह वैराग्य का परम लक्षण है ।

इसलिए अगर तुम किसी विरागी में पाओ उदासीनता की जगह विरोध, तो समझना कि चूक हो गयी । अगर वह घबड़ाये तो समझना कि रस कायम है; जिस चीज से घबड़ाता है उसी का रस कायम है । अगर धन छूने से डरे तो समझना कि धन का लोभ भीतर मौजूद है । अगर स्त्री को देखने से डरे तो समझना कि कामवासना भीतर मौजूद है । क्योंकि हम उसी से डरते हैं जिसमें गिरने की हमें संभावना मालूम होती है, शंका मालूम होती है ।

उदासीनता का अर्थ है : कोई फर्क नहीं पड़ता ।

ऐसा हुआ कि बुद्ध एक वृक्ष के नीचे ध्यान करते थे, पूर्णिमा की रात थी, और पास के नगर से कुछ युवक, धनपतियों के लड़के, एक वेश्या को ले के जंगल में आ गये थे – मौज-रंग करने ! वे तो शराब पी के मस्त हो गये, वेश्या ने मौका देखा कि वे तो शराब पी के होश खो दिये हैं, वह भाग खड़ी हुई ।

जब सुबह होने के करीब आयी और उनको ठंढ लगी और होश आया और देखा कि वह वेश्या तो भाग गयी है, तो वे उसकी खोज में निकले । उसी रास्ते पर बुद्ध ध्यान करते थे, उनके पास आये और उन्होंने कहा कि ‘ यहाँ से कोई स्त्री तो नहीं निकली ?’

बुद्ध ने कहा, ‘ कोई निकला ज़रूर, लेकिन स्त्री थी या पुरुष, यह ज़रा कहना मुश्किल है – क्योंकि मेरा रस ही न रहा । कोई निकला ज़रूर, लेकिन स्त्री थी या पुरुष, इसमें मेरा रस न रहा । ’

यह उदासीनता है ।

बुद्ध ने कहा कि जब तक मेरा रस था, तब तक गौर से देखता भी था : कौन कौन है ! अब मेरा कोई रस नहीं है ।

जब रस खो जाता है तो सिर्फ एक उदासीनता होती है, एक शांति तुम्हें घेर लेती है । उसमें कोई पक्षपात नहीं होता ।

‘ उस प्रियतम में अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषय में उदासीनता को भी निरोध कहते हैं । ’

‘ पीना-न-पीना एक है ज़ाहिद ! खता मुआफ
नीयत जब एतबार के काबिल नहीं रही । ’

जब तक नीयत पर एतबार न हो, जब तक अपने भीतर की स्थिति पे भरोसा न हो तब तक तुम कसमें भी ले लो, तो कुछ फर्क नहीं पड़ता; व्रत धारण कर लो, कोई फर्क नहीं पड़ता । क्योंकि असली बात तो नीयत है । तुम



पियो-न पियो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता; घर में रहो कि बाहर रहो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता; पूजा करो कि न करो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता – असली सवाल तुम्हारे भीतर की नीयत का है । अगर नीयत साफ है तो तुम कहीं भी रहो, मंदिर ही पाओगे । अगर नीयत साफ नहीं है, तो तुम मंदिर में रहो, तुम वेश्या-गृह में ही रहोगे । क्योंकि आदमी अपनी नीयत में रहता है, अपने भीतर की मनोदशा में रहता है ।

‘ उस प्रियतम में अनन्यता... । ’

‘ कैसी तलब, कहाँ की तलब, किसलिए तलब
हम हैं तो वह नहीं है, वह है तो हम नहीं । ’

एक ही बच सकता है प्रेम में, दो नहीं । या तो परमात्मा बचेगा तो तुम न बचोगे, या तुम बचोगे तो परमात्मा न बचेगा ।

‘ कैसी तलब, कहाँ की तलब, किसलिए तलब
हम हैं तो वह नहीं है, वह है तो हम नहीं । ’

अनन्यता का अर्थ है : एक ही बचेगा ।

‘ प्रेम गली अति सांकरी तामे दो न समाय ’ – उसमें दो नहीं समा सकते ।

तो भक्त धीरे-धीरे भगवान हो जाता है, भगवान धीरे-धीरे भक्त हो जाता है ।

रामकृष्ण पूजा करते हैं तो भोग लगाने के पहले खुद चख लेते हैं । मंदिर के ट्रस्टियों ने बुलाया कि ‘ यह तो पूजा न हुई । किस शास्त्र में लिखा है ? भगवान को भोग पहले लगाओ, फिर जो बचे, वह तुम भोजन करो । लेकिन यह तो बात तो गलत हो रही है । यह उलटा हो रहा है । तुम भगवान को झूठा भोग लगा रहे हो ! तुम पहले चखते हो । ’

रामकृष्ण ने कहा, ‘ सम्हाल लो फिर अपनी नौकरी, मैं चला । क्योंकि मेरी माँ जब भी भोजन बनाती थी तो पहले खुद चखती थी, फिर मुझे देती थी । जब माँ का प्रेम इतनी फिक्र करता था तो यह प्रेम तो उससे भी बड़ा है । मैं बिना चखे भोग नहीं लगा सकता भगवान को, पता नहीं लगाने योग्य है भी या नहीं ! ’

ऐसी अनन्यता, ऐसी निकटता, इतनी समीपता, कि धीरे-धीरे सीमाएँ खो जाएँ !

तो कभी ऐसा होता कि रामकृष्ण दिन-भर नाचते रहते और कभी ऐसा होता कि पखवाड़ा बीत जाता और मंदिर में न जाते । फिर बुलाये गये कि यह क्या मामला है, मंदिर खाली पड़ा रहता है, पूजा नहीं होती ! रामकृष्ण कहते, ‘ जब होती है तब होती है, जब नहीं होती तब नहीं होती । जब ‘ वह ’ बुलाता है और जब अनन्यता का भाव जगता है तभी ... । जब दूरी रहती है, तब क्या

सार ? जब मैं रहता हूँ तब पूजा किसकी ? जब वही बचता है तभी होती है। अब यह मेरे हाथ में नहीं है कि वही बचे। जब होता है तब होता है। सहजस्फूर्त है!'

रामकृष्ण जैसा पुजारी फिर किसी मंदिर को न मिलेगा। दक्षिणेश्वर के भगवान धन्यभागी हैं कि रामकृष्ण जैसा पुजारी मिला।

अनन्य-भाव का अर्थ है : 'मैं' और 'तू' दो नहीं, एक ही बचता है। वस्तुतः दोनों तरफ से प्रेमी-प्रेयसी या भक्त और भगवान, दोनों खोते जाते हैं और दोनों के बीच में एक नये सत्य का आविर्भाव होता है, एक नये ज्योतिर्मय चैतन्य का आविर्भाव होता है, जिसमें भक्त भी खो गया होता है एक कोने से, दूसरे कोने से भगवान भी खो गया होता है।

भक्त और भगवान तो द्वैत की भाषा है; भक्ति तो अद्वैत है।

'उस प्रीतम में अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषय में उदासीनता को भी निरोध कहते हैं।'

और जिसने भी उसके साथ ऐसी एकतानता साध ली, वह संसार के प्रति उदासीन हो जाता है; छोड़ना नहीं पड़ता संसार, त्यागना नहीं पड़ता संसार, सब छूट जाता है, व्यर्थ हो जाता है; सार्थकता ही नहीं रह जाती, छोड़ने को क्या बचता है!

'अपने प्रीतम को छोड़ कर दूसरे आश्रयों के त्याग का नाम अनन्यता है।'

परमात्मा तुम्हें ऐसा भर दे कि तुम्हारे भीतर कोई रत्ती-भर जगह न बचे जो उससे भरी हुई नहीं है, तुम लबालब उससे भर जाओ, तुम ऊपर से बहने लगो ऐसे भर जाओ, कोई दूसरा आश्रय न बचे, किसी दूसरे की तरफ कोई और लगाव न रह जाए, सभी लगाव उस एक के प्रति ही समर्पित हो जाएँ...!

'अपने प्रीतम को छोड़ कर दूसरे आश्रयों के त्याग का नाम अनन्यता है।'

'देखता था मैं निगाहों से हर एक जा तुझको
देखता था मैं निगाहों से हर एक जा तुझको
और उन्हीं में तू निहां था, मुझे मालूम न था।'

'आँखों से खोजता था तुझे सब जगह और यह मुझे पता नहीं था कि तू मेरी आँखों में ही बैठा हुआ है! तू खोजने वाले में ही छिपा है। तू मेरे देखने में ही छिपा है। और मैं निगाहों से खोजता था हर एक जा तुझको, और यह पता न था...।'

तुम जब तक परमात्मा को बाहर खोज रहे हो, खोज न पाओगे। वह उन निगाहों में ही छिपा है, उस दृष्टि में ही, उस देखने की क्षमता में ही! वह तुम्हारे होश में छिपा है। वह तुम्हारे होने में छिपा है।

'देखता था मैं निगाहों से हर एक जा तुझको



और उन्हीं में तू निहां था, मुझे मालूम न था।'

तुम मंदिर हो।

परमात्मा को खोजने किसी और मंदिर में जाने की जरूरत नहीं है; अपने ही भीतर डूब कर पाया है जिन्होंने भी पाया है।

अगर तुम सारे आसरे छोड़ दो, सारे सहारे छोड़ दो, तुम अपने में ही डूब जाओगे। जो भी तुम पकड़े हो आसरे की तरह, वही तुम्हें अपने से बाहर अटकाये हुए है। धन का आसरा है, पद का आसरा है, मित्र का आसरा है, संगी-साथियों का, परिवार का आसरा है, पति-पत्नी का आसरा है! जिन-जिन आसरों को तुम सोच रहे हो कि ये सहारे हैं, सुरक्षा है, वही तुम्हें बाहर अटकाये हैं।

छोड़ दो सब आसरे!
बे-आसरे हो जाओ!
बे-सहारा हो जाओ!
असहाय हो जाओ!

और अचानक तुम पाओगे : तुम्हें अपने ही भीतर वह भूमि मिल गयी जिसे जन्मों-जन्मों खोजते थे और न पाते थे; अपने ही भीतर वह हाथ मिल गया जो शाश्वत है। अब किसी और आसरे की कोई ज़रूरत न रही।

'लौकिक और वैदिक कर्मों में भगवान के अनुकूल कर्म करना ही उसके प्रतिकूल विषय में उदासीनता है।'

और फिर ऐसा व्यक्ति, जिसकी अनन्यता सध गयी परमात्मा से, जिसका तार मिल गया, तन्मयता बँध गयी, एक सामंजस्य आ गया, हाथ परमात्मा के हाथ में हो गया जिसका—ऐसा व्यक्ति फिर उसके ही अनुकूल कर्म करता है, 'वह' जो करवाता है वही करता है। फिर उसका अपना कर्ता-भाव चला जाता है। फिर वह कहता है, 'जो वह करवाये! जो उसकी मर्जी! जो नाच नचाये, वही मेरा जीवन है।' फिर अपनी तरफ से निर्णय लेना, अपनी तरफ से विचार करना, सम्भव नहीं है।

'विधि-निषेध से अतीत अलौकिक प्रेमप्राप्ति का मन में दृढ़ निश्चय हो जाने के बाद भी शास्त्र की रक्षा करनी चाहिए, अन्यथा गिर जाने की संभावना है।'

यह सूत्र महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ऐसा घटता है। जब तुम्हें ऐसा लगता है कि तुम परमात्मा के अनुसार चलने लगे, जब तुम्हें ऐसा लगता है कि अब तो तुम एक हो गये, तो सारी विधि-निषेध के पार हो गये, अब समाज का कोई नियम तुम पे लागू नहीं होता।

सच है, कोई नियम लागू नहीं होता; लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि तुम नियम छोड़ के चलने लगो। तुम पर नियम नहीं लागू होता, समाज तो अब भी

नियम में जीता है। तुम जिस समाज में हो, उस समाज के लिए तुम अड़चन मत बनो, सहारा बनो; उस समाज के लिए तुम उपद्रव का कारण न बनो, मार्ग बनो।

इसलिए नारद कहते हैं, 'विधि-निषेध से अतीत...।' कोई नियम लागू नहीं होता प्रेम पर, भक्त पर। वह पहुँच गया वहाँ, सब नियमों के पार, परम नियम उसे मिल गया प्रेम का, अब उस पे कोई नियम लागू नहीं होता। लेकिन फिर भी, अगर वह रास्ते पे चले तो उसे बाएँ ही चलना चाहिए, क्योंकि सारा ट्रेफिक बाएँ ही चल रहा है। अगर वह दाएँ चलने लगे, वह कहे कि हम तो भक्ति को उपलब्ध हो गये, तो खतरा है—खतरा है पतन का। असल में इस तरह का आग्रह वही आदमी करेगा जो अभी उपलब्ध ही नहीं हुआ है, वस्तुतः उपलब्ध नहीं हुआ है। क्योंकि उपलब्ध हो के तो कोई नहीं गिरता, असम्भव है गिरना।

इसे थोड़ा गौर से समझ लेना।

जो उपलब्ध नहीं हुआ है परमात्मा को, वही इस तरह का आग्रह करेगा कि मुझ पे तो कोई नियम लागू नहीं होता। यह अहंकार की नयी उद्घोषणा है। यह अहंकार का नया खेल शुरू हुआ। एक नया संसार चला अब। वह कहेगा, 'मुझ पे कोई नियम लागू नहीं होता। मैं तो अब उसके ही सहारे जीता हूँ। इसलिए जो 'वह' करवाता है वही करता हूँ।'

इसकी आड़ में कहीं तुम अपने अहंकार को मत छिपा लेना। कहीं ऐसा न हो कि यह भी धोखा हो तुम्हारा।

इसलिए सूत्र कहता है : सजग रहना। ऐसी स्थिति भी आ जाए कि तुम विधि-निषेध के पार हो जाओ, तो भी शास्त्र की रक्षा जारी रखना। उस रक्षा में तुम्हारी रक्षा है। उस रक्षा में दूसरों की रक्षा तो है ही, तुम्हारी भी रक्षा है। क्यों? क्योंकि तुम अपने अहंकार को सजाने-सँवारने का नया उपाय न पा सकोगे।

और स्मरण रखना, जो विधि-निषेध के पार हो गया, वह विधि-निषेध को तोड़ने की चिंता में नहीं पड़ता। जो पार ही हो गया, वह चिंता क्या करेगा तोड़ने की! वह कमल जैसा पार हो जाता है पानी के। जो पार हो गया है वह जीवन को चुपचाप स्वीकार कर लेता है जैसा है; लोग जैसे जी रहे हैं, ठीक है।

छोटे बच्चे खिलौनों से खेल रहे हैं, तुम वहाँ जाते हो, तुम जानते हो, वे खिलौने हैं; तुम जानते हो, खेल के नियम सब बनाये हुए हैं। लेकिन बाप भी छोटे बच्चों के साथ जब खेलता है तो खेल के नियम मानता है। वह यह नहीं कह सकता कि मैं कोई छोटा बच्चा नहीं हूँ, मैं नियम के बाहर हूँ। छोटे बच्चे के साथ छोटे बच्चों की तरह ही व्यवहार करेगा—यही प्रौढ़ का लक्षण है।

तो जो व्यक्ति वस्तुतः भक्ति के परम सूत्र को उपलब्ध होता है, वह तोड़ नहीं देता जीवन की व्यवस्था को। वह कोई अराजकता नहीं ले आता।



जीसस ने कहा है कि मैं शास्त्र को खंडित करने नहीं, पूर्ण करने आया हूँ।

वह शास्त्र के मूल स्वभाव का पुनः पुनः उद्घाटन करता है। वह शास्त्र के खो गये सूत्रों को पुनः पुनः पुनरुज्जीवित करता है। वह शास्त्र पर जम गयी धूल को हटाता है। वह शास्त्र के दर्पण को निखारता है ताकि फिर तुम शास्त्र के दर्पण में अपने चेहरे को देख सको, फिर तुम अपने को पहचान सको। सदियों में शास्त्र पर जो धूल जम जाती है, सदियों में शास्त्र पर जो व्याख्या की परतें जम जाती हैं, उनको फिर वह अलग कर देता है, लेकिन शास्त्र की रक्षा करता है। क्योंकि शास्त्र तो उनके वचन हैं जिन्होंने जाना। वे बुद्धपुरुषों के वचन हैं। व्याख्याएँ कितनी ही गलत हो गयी हों, लोगों ने कितना ही गलत अर्थ लिया हो; लेकिन मूल तो बुद्धपुरुषों से आता है, मूल तो गलत नहीं हो सकता।

मुझसे लोग पूछते हैं कि मैं क्यों शास्त्रों की व्याख्या कर रहा हूँ। इसीलिए कि जो धूल जमी हो वह अलग हो जाए, ताकि मैं तुम्हें उनका खालिस सोना जाहिर कर सकूँ। अगर मैं तुम्हें कभी शास्त्र के विपरीत भी मालूम पड़ूं, तो समझना कि तुम्हारे समझने में कहीं भूल हो गयी है; तो समझना कि तुमने शास्त्र का जो अर्थ समझा था वह अर्थ शास्त्र का न था, इसलिए मैं विपरीत मालूम पड़ रहा हूँ। अन्यथा मैं भी तुमसे कहता हूँ कि शास्त्र का खंडन करने नहीं, शास्त्र का शुद्धतम स्वरूप आविष्कृत करने की सारी चेष्टा है।

'लौकिक कर्मों को भी तब तक (बाह्य ज्ञान रहने तक) विधिपूर्वक करना चाहिए, पर भोजनादि कार्य, जब तक शरीर रहेगा, होते रहेंगे।'

जो बाह्य कर्म हैं, उन्हें साधारणतः जैसी विधि हो, जैसी समाज की धारणा हो, वैसे ही करते जाना चाहिए—बाह्य ज्ञान रहने तक! क्योंकि भक्ति में ऐसी घड़ियाँ भी आती हैं जब बाह्य ज्ञान बिलकुल खो जाता है, तब सूत्र लागू नहीं होता। क्योंकि ऐसी भी घड़ियाँ आती हैं जब मस्ती ऐसे शिखर छूती है कि बाह्य ज्ञान ही नहीं रह जाता। रामकृष्ण छह-छह दिन के लिए बेहोश हो जाते थे। तब फिर अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। तब वे अपने में इतने लीन हो जाते थे, इतने दूर निकल जाते थे कि उनके शरीर को ही सम्हाल के रखना पड़ता था।

'लेकिन भोजनादि कार्य तब तक होते रहेंगे जब तक शरीर है।'

इस सूत्र से यह समझ लो कि जीवन में वासना तो हटनी चाहिए, जरूरतें हटाने का सवाल नहीं है। भोजन तो जरूरी है। वस्त्र जरूरी हैं। छप्पर जरूरी है। जो जरूरी है उसका कोई निषेध नहीं है; निषेध है गैरजरूरी का, जो कि केवल मन की आकांक्षा से पैदा होता है, जिसके बिना तुम रह सकते थे, मजे से रह सकते थे, जिसके बिना कोई अड़चन न पड़ती थी, शायद और भी मजे से रह सकते।

एक बहुत बड़ा विचारक हुआ : अल्डुअस हक्सले। कैलीफोर्निया में उसका

मकान था, और जीवन-भर उसने बड़ी बहुमूल्य चीज़ें इकट्ठी की थीं–पुराने शास्त्र, बहुमूल्य अनूठी किताबें, चित्र, पेंटिंग, मूर्तियाँ, शिल्प। बड़ा संवेदनशील व्यक्ति था। उसके पास बहुमूल्य भण्डार था अनूठी चीज़ों का। सारे संसार से उसने इकट्ठा किया था। उसकी कीमत कूतनी आसान नहीं। अचानक एक दिन आग लग गयी और सब जल के राख हो गया।

अल्डुअस हक्सले ने कहा कि मैंने तो सोचा था कि मैं मर जाऊँगा इसके दुख से, लेकिन अचानक, जिसकी कभी अपेक्षा भी न की थी, ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे एक बोझ हलका हो गया। एक बोझ! वह खुद भी चौंका यह अनुभव देख के। सामने ही जल रहा है उसका विशाल संग्रहालय और वह सामने खड़ा है लपटों के, और उसने कहा कि मुझे लगा कि मैं एकदम हलका हो गया हूँ और मुझे ऐसा लगा जैसे मैं स्वच्छ हो गया हूँ। 'आइ फैल्ट क्लीन'। एक ताज़गी!

तुम्हें पता नहीं है कि बहुत-सी गैरज़रूरी चीज़ों ने तुम्हें जीवन तो नहीं दिया है, बोझ दिया है। उनके बिना तुम ज्यादा स्वस्थ हो सकते थे। उनके बिना तुम ज्यादा प्रसन्न हो सकते थे। उन्होंने सिर्फ तनाव दिया है, चिंता दी है।

ज़रूरत को छोड़ने का कोई सवाल नहीं है। भक्ति कोई ज़बरदस्ती त्याग नहीं सिखाती। यह भक्ति की खूबी है और उसकी स्वाभाविकता है। जीवन की सामान्य ज़रूरतें पूरी होनी ही चाहिए।

तो भक्ति कोई ज़बरदस्ती नहीं करती कि तुम नग्न खड़े हो जाओ, तुम उपवास करो, तुम शरीर को तपाओ व्यर्थ–ऐसी दुष्टता, ऐसी हिंसा भक्ति नहीं सिखाती।

भक्ति कहती है: यह जो परमात्मा का मंदिर है तुम्हारा घर, इसकी साज-सम्हाल ज़रूरी है। यह उसका घर है। इसे तुम्हें 'उसके' योग्य स्वच्छ और ताज़ा और सुंदर रखना चाहिए। लेकिन ज़रूरत और वासना में फर्क समझना आवश्यक है।

मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन एक स्त्री के प्रेम में था, शादी करना चाहता था। तो उस स्त्री ने कहा, 'नसरुद्दीन, और तो सब ठीक है, एक बात मैं पूछना चाहती हूँ, कि तुम उन पुरुषों में तो नहीं हो जो शादी के बाद पत्नी को दफ्तरों में काम करवाते हैं या नौकरी करवाते हैं?'

नसरुद्दीन ने कहा, 'भूल के भी इस तरह का मत सोच। कभी भी मेरी पत्नी काम पे जाने वाली नहीं है। हाँ, एक बात और, अगर कपड़ा, रोटी, मकान जैसी विलास की चीज़ों की तूने माँग की तो फिर मैं नहीं जानता ...। विलास की चीज़ें–कपड़ा, रोटी, मकान! अन्यथा मेरी पत्नी कभी काम करने जाने वाली नहीं है। लेकिन रोटी, कपड़ा, मकान, ऐसी विलास की चीज़ें मत माँगना।'



विलास और ज़रूरत में फर्क करना ज़रूरी है।

भक्ति स्वस्थ सहज मार्ग है। स्वाभाविक, अस्वाभाविक नहीं। भक्ति तुम जैसे हो, तुम्हारी ज़रूरतों को स्वीकार करती है। कहीं कोई अकारण अपने को कष्ट देना, पीड़ा देना, व्यर्थ के तनाव खड़े करने, उनसे आदमी परमात्मा के प्रेम को उपलब्ध नहीं होता; उनसे तो और सघन अहंकार को उपलब्ध होता है।

भक्ति त्याग नहीं है, निरोध है: जो अपने से छूट जाए। जो व्यर्थ है छूट जाएगा; जो सार्थक है, ज़रूरी है, शेष रहेगा।

इसलिए आखिरी सूत्र है: 'लौकिक कर्मों को भी तब तक (बाह्य ज्ञान रहने तक) विधिपूर्वक करना चाहिए, पर भोजनादि कार्य जब तक शरीर रहेगा, होते रहेंगे।'

भक्ति की यह स्वाभाविकता ही उसके प्रभाव का कारण है।

भक्ति बड़ी संवेदनशील है। वह जीवन को कुरूप करने के लिए उत्सुक नहीं है, जीवन का सौंदर्य स्वीकार है। क्योंकि जीवन अन्यथा परमात्मा का ही है, अन्ततः वही छिपा है! उसको ध्यान में रख कर ही चलना उचित है।

जो व्यर्थ है वह छूट जाए, जो सार्थक है वह सम्हल जाए; जो कूड़ा-कर्कट है, वह अपने-आप गिर जाए, जो बहुमूल्य है वह बचा रहे।

भक्ति को अगर तुम ठीक से समझो तो तुम पाओगे: धर्म की उतनी सहज, स्वाभाविक और कोई व्यवस्था नहीं है।

आज इतना ही।

## चौथा प्रवचन

दिनांक १४ जनवरी, १९७६; श्री रजनीश आश्रम, पूना

## सहजस्फूर्त अनुशासन है भक्ति

पहला प्रश्न : जीवन की व्यर्थता का बोध ही क्या जीवन में अर्थवत्ता का प्रारम्भ-बिन्दु बन जाता है ?

बन सकता है, न भी बने। सम्भावना खुलती है, अनिवार्यता नहीं है। जीवन की व्यर्थता दिखायी पड़े तो परमात्मा की खोज शुरू हो सकती है–शुरू होगी ही, ऐसा जरूरी नहीं है।

जीवन की व्यर्थता पता चले तो आदमी निराश भी हो सकता है, आशा ही छोड़ दे, व्यर्थता में ही जीने लगे, व्यर्थता को स्वीकार कर ले, खोज के लिए कदम न उठाये–तो जीवन तो दूभर हो जाएगा, बोझ हो जाएगा, परमात्मा की यात्रा न होगी।

इतना तो सच है कि जिसने जीवन की व्यर्थता नहीं जानी, वह परमात्मा की खोज पर नहीं जाएगा; जाने की कोई जरूरत नहीं है। अभी जीवन में ही रस आता हो तो किसी और रस की तरफ आँख उठाने का कारण नहीं है।

फिर जीवन की व्यर्थता समझ में आये तो दो सम्भावनाएँ हैं : या तो तुम उसी व्यर्थता में रुक के बैठ जाओ और या उस व्यर्थता के पार सार्थकता की खोज करो–तुम पर निर्भर है।

नास्तिक और आस्तिक का यही फर्क है, यहीं फर्क की रेखा है।

नास्तिक वह है जिसे जीवन की व्यर्थता तो दिखायी पड़ी, लेकिन आगे जाने की, ऊपर उठने की, खोज करने की सामर्थ्य नहीं है, रुक गया, 'नहीं' में रुक गया, 'हाँ' की तरफ न उठ सका, निषेध को ही धर्म मान लिया, विधेय की बात ही भूल गया।

आस्तिक नास्तिक से आगे जाता है।

आस्तिक नास्तिक का विरोध नहीं है, अतिक्रमण है। आस्तिक के जीवन में भी नास्तिकता का पड़ाव आता है, लेकिन उस पे वह रुक नहीं जाता। वह उसे पड़ाव ही मानता है और उससे मुक्त होने की चेष्टा में संलग्न हो जाता है। क्योंकि जहाँ 'नहीं' है, वहाँ 'हाँ' भी होगा। और जिस जीवन में हमने व्यर्थता

पहचान ली है, उस जीवन के किसी तल की गहराई पर सार्थकता भी छिपी होगी; अन्यथा व्यर्थता का भी क्या अर्थ होता है ?

जिसने दुख जाना वह सुख को जानने में समर्थ है, अन्यथा दुख को भी न जान सकता। जिसने अंधकार को पहचाना उसके पास आँखें हैं जो प्रकाश को भी पहचानने में समर्थ हैं।

अंधों को अँधेरा नहीं दिखायी पड़ता। साधारणतः हम सोचते हैं कि अंधे अँधेरे में जीते होंगे—गलत है खयाल। अँधेरे को देखने के लिए भी आँख चाहिए। अँधेरा भी आँख की ही प्रतीति है। तुम्हें अँधेरा दिखायी पड़ता है आँख बंद कर लेने पर, क्योंकि अँधेरे को तुमने देखा है। जन्म से अंधे, जन्मांध व्यक्ति को अँधेरा भी दिखायी नहीं पड़ता। देखा ही नहीं है कुछ, अँधेरा कैसे दिखायी पड़ेगा ?

तो जिसको अँधेरा दिखायी पड़ता है, उसके पास आँख है; अँधेरे में ही रुक जाने का कोई कारण नहीं है। और जब अँधेरा अँधेरे की तरह मालूम पड़ता है तो साफ है कि तुम्हारे भीतर छिपा हुआ प्रकाश का भी कोई स्रोत है, अन्यथा अँधेरे को अँधेरा कैसे कहते ? कोई कसौटी है तुम्हारे भीतर, कहीं गहरे में छिपा मापदण्ड है।

अँधेरे पे कोई रुक जाए तो नास्तिक; अँधेरे को पहचान के प्रकाश की खोज में निकल जाए तो आस्तिक। अँधेरे को देख के कहने लगे कि अँधेरा ही सब कुछ है तो नास्तिक; अँधेरे को जान के अभियान पर निकल जाए, खोजने निकल जाए, कि प्रकाश भी कहीं होगा, जब अँधेरा है तो प्रकाश भी होगा। क्योंकि विपरीत सदा साथ मौजूद होते हैं।

जहाँ जन्म है वहाँ मृत्यु होगी। जहाँ अँधेरा है वहाँ प्रकाश होगा। जहाँ दुख है वहाँ सुख होगा। जहाँ नरक अनुभव किया है तो खोजने की ही बात है, स्वर्ग भी ज्यादा दूर नहीं हो सकता।

स्वर्ग और नरक पड़ोस-पड़ोस में हैं, एक-दूसरे से जुड़े हैं।

अगर तुमने जीवन में क्रोध का अनुभव कर लिया तो समझ लेना कि करुणा भी कहीं छिपी है – खोजने की बात है। तुमने पहली परत छू ली करुणा की ! क्रोध पहली परत है करुणा की। अगर तुमने घृणा को पहचान लिया तो प्रेम को पहचानने में देर भला लगे, लेकिन असम्भावना नहीं है।

प्रश्न महत्त्वपूर्ण है।

जीवन की व्यर्थता तो अनिवार्य है, लेकिन पर्याप्त नहीं है। उतने को ही परमात्मा की शुरुआत मत समझ लेना। उतने से ही 'अथातो' का बिन्दु न आ जाएगा। उतना जरूरी है। उतना तो चाहिए ही। पर उस पर तुम रुक भी सकते हो।

पश्चिम में बड़ा विचारक है : ज्याँ पाल सार्त्र। वह कहता है, 'अँधेरा ही



सब कुछ है। दुख ही सब कुछ है। दुख के पार कुछ भी नहीं है। दुख के पार तो सिर्फ मनुष्यों की कल्पनाओं का जाल है। विषाद सब कुछ है। संताप सब कुछ है। बस नरक ही है, स्वर्ग नहीं है।'

बुद्ध ने भी एक दिन जाना था : दुख है। सार्त्र ने भी जाना कि दुख है। यहाँ तक दोनों साथ-साथ हैं, फिर राहें अलग हो जाती हैं। फिर बुद्ध ने खोजा कि दुख क्यों है। और दुख है तो दुख के विपरीत दुख का निरोध भी होगा। तो वे खोज पर गये। दुख का कारण खोजा। दुख मिटाने की विधियाँ खोजीं, और एक दिन उस स्थिति को उपलब्ध हो गये, जो दुख-निरोध की है, आनंद की है।

सार्त्र पहले कदम पे रुक गया। बुद्ध के साथ थोड़ी दूर तक चलता है, फिर ठहर जाता है। वह कहता है, 'आगे कोई मार्ग नहीं है, बस यहीं सब समाप्त हो जाता है।'

तो सार्त्र अंधकार को ही स्वीकार करके जीने लगा, ऐसे ही तुम भी जी सकते हो। तब तुम्हारा जीवन एक बड़ी उदासी हो जाएगी। तब तुम्हारे जीवन से सारा रस सूख जाएगा। तब तुम्हारे जीवन में कोई फूल न खिलेंगे, काँटे-ही-काँटे रह जाएँगे। अगर कोई फूल खिलेगा भी तो तुम कहोगे कि कल्पना है, तुम उसे स्वीकार न करोगे। अगर किसी और के जीवन में फूल खिलेगा तो तुम इनकार करोगे कि झूठ होगा, आत्मवंचना होगी, धोखा होगा, बेईमानी होगी, फूल होते ही नहीं। तो तुमने अपने ही हाथ अपने को कारागृह में बंद कर लिया। फिर तुम तड़पोगे। कोई दूसरा तुम्हें इस कारागृह के बाहर नहीं ले जा सकता। अगर तुम्हारी ही तड़फ तुम्हें बाहर उठने की सामर्थ्य नहीं देती और तुम्हारी ही पीड़ा तुम्हें नयी खोज का सम्बल नहीं बनती, तो कौन तुम्हें उठायेगा ? लेकिन एक-न-एक दिन उठोगे, क्योंकि पीड़ा को कोई शाश्वत रूप से स्वीकार नहीं कर सकता। एक जन्म में कोई सार्त्र हो सकता है, सदा-सदा के लिए कोई सार्त्र नहीं हो सकता; आज सार्त्र हो सकता है, सदा-सदा के लिए सार्त्र नहीं हो सकता; क्योंकि दुख का स्वभाव ऐसा है कि उसे स्वीकार करना असम्भव है।

दुख का अर्थ ही यह होता है कि जिसे हम स्वीकार न कर सकेंगे। घड़ी-भर को समझा लें, बुझा लें कि ठीक है, यही सब कुछ है, इससे आगे कुछ भी नहीं; लेकिन फिर-फिर मन आगे जाने लगेगा। क्योंकि मन जानता है गहरे में, सुख है। उसी आधार पर तो हम पहचानते हैं दुख को। हमने जाना है, शायद गहरी नींद में सुख का थोड़ा-सा स्वाद मिला है।

पतंजलि ने योग-सूत्रों में समाधि की व्याख्या सुषुप्ति से की है कि वह प्रगाढ़ निद्रा है। जैसा सुषुप्ति में सुख मिलता है सुबह उठ कर, रात गहरी नींद सोये, कुछ याद नहीं पड़ता, लेकिन एक भीनी-सी सुगंध सुबह तक भी तुम्हें घेरे रहती है।

कुछ याद नहीं पड़ता कहाँ गये, क्या हुआ; लेकिन गये कहीं और आनंद से सरोबोर हो के लौटे !

कहीं डुबकी लगायी !
अपने में ही कोई गहरा तल छुआ !
कहीं विश्राम मिला !
कोई छाया के तले ठहरे !
वहाँ धूप न थी !
वहाँ गहरी शांति थी !
वहाँ कोई विचारों की तरंगें भी न पहुँचती थीं !
कोई स्वप्न के जाल भी न थे !
अपने में ही कोई ऐसी गहरी शरण, कोई ऐसा गहरा शरण-स्थल पा लिया !

सुबह उसकी सिर्फ हलकी खबर रह जाती है। दूर सुने गीत की गुन-गुन रह जाती है !

रात गहरी नींद सोये तो सुबह तुम कहते हो, 'बड़ी गहरी नींद आयी, बड़े आनंदित उठे!'

शायद गहरी निद्रा में तुम वहीं जाते हो जहाँ योगी समाधि में जाता है। गहरी निद्रा में तुम वहीं जाते हो जहाँ भक्ति भाव की अवस्था में पहुँचाती है। गहरी निद्रा में तुम उसी तल्लीनता को छूते हो जिसको भक्त भगवान में डूब के पाता है। थोड़ा फर्क है। तुम बेहोशी में पाते हो, वह होश में पाता है। वही फर्क बड़ा फर्क है।

इसलिए सुबह तुम इतना ही कह सकते हो, 'सुखद है! अच्छी रही रात।' लेकिन भक्त नाचता है, क्योंकि यह कोई बेहोशी में नहीं पाया अनुभव, होश में पाया।

तो कभी नींद के किन्हीं क्षणों में तुमने भी जाना है, तभी तो तुम दुख को पहचानते हो, नहीं तो पहचानोगे कैसे ? शायद बचपन के क्षणों में जब मन भोला-भाला था और संसार ने मन विकृत न किया था, वासनाएँ अभी जगी न थीं, कामनाओं ने अभी खेल शुरू न किया था, अभी तुम ताजे-ताजे परमात्मा के घर से आये थे – तब शायद सुबह की धूप में बैठे हुए, फूलों को बगीचे में चुनते हुए, या तितलियों के पीछे दौड़ते हुए, तुमने कुछ सुख जाना है जो विचार के अतीत है; तुमने कोई तल्लीनता जानी है जहाँ तुम खो गये थे, कोई विराट सागर रह गया था, बूंद ने अपनी सीमा छोड़ दी थी! फिर अब भूली-सी बात हो गयी, भूली-बिसरी बात हो गयी। अब याद भी नहीं आता।

बस इतना ही लोग कहे चले जाते हैं कि बचपन बड़ा स्वर्ग जैसा था। कोई जोर डाले तुम पर तो तुम सिद्ध न कर पाओगे कि क्या स्वर्ग था! अगर कोई तर्कयुक्त व्यक्ति मिल जाए, कहे कि सिद्ध करो, 'क्या था बचपन में स्वर्ग ?', तो तुम सिद्ध न कर पाओगे। वह भी गहरी नींद का अनुभव हो गया अब। अब याद रह गयी है। खुद भी तुम्हें पक्का भरोसा नहीं है कि ऐसा हुआ था, भूल ही गया है। क्योंकि जिसकी तुम्हारे जीवन से संगति नहीं बैठती, वह धीरे-धीरे विस्मरण हो जाता है। धीरे-धीरे तुम उसी को याद रख पाते हो, जिसका तुम्हारे मन के ढाँचे से मेल बैठता है, बेमेल बातों को हम छोड़ देते हैं। बेमेल बातों को याद रखना मुश्किल हो जाता है।



तो कहीं-न-कहीं कोई अनुभव तुम्हारे भीतर है। कभी प्रेम के गहरे क्षण में, किसी से प्रेम हुआ हो, मन ठिठक गया हो, सौंदर्य के साक्षात्कार में, या कभी चाँदनी रात में आकाश को देखते हुए, मन मौन हो गया, तो तुमने सुख की झलक जानी। एक किरण तुम्हारे जीवन मे कभी-न-कभी उतरी है। उसी से तो तुम पहचानते हो कि यह अँधेरा है। किरण न जानी हो तो अँधेरे को अँधेरा कैसे कहोगे ? अँधेरे की प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी, पहचान कैसे होगी ? पहचान तो विपरीत से होती है।

तो जो रुक जाए जीवन की व्यर्थता पर, वह नास्तिक। इसलिए नास्तिक को मैं आस्तिक जितना साहसी नहीं कहता। जल्दी रुक गया। पड़ाव को मुकाम समझ लिया! आगे जाना है। और आगे जाना है!

एक बड़ी पुरानी सूफी कथा है कि एक फकीर जंगल में बैठा था। वह रोज एक लकड़हारे को लकड़ियाँ काटते हुए, ले जाते लाते देखता था: उसकी दीनता, उसके फटे कपड़े, उसकी हड्डियों से भरी देह! उसे दया आ गयी। वह लकड़हारा जब भी निकलता था तो उसके चरण छू जाता था। एक दिन उसने कहा कि कल जब तू लकड़ी काटने जाए, तब आगे जा, और आगे जा! लकड़हारा कुछ समझा नहीं; लेकिन फकीर ने कहा है तो कुछ मतलब होगा। ऐसे कभी यह फकीर बोलता न था, पहली दफा बोला है: 'आगे जा, और आगे जा!'

तो जहाँ वह लकड़ियाँ काटता था, जंगल में थोड़ा आगे गया, चकित हुआ: सुगंध से उसके नासापुट भर गये! चंदन के वृक्ष थे। वहाँ तक वह कभी गया ही न था। उसने चंदन की लकड़ियाँ काटीं। चंदन को बेचा तो उस रात खुशी में रोया, दुख में भी खुशी में भी, कि अगर यही लकड़ियाँ अब तक काट के बेची होतीं तो करोड़पति हो गया होता। पर अब गरीबी मिट गयी।

दूसरे दिन जब चंदन की लकड़ी फिर काट रहा था तो उसे खयाल आया कि फकीर ने यह नहीं कहा था कि चंदन की लकड़ी तक जा, उसने कहा था, 'और आगे, और आगे!' तो उसने चंदन की लकड़ियाँ न काटीं, और आगे गया, तो

देखा कि चाँदी की एक खदान है। फिर तो उसके हाथ में एक सूत्र लग गया। फिर और आगे गया तो सोने की खदान! फिर और आगे गया तो हीरों की खदान पर पहुँच गया।

और आगे, जब तक कि हीरों की खदान न आ जाए! उसको ही हम परमात्मा कहते हैं।

तुम लकड़हारों की तरह लकड़ियाँ ही बेच रहे हो, थोड़ी ही दूर आगे चंदन के वन हैं। तुम विचारों में ही उलझे हो जहाँ लकड़ियाँ-ही-लकड़ियाँ हैं। बड़ी सस्ती उनकी कीमत है।

थोड़े निर्विचार में चलो : चंदन के वन हैं!

बड़ी सुगंध है वहाँ!

और थोड़े गहरे चलो तो समाधि की खदानें हैं!

और गहरे चलो तो निर्बीज समाधि, निर्विकल्प समाधि की खदानें हैं!

और गहरे चलो तो स्वयं परमात्मा है!

योगी कदम-कदम जाता है, रुक-रुक के जाता है, कई पड़ाव बनाता है। भक्त सीधा जाता है, नाचता हुआ जाता है, रुकता नहीं, पड़ाव भी नहीं बनाता। वह सीधा तल्लीनता में डूब जाता है।

योगी से भी ज्यादा हिम्मत भक्त की है। नास्तिक से ज्यादा हिम्मत आस्तिक की है। योगी से भी ज्यादा हिम्मत भक्त की है। क्योंकि भक्त सीढ़ियाँ भी नहीं बनाता; एक गहरी छलाँग लेता है जिसमें अपने को डुबा देता है, मिटा देता है।

इस अनुभव पर आना अत्यंत जरूरी है कि जीवन व्यर्थ है।

'अँधेरी रात तूफाने तलातुम नाखुदा गाफिल
यह आलम है तो फिर किश्ती, सरे मौजेरवां कब तक?'

—'अँधेरी रात'! सब तरफ अँधेरा है। कुछ सूझता नहीं है। हाथ को हाथ नहीं सूझता। 'तूफाने तलातुम'! बड़ी आँधियाँ हैं, बड़े तूफान हैं; सब उखड़ा जाता है; कुछ ठहरा नहीं मालूम पड़ता; बड़ी अराजकता है! 'नाखुदा गाफिल'! और जिसके हाथ में कश्ती है, वह जो माँझी है, वह सोया हुआ है, बेहोश है। 'यह आलम है', ऐसी हालत है तो फिर किश्ती सरे मौजेरवां कब तक?' तो इस किश्ती का भविष्य क्या है? यह नाव अब डूबी तब डूबी! इस नाव में आशा बाँधनी उचित नहीं। इस नाव के साथ बँधे रहना उचित नहीं।

लेकिन जाओगे कहाँ? भागोगे कहाँ? यही कश्ती तो जीवन है। तुम सोये हो, मूर्च्छित, तूफान भयंकर है, अँधेरी रात है, डूबने के सिवाय कोई जगह दिखायी नहीं पड़ती।

लेकिन डूबना दो ढंग का हो सकता है। एक : कश्ती डुबाये तब तुम डूबो



और एक, कि कश्ती में बैठे-बैठे तुम डूबने के लिए कोई सागर खोज लो। उस सागर को ही हम परमात्मा कहते हैं।

'अच्छा यकीं नहीं है तो कश्ती डुबो के देख
एक तू ही नाखुदा नहीं, ज़ालिम! खुदा भी है।'

तो फिर हिम्मत आ जाती है, फिर आदमी कहता है कि ठीक है। तो अगर माँझी! तू चाहता ही है कि कश्ती डुबानी है तो डुबा के देख! तू ही अकेला नहीं है, माँझी! तुझसे ऊपर खुदा भी है।

'एक तू ही नाखुदा नहीं, ज़ालिम! खुदा भी है!'

फिर अँधेरी रात, तूफान, कश्ती का अब डूबा तब डूबा होना, सब दूर की बातें हो जाती हैं। तुम भीतर कहीं एक ऐसी जगह लंगर डाल देते हो, जहाँ तूफान छूते ही नहीं, जहाँ रात का अँधेरा प्रवेश ही नहीं करता, और जहाँ किसी नाखुदा की, किसी माँझी की जरूरत नहीं है, क्योंकि वहाँ परमात्मा ही माँझी है।

ज़रूरी है कि जीवन की व्यर्थता दिखायी पड़ जाए। बहुत हैं जो जीवन की व्यर्थता बिना देखे आस्तिकता में अपने को डुबाने की चेष्टा करते हैं, वे कभी न डूब पाएँगे। वे चुल्लू-भर पानी में डूबने की चेष्टा कर रहे हैं। वे अपने को धोखा दे रहे हैं।

जब तक तुम्हारे जीवन की जड़ें उखड़ न गयी हों, जब तक तुमने गहन झंझावात नास्तिकता के न झेले हों, जब तक तुम्हारा रोआँ-रोआँ कँप न गया हो जीवन के अंधकार से, जब तक तुम्हारी छाती भयभीत न हो गयी हो—तब तक तुम जिस आस्तिकता की बातें करते हो, वह सांत्वना होगी, सत्य नहीं; तब तक तुम जिन मंदिरों और मस्जिदों में पूजा-उपासना करते हो, वह पूजा-उपासना धोखा-धड़ी है। वह तुम्हारा औपचारिक व्यवहार है। वह संस्कारवशात् है। उससे तुम्हारे जीवन का सीधा कोई सम्बंध नहीं। वह मंदिर तुमने अपनी प्रज्ञा से नहीं खोजा है, उधार है। उधार परमात्मा असली परमात्मा नहीं है। उसे तो तुम्हें अपने को चुका के ही, अपने को दान में दे कर ही, अपना सर्वस्व लुटा कर ही पाना होगा। वह तो तुम जब तक सूली पर न लटक जाओ, तब तक उस सिंहासन तक न पहुँच पाओगे।

तो पहली तो स्मरण रखने की बात यह है कि कहीं जल्दी में आस्तिक मत हो जाना। यह कोई जल्दी का काम नहीं है। बड़ी गहन प्रतीक्षा चाहिए! और यह कोई सान्त्वना नहीं है कि तुम ओढ़ लो, संक्रांति है। सान्त्वना नहीं है परमात्मा, संक्रांति है, महाक्रांति है। तुम जो हो, मिटोगे; और तुम जो होने चाहिए वह प्रगट होगा।

तो सस्ती आस्तिकता कहीं नहीं ले जाती। सस्ती आस्तिकता से तो असली

नास्तिकता बेहतर है; कम-से-कम उस परिधि पर तो खड़ा कर देती है, जहाँ से आगे कदम चाहो तो उठा सकते हो।

झूठी आस्तिकता से तो कोई कभी कहीं नहीं गया है, जा ही नहीं सकता। झूठी प्रार्थना कभी नहीं सुनी गयी है। तुम कितने ही ज़ोर से चिल्लाओ, तुम्हारी आवाज़ के ज़ोर से प्रार्थना का कोई सम्बंध नहीं है; तुम्हारे हृदय की सच्चाई से, तुम्हारी विनम्रता से, तुम्हारे निरहंकार-भाव से, तुम्हारे असहाय-भाव से, जब तुम्हारी प्रार्थना उठेगी तो पहुँच जाती है, तो ज़र्रा-ज़र्रा, कण-कण अस्तित्व का तुम्हारा सहयोगी हो जाता है!

तो पहले तो झूठी आस्तिकता से बचना, फिर नास्तिकता में मत उलझ जाना। नास्तिक होना ज़रूरी है, बने रहना ज़रूरी नहीं है। एक ऐसी घड़ी आएगी जब अँधेरा-ही-अँधेरा दिखायी पड़ेगा, तूफान-ही-तूफान होंगे, कहीं कोई सहारा न मिलेगा, सब सहारे झूठ मालूम होंगे, राह भटक जाएगी, तुम बिलकुल अजनबी की तरह खड़े रह जाओगे, जिसका कोई सहारा नहीं, जो एकाकी है—तब घबड़ा के बैठ मत जाना; यहीं से शुरुआत होती है। यहीं से अगर तुमने आगे कदम उठाया, तो उपासना, भक्ति! यहीं से आगे कदम उठाया तो संसार के पार परमात्मा की शुरुआत होती है।

झूठी नास्तिकता से बचना है, झूठी आस्तिकता से बचना है। नास्तिकता सच्ची हो तो भी उसको घर नहीं बना लेना है। असली नास्तिकता के दुख को झेलना है ताकि उस पीड़ा के बाहर असली आस्तिकता का जन्म हो सके।

दूसरा प्रश्न : इस विराट अस्तित्व में मैं नाकुछ हूँ, यह अप्रिय तथ्य स्वीकारने में बहुत भय पकड़ता है। इस भय से कैसे ऊपर उठा जाए?

'अप्रिय' कहोगे तो शुरू से ही व्याख्या गलत हो गयी, फिर भय पकड़ेगा। 'अप्रिय' कहना ही गलत है।

फिर से सोचो : नाकुछ होने में अप्रिय क्या है? वस्तुतः कुछ होने में अप्रिय है। क्योंकि जीवन के सारे दुख तुम्हारे 'कुछ होने' के कारण पैदा होते हैं।

अहंकार घाव की तरह है। और जब तुम्हारे भीतर घाव होता है—और अहंकार से बड़ा कोई घाव नहीं, नासूर है—तो हर चीज़ की चोट लगती है, हर चीज़ से चोट लगती है, हर चीज़ से पीड़ा आती है; ज़रा कोई टकरा जाता है और पीड़ा आती है; हवा का झोंका भी लग जाता है तो पीड़ा आती है; अपना ही हाथ छू जाता है तो पीड़ा आती है।

अहंकार का अर्थ है : मैं कुछ हूँ।

अगर तुम जीवन की सारी पीड़ाओं की फेहरिश्त बनाओ तो तुम पाओगे



कि वे सब अहंकार से ही पैदा होती हैं। लेकिन तुमने कभी गौर से इसे देखा नहीं। तुम तो सोचते हो कि पीड़ा तुम्हें दूसरे लोग देते हैं।

किसी ने तुम्हें गाली दी, तो तुम सोचते हो, यह आदमी गाली दे के मुझे पीड़ा दे रहा है। व्याख्या की भूल है। विश्लेषण की चूक है। दृष्टि का अभाव है। आँख खोल के फिर से देखो। इस आदमी की गाली में अगर कोई भी पीड़ा है तो इसीलिए है कि तुम्हारे भीतर अहंकार उस गाली से छू के दुखी होता है। अगर तुम्हारे भीतर अहंकार न हो तो इस आदमी की गाली तुम्हारा कुछ भी न बिगाड़ पाएगी। तुम उस आदमी की गाली को सुन लोगे और अपने मार्ग पर चल पड़ोगे। हो सकता है, इस आदमी की गाली तुम्हारे मन में करुणा को भी जगाये कि बेचारा नाहक ही व्यर्थ की बातों में पड़ा है। लेकिन गाली उसकी तुम्हें पीड़ा दे जाती है, क्योंकि तुम्हारे पास एक बड़ा मार्मिक स्थल है, जो तैयार ही है पीड़ा पकड़ने को। बड़ा संवेदनशील है! बड़ा नाज़ुक है! और हर घड़ी तैयार है कि कहीं से पीड़ा आये तो ...वह पीड़ा पर ही जीता है।

तो ज़रूरी नहीं कि कोई गाली दे, राह पर कोई बिना नमस्कार किये निकल जाए तो भी पीड़ा आ जाती है। कोई तुम्हें देखे और अनदेखा कर दे तो भी पीड़ा आ जाती है। राह पर दो आदमी हँस रहे हों तो भी पीड़ा आ जाती है कि शायद मुझ पर ही हँस रहे हैं। दो आदमी एक-दूसरे के कान में खुसरफुसर कर रहे हों तो पीड़ा आ जाती है कि शायद मेरे लिए ही ...।

यह जो 'मैं' है, बड़ा रुग्ण है! इसको ले के तुम कभी भी स्वस्थ और सुखी न हो पाओगे।

तो अगर 'अप्रिय' कहना हो तो अहंकार को कहना।

और यही अहंकार तुमसे कहता है, 'डरो, प्रेम से डरो, क्योंकि प्रेम में ऐसे छोड़ना पड़ेगा। भक्ति से डरो, क्योंकि भक्ति में तो यह बिलकुल ही डूब जाएगा; प्रेम में क्षण-भर को डूबेगा, भक्ति में शाश्वत, सदा के लिए डूब जाएगा। बचो!'

यह अहंकार कहता है, 'ऐसी जगह जाओ ही मत जहाँ डूबने का डर हो। बच के चलो! सम्हल के चलो।'

और यही अहंकार तुम्हारी पीड़ा का कारण है!

ऐसा समझो कि नासूर लिये चलते हो और चिकित्सक से बचते हो।

'इस विराट अस्तित्व में मैं नाकुछ हूँ, यह अप्रिय तथ्य स्वीकारने में बहुत भय पकड़ता है।'

यह भय तुम्हें नहीं पकड़ रहा है; यह भय उसी अहंकार को पकड़ रहा है जो कि डूबने से, तल्लीन होने से भयभीत है। क्योंकि तल्लीनता का अर्थ मौत है—अहंकार की मौत, तुम्हारी नहीं! तुम्हारे लिए तो जीवन का नया द्वार खुलेगा।

उसी मृत्यु से तुम्हारे लिए परम जीवन की उपलब्धि होगी । उसी मृत्यु से तुम पहली बार अमृत का दर्शन करोगे । लेकिन तुम्हारे लिए, अहंकार के लिए नहीं !

यह जो तुम्हारे भीतर 'मैं' की गाँठ है, यह गाँठ दुख दे रही है । इस अप्रिय 'मैं' को पहचानो, तो तुम पाओगे कि निरहंकरिता से ज्यादा प्रीतिकर और कुछ भी नहीं ।

और जिसे निरहंकारिता आ गयी, सब आ गया ! फिर उसे किसी मंदिर में जाने की ज़रूरत नहीं ।

निरहंकारिता का मंदिर जिसे मिल गया, वह पत्थरों के मंदिरों में जाए भी क्यों !

निरहंकारिता का मंदिर जिसे मिल गया, उसके तो अपने ही भीतर के मंदिर के द्वार खुल गये !

'अदब-आमोज है मैखाने का ज़र्रा-ज़र्रा
सैकड़ों तरह से आ जाता है सिजदा करना ।
इश्क पाबंदेवफा है, न कि पाबंदे-रसूम
सर झुकाने को नहीं कहते हैं सिजदा करना ।'

'अदब-आमोज है मैखाने का ज़र्रा-ज़र्रा !'

अगर तुम गौर से देखो तो अस्तित्व का कण-कण विनम्रता सिखा रहा है । पूछो वृक्षों से; पूछो पर्वतों से, पहाड़ों से; पूछो झरनों से, पक्षियों से, पशुओं से : कहीं अहंकार नहीं है !

'अदब-आमोज है मैखाने का ज़र्रा-ज़र्रा ।'

एक-एक कण, पूरा अस्तित्व एक ही बात सिखा रहा है : नाकुछ हो जाओ !

'सैकड़ों तरह से आ जाता है सिजदा करना !'

और अगर तुम इन बातों को सुनो जो अस्तित्व में गूंज रही हैं सब तरफ से, सब दिशाओं से, तो सैकड़ों रास्ते हैं जिनसे उपासना का सूत्र तुम्हारे हाथ में आ जाएगा, सिजदा करना आ जाएगा, झुकने की कला आ जाएगी ।

ज़रूरी नहीं है कि तुम शास्त्र ही पढ़ो; अस्तित्व के शास्त्र से बड़ा कोई और शास्त्र नहीं है । ज़रूरी नहीं है कि तुम ज्ञानियों से ही सीखो; तुम अगर आँख खोल कर देखो तो सारा अस्तित्व तुम्हें सिखाने को तत्पर है ।

यहाँ आदमी के सिवाय कोई अहंकार से पीड़ित नहीं है और इसलिए सिवाय आदमी के यहाँ कोई भी पीड़ित नहीं है । आदमी ही परेशान है, चिंतित है । वृक्ष परेशान नहीं; सिजदा में खड़े हैं । सतत चल रही है पूजा !

आदमी की पूजा घड़ी-दो-घड़ी की होती है; अस्तित्व की पूजा सतत है ।



तुम कभी आरती उतारते हो; तारे, चाँद, सूरज उतारते ही रहते हैं आरती ! चौबीस घंटे ! सतत !

तुम कभी एक फूल चढ़ा आते हो; वृक्ष रोज़ ही चढ़ाते रहते हैं फूल । तुम कभी जा के मंदिर में एक गीत गुनगुना आते हो; पक्षी सुबह से सांझ तक गुनगुना रहे हैं ! अगर गौर से देखो तो तुम सारे अस्तित्व को सिजदा करता हुआ पाओगे । सारा अस्तित्व झुका है, घुटनों पर हाथ जुड़े हैं, आँखों से आँसुओं की धार बह रही है, हृदय से सुगंध उठ रही है !

फिर से देखो ! देखा तो तुमने भी है इसे, ठीक आँख से नहीं देखा । फिर से देखो : तुम हर वृक्ष को झुका हुआ पाओगे प्रार्थना में; हर झरने को उसी का गीत गाता हुआ पाओगे ।

'अदब-आमोज है मैखाने का ज़र्रा-ज़र्रा
सैकड़ों तरह से आ जाता है सिजदा करना ।'

'इश्क पाबंदेवफा है ।'

प्रेम आस्था की बात है, श्रद्धा की बात है, भरोसे की बात है ।

'इश्क पाबंदेवफा है, न कि पाबंदे-रसूम !'

वह कोई नीति-नियम की बात नहीं है, कोई रसूम की बात नहीं है, कोई नियम के आचरण की विधि-अनुशासन की बात नहीं है – सिर्फ आस्था की बात है । कोई मुसलमान होना ज़रूरी नहीं है, कोई हिन्दू होना ज़रूरी नहीं है, कोई ईसाई होना ज़रूरी नहीं है – क्योंकि ये सब तो रीति-नियम की बातें हैं; धार्मिक होने के लिए इनकी कोई भी ज़रूरत नहीं है, सिर्फ आस्था काफी है । आस्था न हिन्दू है न मुसलमान, आस्था न जैन है न बौद्ध – आस्था विशेषण-रहित है; उतनी ही विशेषण-रहित है जितना कि परमात्मा ।

'इश्क पाबंदेवफा है, न कि पाबंदे-रसूम ।'

तो तुम कोई रीति-नियम से प्रार्थना मत करने बैठ जाना । सीख मत लेना प्रार्थना करना, क्योंकि वही अड़चन हो जाएगी असली प्रार्थना के जन्म होने में ।

प्रार्थना सहजस्फूर्त हो !

सूर्य के सामने सुबह बैठ जाना, जो तुम्हारे हृदय में आ जाए, कह देना; न कुछ आये, चुपचाप रह जाना । सूरज कुछ कहे, सुन लेना; न कहे तो उसके मौन में आनंदित हो लेना ।

बँधी हुई प्रार्थनाएँ मत दोहराना, क्योंकि बँधी हुई प्रार्थनाएँ कण्ठों में हैं, उससे नीचे नहीं जाती, बस कण्ठों तक जाती हैं, कण्ठों से आती हैं ।

इसलिए अक्सर तुम पाओगे कि जिनको प्रार्थनाएँ याद हो गयी हैं, वे प्रार्थनाओं से वंचित हो गये हैं । वे प्रार्थना करते रहते हैं, उनके ओंठ दोहराते रहते

हैं मंत्रों को और उनके भीतर विचारों का जाल चलता रहता है। फिर धीरे-धीरे तो यह इतनी आदत हो जाती है दोहराने की कि उससे कोई बाधा ही नहीं पड़ती; भीतर दुकान चलती रहती है, ओठों पर मंदिर चलता रहता है।

'इश्क पाबंदेवफा है, न कि पाबंदे-रसूम !'

प्रेम जानता ही नहीं रीति-नियम, क्योंकि प्रेम आखिरी नियम है। किसी और व्यवस्था की जरूरत नहीं है, प्रेम पर्याप्त है। प्रेम की अराजकता में भी एक अनुशासन है। वह अनुशासन सहजस्फूर्त है।

'सर झुकाने को नहीं कहते हैं सिजदा करना !'

और सिर्फ सिर झुकाने का नाम प्रार्थना नहीं है; खुद के झुक जाने का नाम प्रार्थना है। सिर झुकाना तो बड़ा आसान है।

मेरे पास लोग बच्चों को ले के आ जाते हैं। वे खुद सिर झुकाते हैं, बच्चे खड़े रह जाते हैं, तो माँ उसका सिर पकड़ के चरणों में झुका देती है। मैं उनको कहता हूँ, 'यह तुम क्या ज्यादती कर रहे हो?' वह बच्चा अकड़ रहा है, वह खड़ा है, उसे सिर नहीं झुकाना है, कोई कारण नहीं है सिर झुकाने का, उससे मेरा कुछ लेना-देना नहीं है; माँ उसका सिर झुका रही है; रसूम सिखाया जा रहा है; नियम सिखाया जा रहा है। वह धीरे-धीरे अभ्यस्त हो जाएगा। बड़ा होते-होते किसी की झुकाने की जरूरत न रह जाएगी, खुद ही झुकने लगेगा; लेकिन हर झुकने में वह माँ का हाथ इसकी गर्दन पे रहेगा। यह बुढ़ापे तक जब भी झुकेगा, तब इसे कोई झुका रहा है वस्तुतः, यह खुद नहीं झुक रहा है।

तुमने कभी खयाल किया, तुम मंदिर में जा के झुकते हो, यह सिर्फ एक आदत है या आस्था है? क्योंकि बचपन से माँ-बाप इस मंदिर में ले गये थे, झुकाया था एक दिन तुम्हारी गर्दन को...तुम्हें सभी को याद होगा कि किसी-न किसी दिन माँ-बाप ने तुम्हारी गर्दन को झुकाया था किसी पत्थर की मूर्ति के सामने, किसी मंदिर में, किसी शास्त्र के सामने, किसी गुरु के सामने। याद करो उस दिन को। फिर धीरे-धीरे तुम अभ्यस्त हो गये। फिर तुम भी संसार के रीति-नियम समझने लगे। फिर तुमने भी औपचारिकता सीख ली। वह बच्चा ज्यादा शुद्ध है जो सीधा खड़ा है। उसे झुकना नहीं, बात खत्म हो गयी ! झुकने का उसे कोई कारण समझ में नहीं आता, बात खत्म हो गयी। माँ उसे एक झूठ सिखा रही है।

समाज सभी को झूठ सिखा रहा है, औपचारिक आचरण सिखा रहा है। धीरे-धीरे धीरे-धीरे परत पे परत जमते-जमते ऐसी घड़ी आ जाती है कि तुम बड़ी सरलता से झुकते हो, और बिना जाने कि यह भी तुम्हारा झुकना नहीं है। यह सरलता भी झूठी है। इस सरलता में भी समाज के हाथ तुम्हारी गर्दन को दबा रहे हैं। इस सरलता में भी तुम्हारी गुलामी है।



और प्रेम, गुलामी से कहीं पैदा हुआ? परतंत्रता से कहीं पैदा हुआ?

भक्ति तो परम स्वतंत्रता है। इसलिए छोड़ दो वह सब जो तुम्हें सिखाया गया हो, ताकि 'अन-सीखे' का जन्म हो सके। हटा दो वह सब जो दूसरों ने ज़बरदस्ती से तुम्हारे ऊपर लादा हो ! निर्बोझ हो जाओ !

फिर से सीखना पड़ेगा पाठ।

तुम्हारी सलेट पर बहुत कुछ दूसरों ने लिख दिया है। खाली करो उसे ! धो डालो ! ताकि फिर से तुम अपने स्वभाव के अनुकूल कुछ लिख सको।

'इश्क पाबंदेवफा है, न कि पाबंदे-रसूम

सर झुकाने को नहीं कहते हैं सिजदा करना।'

प्रार्थना बड़ी अभूतपूर्व घटना है।

झुकना ! उसके आगे तो फिर कुछ और नहीं। वह तो आखिरी बात है। क्योंकि जो झुक गया, उसने पा लिया ! जो झुक गया वह भर गया ! वह भर दिया गया !

तुम तो रोज झुकते हो; कुछ भरता नहीं। तुम तो रोज़ झुकते हो; खाली हाथ आ जाते हो। धीरे-धीरे तुम्हें ऐसा लगने लगता है कि जिसके सामने झुक रहे हैं वह परमात्मा झूठा है; क्योंकि इतनी बार झुके, कुछ हाथ नहीं आता। मैं तुमसे कहता हूँ, वह परमात्मा तो सच है, तुम्हारा झुकना झूठा है। तुम कभी झुके ही नहीं।

दुनिया में नास्तिकता बढ़ती जाती है, क्योंकि झूठी आस्तिकता कब तक साथ दे ! जबरदस्ती झुकायी गयी गर्दनें कभी-न-कभी अकड़ के खड़ी हो जाएँगी। और इतने बार झुकने के बाद जब कुछ भी न मिलेगा, तो स्वाभाविक है कि आदमी कहे, 'क्या सार है? क्यों झुकें?' और स्वाभाविक है कि आदमी कहे, 'इतनी बार झुक के कुछ न मिला, कोई परमात्मा नहीं है !'

यह तुम्हारी झूठी आस्तिकता का परिणाम है।

सच्ची आस्तिकता आस्था से पैदा होती है।

आस्था का अर्थ है ... जैसा तुम समझते हो वैसा नहीं। तुम समझते हो, आस्था का अर्थ है : विश्वास।

नहीं, आस्था का अर्थ विश्वास नहीं है। आस्था का अर्थ है : अनुभव। विश्वास तो दूसरे देते हैं; आस्था वह है जो तुम्हारे भीतर तुम्हारी स्वाभाविकता से पैदा होती है।

प्रेम सीखो !

नियम भूलो !

प्रेम पर दाँव लगाओ, जोखिम है। नियम में कभी कोई जोखिम नहीं;

इसलिए तो लोग नियम में जीते हैं। लेकिन जिसने जोखिम न उठायी, उसने कुछ पाया भी नहीं। इसलिए तो लोग बिना पाये रह जाते हैं।

पूछा है : 'इस विराट अस्तित्व में मैं नाकुछ हूँ, यह अप्रिय तथ्य स्वीकार करने में भय पकड़ता है।'

पकड़ने दो भय ! भय की मौजूदगी रहने दो। भय से कहो, 'तू रह; लेकिन हम झुकते हैं।'

तुम भय को एक किनारे रखो !

मैं जानता हूँ कि भय को एकदम मिटा न सकोगे; लेकिन एक किनारे रख सकते हो। भय के रहते हुए भी तुम झुक सकते हो। भय की सुनना ज़रूरी नहीं है। तुम सुनते हो, स्वीकार करते हो, मान लेते हो, इसलिए भय मालिक हो जाता है।

भय से कहो, 'ठीक, तेरी बात सुन ली; फिर भी झुक के देखना है। तू कहता है, जोखिम है ! होगी। लेकिन जोखिम उठा के देखनी है। तू कहता है, मिट जाओगे ! ... सही। रह के देख लिया; अब मिट के देखना है। रह-रह के कुछ न पाया; अब यह आयाम भी खोज लें मिटने का !'

कोई भय को दबाने की जरूरत नहीं है, ध्यान रखना। दबाया हुआ भय तो फिर-फिर उभरेगा। न, भय को पूरा स्वीकार कर लो कि ठीक हो। माना, तुम्हारी बात में भी बल है। तुम्हारे तर्क से कोई इनकार नहीं। लेकिन तुम्हारे साथ रह के इतने दिन देख लिया और जीवन का कोई अनुभव न हुआ; अब कुछ और भी कर लेने दो।

तर्क उठेंगे मन में। उनसे कहो, ठीक है। तुम्हारी बात जँचती थी, इसलिए तो इतने दिन तक तुम्हारा संग-साथ रहा। इतने दिन तक तुम्हें ओढ़ा, लेकिन कुछ पाया नहीं; हाथ खाली हैं; हृदय कोरा है, आत्मा रिक्त है। अब बहुत हुआ; अब तुमसे विपरीत दिशा में भी थोड़ा जा के देख लेने दो।

डर तो लगेगा ही, क्योंकि जिस दिशा में कभी न गये, उस दिशा में जाते मन घबड़ाता है, पैर कँपते हैं। मन चाहता है : 'जाने-माने रास्ते पर चलो। कहाँ जंगल में जा रहे हो बियाबान में ? भटक जाओगे ! भीड़ जहाँ चलती है वहीं चलो ! कम-से-कम संगी-साथी तो हैं ! भीड़ है, तो राहत है, अकेले नहीं हैं।'

पर एक-न-एक दिन भीड़ के रास्तों को छोड़ कर पगडंडी की राह लेनी ही पड़ती है।

परमात्मा तक कोई राजपथ नहीं जाता, बस पगडंडियाँ जाती हैं। कोई राजपथ परमात्मा तक नहीं जाता, अन्यथा समाज परमात्मा तक पहुँच जाएं। व्यक्ति ही पहुँचते हैं, समाज कभी नहीं।

पगडंडियाँ ! पगडंडियाँ भी ऐसी कि तुम चलो तो बनती हैं; कोई तैयार



नहीं हैं पहले से, कि किसी ने तुम्हारे लिए बना रखी हों। तुम्हारे चलने से ही बनती हैं। जितना तुम चलते हो उतनी ही निर्मित होती हैं।

यह राह ऐसी है कि तैयार नहीं है, चलने से तैयार होती है। और बड़ा सुन्दर है यह तथ्य। नहीं तो आदमी एक परतंत्रता हो जाए : राह तैयार है, उस पे तुम्हें चले जाना है ! तब तो तुम रेलगाड़ियों के डब्बों जैसे हो जाओ। लोहे की पटरियों पे दौड़ते रहो। फिर तुम्हारे जीवन में गंगा की स्वतंत्रता न हो। फिर वह मौज न रह जाए, जो अपनी ही खोज से आती है।

गंगा सागर पहुँचती है – लोहे की पटरियों पर नहीं; चलती है, चल-चल के अपनी राह बनाती है, मार्ग बनाती है : अनजान की खोज पर ! सागर है भी आगे, इसका भी क्या पक्का पता है !

तो भय स्वाभाविक है। लेकिन भय के साथ रह के हम बहुत दिन देख लिये। अब भय को कहो, 'सुनी तेरी बहुत, अब हमें कुछ और भी करने दो।'

रहने दो भय को एक किनारे – तुम चलो !

कँपते हुए पैरों से सही, पगडंडी पर उतरो !

डरते हुए, धड़कते हुए हृदय से सही, भीड़ को छोड़ो !

घबड़ाहट होगी, लौट-लौट जाने का मन होगा – कोई चिंता नहीं।

कभी लौट जाने का मन हो, कभी घबड़ाहट हो तो इतना ही याद रखना कि भय की और मन की मान के बहुत दिन चले थे, कहीं पहुँचे न थे।

नये को एक अवसर दो !

जिस दिन तुम नये को अवसर देते हो उसी दिन तुम परमात्मा को अवसर देते हो। जब तक तुम पुराने को दोहराते हो, लीक को पीटते हो, लकीर के फकीर हो, तब तक तुम समाज के हिस्से होते हो, भीड़ के हिस्से होते हो।

व्यक्ति बनो !

अकेले होने का साहस जुटाओ !

और सबसे बड़ा साहस यही है : इस तथ्य को स्वीकार कर लेना कि मैं इस विराट का अंश हूँ, अलग-थलग नहीं हूँ; द्वीप नहीं हूँ, इस पूरे विराट का एक अंश हूँ। मैं नहीं हूँ, अस्तित्व है !

यही तो भक्ति की सारी-की-सारी व्यवस्था है कि भक्त खो जाए भगवान में, कि भगवान खो जाए भक्त में, कि एक ही बचे, दो न रह जाएँ।

तीसरा प्रश्न : आपसे मिल कर भी यदि हमारा उद्धार न हुआ, तब तो शायद असम्भव ही है। कम-से-कम मुझ निरीह पर तो रहम खाइये। न तो मुझसे ध्यान सधता है न भक्ति। भक्ति की लहरियाँ आती हैं अवश्य, पर बहुत झीनी, और वह भी कभी-कभी, और संसार का भयंकर तूफान तो सदा हावी है।

ध्यान साधना होता है, भक्ति साधनी नहीं होती।

भक्ति की जो छोटी-छोटी लहरियाँ आ रही हैं उनमें डूबो, उनमें रस लो। तुम्हारे डूबने से लहरें बड़ी होने लगेंगी। दूर किनारे पे मत बैठे रहो, अन्यथा लहरें आएँगी और खो जाएँगी और तुम अछूते रह जाओगे। उतरो! लहरों को तुम्हारे तन-प्राण पर फैलने दो। अगर छोटी-छोटी लहरें आ रही हैं तो भरोसा रखो, लहरों में सागर ही आया है। छोटी-से-छोटी लहर में विराट-से-विराट सागर छिपा है!

ध्यान साधना पड़ता है। ध्यान साधना है। भक्ति! भक्ति साधना नहीं है, उपासना है।

भेद समझ लो।

साधना का अर्थ है: तुम्हें कुछ करना है। उपासना का अर्थ है: तुम्हें सिर्फ परमात्मा को मौका देना है। साधना में तुम्हें चेष्टा करनी पड़ती है; उपासना में तुम बेसहारा हो के अपने को परमात्मा पे छोड़ देते हो – तुम कहते हो, 'अब जो तेरी मर्जी! अब तू जैसे रखे! अब तू जो करवाये! डुबाये तो वही किनारा! अब मैं नहीं हूँ।'

भक्ति साधनी नहीं पड़ती। साधने में तो तुम बने रहते हो। उपासना में तुम खो जाते हो, तुम जैसे-जैसे पास आते हो।

उपासना शब्द का अर्थ है: परमात्मा के पास आना। उप + आसन = 'उसके' पास बैठना। बस बैठना ही काफी है। तुम 'उसे' मौका दो। तुम बैठ जाओ – 'उसके' पास! 'उस' पर छोड़ कर! और 'उसे' मौका दो।

बिलकुल ठीक हो रहा है: 'भक्ति की लहरियाँ आती हैं अवश्य, पर बहुत झीनी, और वह भी कभी-कभी।'

इसे भी सौभाग्य समझो कि आती हैं। बस उन लहरों को ही पकड़ो, उनमें डूबो! एक धागा भी हाथ में आ जाए तो बस काफी है। इसीलिए तो भक्ति के इस शास्त्र को भक्ति-सूत्र कहा है, योग के शास्त्र को योग-सूत्र कहा है – धागा! सूत्र यानी धागा। यह पूरा शास्त्र नहीं है, बस सूत्र है। पर सूत्र हाथ में पकड़ आ गया, तो बात खत्म। उसी सूत्र के सहारे चलते-चलते तो ...

एक किरण पकड़ लो सूरज की तो सूरज तक पहुँचने के लिए सहारा मिल गया। उसी किरण के सहारे चलते जाना, तो उसके स्रोत तक पहुँच जाओगे, जहाँ से किरण आती है।

मगर हमारा मन बड़ा लोभी है। वह कहता है: 'कभी-कभी!' कभी-कभी आती हैं, यह भी कोई कम सौभाग्य है? एक बार भी जीवन में लहर आ जाए और तुम अगर होशियार हो, तुम अगर ज़रा समझदार हो तो तुम उस एक ही लहर के सहारे उसके सागर को पा लोगे।



'कभी-कभी आती हैं!' – ज़रूरत से ज्यादा आ रही हैं।

तुम्हारी पात्रता क्या है? योग्यता क्या है? कमाई क्या है? कुछ भी नहीं है। उसकी अनुकंपा से आती होंगी। प्रसादस्वरूप आती होंगी।

धन्यवाद दो, शिकायत मत करो! शिकायत करोगे तो जो लहरें आती हैं वे भी धीरे-धीरे खो जाएँगी। क्योंकि शिकायती चित्त के पास उपासना असम्भव है। जितनी ज्यादा तुम्हारी शिकायत होगी उतना ही परमात्मा से फासला हो जाएगा। बिना शिकायत उसके पास बैठे रहो। धन्यवाद दो!

मैंने सुना है, मुसलमान बादशाह हुआ: महमूद। उसका एक नौकर था। बड़ा प्यारा था। इतना उसे प्रेम था उस नौकर से और उस नौकर की भक्ति-भाव से, उसके अनन्य समर्पण से कि महमूद उसे अपने कमरे में ही सुलाता था। उस पर ही एक भरोसा था उसको।

दोनों एक दिन शिकार करके लौटते थे, राह भटक गये, भूख लगी। एक वृक्ष के नीचे दोनों खड़े थे। एक फल लगा था – अपरिचित, अनजान। महमूद ने तोड़ा। जैसी उसकी आदत थी, चाकू निकाल के उसने एक टुकड़ा काट के अपने नौकर को दिया, जो वह हमेशा देता था, पहले उसे देता था फिर खुद खाता था। नौकर ने खाया। बड़े अहोभाव से कहा कि 'एक कली और ...!' एक कली और दे दी, उसने फिर कहा, 'एक कली और ...।' तो तीन हिस्से तो वह ले चुका, एक हिस्सा ही बचा। महमूद ने कहा, 'अब एक मेरे लिए छोड़।' पर उसने कहा कि नहीं मालिक, यह फल तो पूरा ही मैं खाऊँगा। महमूद को भी जिज्ञासा बढ़ी कि इतना मधुर फल है, ऐसा इसने कभी आग्रह नहीं किया! तो छीना-झपटी होने लगी। लेकिन नौकर ने छीन ही लिया उसके हाथ से।

उसने कहा, 'रुक! अब यह ज़रूरत से ज्यादा हो गयी बात। तीन हिस्से तू खा चुका। एक ही फल है वृक्ष पर। मैं भी भूखा हूँ। और मेरे मन में भी जिज्ञासा उठती है कि इतनी तो तूने कभी किसी चीज़ के लिए माँग नहीं की। यह मुझे दे दे वापस।'

नौकर ने कहा, 'मालिक, मत लें, मुझे खा लेने दें।'

पर महमूद ने न माना तो उसे देना पड़ा। उसने चखा तो वह तो जहर था। ऐसी कड़वी चीज़ उसने अपने जीवन में कभी चखी ही न थी। उसने कहा, 'पागल! यह तो जहर है, तूने कहा क्यों नहीं।'

तो उसने कहा कि जिन हाथों से इतने स्वादिष्ट फल मिले, उन हाथों से एक कड़वे फल की क्या शिकायत!

शिकायत दूर ले जाएगी; धन्यवाद पास लाएगा।

थोड़ा सोचो: उस दिन वह नौकर महमूद के हृदय के जितने करीब आ

गया ... । महमूद रोने लगा । वह तो बिलकुल ज़हर था फल । वह तो मुँह में ले जाने योग्य न था । और उसने इतने अहोभाव से, इतनी प्रसन्नता से उसे स्वीकार किया, छीना-झपटी की ! वह नहीं चाहता था कि महमूद चखे । क्योंकि चखेगा तो महमूद को पता चल जाएगा कि फल कड़वा था । यह तो कहने का ही एक ढंग हो जाएगा कि फल कड़वा है — न कहा लेकिन कह दिया । यह तो शिकायत हो जाएगी । इसलिए छीन-झपट की । जिन हाथों से इतने मधुर फल मिले, उस हाथ से एक कड़वे फल की क्या चर्चा करनी ! वह बात ही उठाने की नहीं है ।

परमात्मा ने इतना दिया है कि जो शिकायत करता है वह अंधा है ।

थोड़ी लहरें आती हैं, उन लहरों में डूबो ! और लहरें आएँगी ।

धन्यवाद, अनुग्रह का भाव : बड़ी लहरें आएँगी ! एक दिन सागर-का-सागर तुम में उतर आएगा । एक दिन तुम्हें बहा के ले जाएगा । सब कूल-किनारे टूट जाएँगे ।

लेकिन सूत्र यही है कि तुम उसके प्रसाद को पहचानो और अनुग्रह के भाव को बढ़ाते चले जाओ ।

होता अक्सर ऐसा है कि जो तुम्हें मिलता है तुम उसके प्रति अंधे हो जाते हो; तुम उसे स्वीकार ही कर लेते हो कि ठीक है, यह तो मिलता ही है, और चाहिए !

अक्सर ऐसा होता है, जितना ज्यादा तुम्हें मिल जाता है, उतने ही तुम दरिद्र हो जाते हो । क्योंकि उसको तो तुम स्वीकार ही कर लेते हो, उसकी तो तुम बात ही भूल जाते हो जो मिल गया ।

एक मनोविज्ञानशाला में बंदरों पर कुछ प्रयोग किया जा रहा था । तो एक कटघरे में दस बंदर रखे गये थे जिनका रोज नहलाना-धुलाना होता था । ठीक भोजन मिलता था । बड़ी उस कटघरे में सफाई रखी गयी थी, एक मक्खी न थी ।

दूसरे कटघरे में दस उन्हीं के साथी बंदर थे । उनको नहलाया-धुलाया न जाता था । उन पे गंदगी इकट्ठी हो गयी थी, जूँ पड़ गये थे, मक्खियाँ भनभनाती रहती थीं । सफाई का कोई इन्तज़ाम नहीं किया गया था । यह तो प्रयोग था एक ।

तीन महीने में मनोवैज्ञानिकों ने जो निष्कर्ष निकाला वह यह था कि वे जो गंदे बंदर थे, जिन पे मक्खियाँ झूमती रहती थीं और जिनके शरीर में जूँ पड़ गयी थीं, और जिनको नहलाया-धुलाया न गया था — वे ज्यादा शांत और ज्यादा प्रसन्न ! और जिनको नहलाया-धुलाया जाता था, ठीक भोजन दिया जाता था, वक्त पे दिया जाता था, और सब तरह की साज-सम्हाल रखी गयी थी, एक मक्खी नहीं जाने दी गयी थी — वे बड़े परेशान !

फिर यही प्रयोग कुत्तों पे भी दोहराया गया और यही परिणाम पाया गया ।



तो मनोवैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि जब तुम्हारी ज़िंदगी में बहुत परेशानी होती है, तब तुम ज्यादा शांत होते हो । तुम परेशानी में उलझे होते हो, अशांत होने की भी तुम्हें सुविधा नहीं होती । जैसे-जैसे तुम्हारे पास सुविधा होती जाती है, वैसे-वैसे तुम अशांत होते जाते हो, क्योंकि सुविधा होती है, व्यस्तता नहीं होती, उलझाव नहीं होता—करो भी तो करो क्या ! तो तुम शिकायतों में पड़ जाते हो ।

यह मेरा अनुभव है कि जिनके जीवन में भी ध्यान की थोड़ी-सी शान्ति आनी शुरू होती है, वे और लोभ से भर जाते हैं । जिनको भक्ति की थोड़ी-सी झलक मिलती है, वे और लोभ से भर जाते हैं । जिनको नहीं मिली है, वे उतने लोभ में भरे नहीं हैं, वे ज्यादा प्रसन्न मालूम पड़ते हैं । जिंदगी का उलझाव काफी है । उन्हें स्वाद ही नहीं मिला तो लोभ कहाँ से लगे ?

तुम गौर करो, गरीब आदमी को तुम ज्यादा शांत पाओगे अमीर आदमी की बजाय । कारण साफ है : वही जो बंदरों के कटघरे में हुआ । अमीर को सब मिल रहा है, अब वह करे क्या ! शिकायत ही करता है ।

जो बाहर की अमीरी-गरीबी के सम्बंध में सच है, वही भीतर की अमीरी-गरीबी के सम्बंध में भी सच है ।

अगर तुम्हें झलकें मिल रही हैं थोड़ी, झीनी सही...झीनी भी तुम कहते हो; वह भी तुम्हारा शिकायती चित्त है, जो उन्हें झीनी बता रहा है । 'कभी-कभी मिलती हैं,' चलो कभी-कभी सही । कभी-कभी भी तुम कहते हो, वह भी तुम्हारा शिकायती चित्त है । उसमें भी लोभ है । जो मिलता है वह तो स्वीकार कर लिया । वह तो जैसे तुम मालिक थे, मिलना ही चाहिए था; तुम अधिकारी थे उसके ! बाकी जो नहीं मिल रहा है उसकी शिकायत है । तो तुमने भक्ति का राज नहीं समझा, तुम्हें उपासना की कला न आयी ।

जो नहीं मिलता उसकी बात ही मत उठाओ । वह बात उठानी अशिष्ट है । उससे असंस्कार पता चलता है । जो मिलता है उसकी बात करो, उसका गुणगान करो, उसकी महिमा गाओ, उसके गीत गुनगुनाओ । और तुम जल्दी ही पाओगे : और द्वार खुलने लगे । तुम जल्दी ही पाओगे : और नयी हवाएँ आने लगीं, और नयी झलकें मिलने लगीं ।

जैसे-जैसे आदमी को मिलना शुरू होता है कुछ, वैसे-वैसे उसके पैर शिथिल होने लगते हैं । यह भी मन की प्रकृति समझ लेनी जरूरी है ।

तुमने कभी खयाल किया, अगर तुम कहीं यात्रा पर गये हो, पदयात्रा पर, किसी तीर्थयात्रा पर, जैसे-जैसे मंदिर करीब आने लगता है, वैसे-वैसे पैर शिथिल होने लगते हैं । अक्सर ऐसा है, अक्सर तुमने देखा होगा या अनुभव भी किया होगा कि ठेठ मंदिर के सामने जा के यात्री सीढ़ियों पे बैठ जाता है । अब ज्यादा दूर

नहीं है मामला। अब पाँच सीढ़ियाँ, दस सीढ़ियाँ चढ़नी हैं, और मंदिर...! दस मील चल आया, पहाड़ चढ़ आया, अभी बठा नहीं बीच में कहीं, ठीक मंदिर के सामने आ के बैठ जाता है। लगता है : आ ही गये !

लेकिन तुम मंदिर की सीढ़ियों पर बैठो या हज़ार मील दूर मंदिर से बैठो, फर्क क्या है ? सीढ़ियों पर जो है वह भी मंदिर के बाहर है। हज़ार मील दूर जो है, वह भी मंदिर के बाहर है।

और परमात्मा का मंदिर कुछ ऐसा है कि तुम बैठे कि चूके। यह कोई जड़-पत्थर का मंदिर नहीं है कि तुम सीढ़ियों पर बैठे रहे तो मंदिर भी वहाँ रुका रहेगा; यह तो चैतन्य मंदिर है : तुम बैठे कि चूके ! तुम बैठे कि मंदिर दूर गया ! तुम रुके कि खोया !

'सामने मंजिल है और आहिस्ता उठते हैं कदम
पास आ कर दूर हो रहे हैं मंजिल से हम।'
सावधान रहना !

जब ध्यान की लहरें उठने लगें, भक्ति की उमंग आने लगे, थोड़ी रसधार बहे, थोड़ी मस्ती छाये, तो दो खतरे हैं। एक खतरा यह है, जो इस प्रश्न करने वाले ने पूछा है, वह खतरा यह है कि तुम कहो कि यह तो कुछ भी नहीं है, और चाहिए ! तो भी तुम दूर हो जाओगे। दूसरा खतरा यह है कि तुम कहो, 'बस हो गया ! पहुँच गये।' और बैठ जाओ, तो भी तुम खो गये !

फिर करना क्या है ?

चलते जाना है और शिकायत नहीं करनी है !
चलते जाना है और अहोभाव से भरे रहना है !
चलते जाना है और धन्यवाद देते जाना है !

ओंठ पर गीत रहे धन्यवाद का; और पैर, पैर रुकें न ! धन्यवाद तुम्हारा रुकावट न बन जाए !

अक्सर ऐसा होता है कि शिकायती चलते हैं और धन्यवादी बैठ जाते हैं। दोनों खतरे हैं।

पहुँचता वही है जिसने उस गहरे संयोग को साध लिया; धन्यवादी है, और चलता है। बड़ा गहरा संतुलन है, लेकिन अगर होश रखो तो सध जाता है।

चौथा प्रश्न : कल के सूत्र में कहा गया कि लौकिक और वैदिक कर्मों के त्याग को निरोध कहते हैं और निरोध भक्ति का स्वभाव है। और फिर यह भी कहा गया कि भक्त को शास्त्रोक्त कर्म विधिपूर्वक करते रहना चाहिए। कृपया इस विरोध को स्पष्ट करें।

विरोध नहीं है, दिखायी पड़ता है। जो भी पढ़ेगा, तत्क्षण दिखायी पड़ेगा



कि पहले तो कहा लौकिक और वैदिक कर्म, सबका त्याग हो जाता है, निरोध हो जाता है, छूट जाते हैं; और फिर कहा, करते रहना चाहिए।

विरोध दिखायी पड़ता है, विरोध है नहीं। जान के ही दूसरा सूत्र रखा गया है कि जब तुम्हारे जीवन से लौकिक और वैदिक, इस लोक के और परलोक के, सारी आकांक्षाएँ और सारे कर्म छूट जाते हैं, तो कहीं ऐसा न हो कि तुम कर्मों को छोड़ ही दो। कर्म तो छूट जाते हैं, लेकिन तुम करते रहना। इसका अर्थ हुआ कि अब तक तुमने कर्ता की तरह किया था, अब अभिनेता की तरह करना। फिर तत्क्षण विरोध खो जाता है। अब तक तुमने किया था कि मैं कर्ता हूँ, अब तुम अभिनेता की तरह करना। क्योंकि जिस विराट समूह के तुम हिस्से हो, वह मानता है कि ये कर्म उचित हैं। इनका अभिनय करना है। तुम्हारे लिए इनका कोई मूल्य नहीं है।

ऐसा ही समझो : जब शहर में आते हो तो बाएँ चलने लगते हो; जंगल में जा के फिर बाएँ-दाएँ का हिसाब रखने की कोई ज़रूरत नहीं। जंगल में तुम अकेले हो : बाएँ चलो, दाएँ चलो, बीच में चलो, जैसा चलना हो चलो, क्योंकि वहाँ कोई पुलिस वाला नहीं खड़ा है, रास्ते पे कोई तख्तियाँ नहीं लगी हैं। वहाँ कोई और है ही नहीं तुम्हारे सिवाय।

अगर जंगल में भी जा के तुम बाएँ-ही-बाएँ चलो तो तुम पागल हो, फिर तुम्हारा दिमाग खराब है। क्योंकि बाएँ चलने का कोई संबंध चलने से नहीं है, बाएँ चलने का संबंध भीड़ में चलने से है। जब अकेले हो तब मुक्त हो।

तो, जो व्यक्ति भक्त की दशा को उपलब्ध हुआ, अपने भीतर अपने एकांत में तो सभी नियमों के बाहर हो जाता है। वहाँ न तो कोई शास्त्र है, न कोई नियम है, न कोई रीति है, न कुछ पाना है, न कहीं जाना है। वह तो अपने भीतर परम अवस्था को उपलब्ध हो गया है। वह तो परमात्मा के साथ एकरस हो गया! भीतर, जहाँ सब एकांत है, वहाँ तो अद्वैत हो गया, वहाँ तो अनन्यता सध गयी !

लेकिन बाहर, जब वह राह पर जाएगा, तब ? तब बाएँ चलेगा। कहीं ऐसा न हो कि जो तुमने भीतर अनुभव किया है, तुम उसे बाहर भी थोपने की चेष्टा में न पड़ जाओ, इसीलिए स्पष्ट सूत्र पीछे दिया है : करने चाहिए ! 'उस व्यक्ति को शास्त्रोक्त कर्म विधिपूर्वक करने चाहिए।' जान के, होश से, उन नियमों का पालन करना चाहिए। वे अभिनय होंगे अब। उनकी कोई अर्थवत्ता नहीं है।

लेकिन अगर तुम अंधों के बीच रहते हो तो अंधों के नियम मानो। अगर तुम अज्ञानियों के बीच रहते हो तो अज्ञानियों के नियम मानो।

इसे थोड़ा समझने जैसा है।

भारत में एक बड़ी प्राचीन धारणा है कि जब व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध हो जाए तो वह चेष्टापूर्वक नियमों को वैसा ही मानता रहे जैसा पहले मानता था जब ज्ञान को उपलब्ध न हुआ था। शायद यही कारण है कि भारत में महावीर, बुद्ध, पतंजलि, नारद, कबीर, किसी को भी जीसस जैसी सूली नहीं लगानी पड़ी, सूली पे नहीं लटकाना पड़ा, और न सुकरात जैसा ज़हर पिला के मारना पड़ा।

इसके पीछे बहुत-से कारणों में एक बुनियादी कारण यह भी है कि बुद्ध ने जो भीतर पाया, उसे ज़बरदस्ती उन लोगों पे नहीं थोपा जो अभी उसको समझ भी न सकते थे। भीड़ से अकारण संघर्ष न लिया। भीड़ को फुसलाया, समझाया, जगाने की चेष्टा की, ऊपर उठाने के उपाय किये; लेकिन अकारण संघर्ष न लिया।

जीसस सीधे संघर्ष में आ गये। शायद जीसस के मुल्क में, यहूदियों के समाज में, ऐसा कोई सूत्र नहीं था। ऐसे किसी सूत्र को मैं अब तक नहीं देख पाया हूँ यहूदियों के किसी भी शास्त्र में, जिसमें यह कहा गया हो कि परम ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति समाज के नियमों को मान कर चले। टकराहट स्वाभाविक हो गयी।

और जब टकराहट होगी तो एक बात पक्की है कि ज्ञानी तो एक है, अज्ञानी करोड़ हैं। भीड़ उनकी है। वे ज्ञानी को मार डालेंगे। ज्ञानी अज्ञानियों को तो न उठा पाएगा, अज्ञानी ज्ञानी को मिटा देंगे।

तो, भीड़ को मान कर चलना सिर्फ अपनी सुरक्षा ही नहीं है — क्योंकि ज्ञानी को अपनी सुरक्षा की क्या चिंता! — भीड़ को मान कर चलना, भीड़ पर करुणा है। अन्यथा भीड़ तुम्हारे विपरीत हो जाएगी; तुम उसे फुसला भी न सकोगे, राज़ी भी न कर सकोगे, तुम उसे दिशा भी न दे सकोगे।

ऐसा समझो कि तुम मेरे साथ हो, तुम्हारी निन्नानवे बातें मैं मान लेता हूँ तो तुम भी मेरी एक बात मानने को तैयार हो सकते हो; हालांकि मेरी एक तुम्हें बिलकुल बर्बाद कर देगी, तुम जहाँ हो वहाँ से उखाड़ देगी। और तुम्हारी निन्नानवे मेरा कुछ बिगाड़ने वाली नहीं हैं। तुम्हारी निन्नानबे मेरे लिए अभिनय होंगी। मेरी एक तुम्हारे लिए जीवन-क्रान्ति हो जाएगी।

आखिरी प्रश्न : जिसे भक्ति में अनन्यता कहा है, क्या वही दर्शन का अद्वैत नहीं है?

अर्थ तो वही है, लेकिन स्वाद में बड़ा भेद है।

अनन्यता में रस है। अद्वैत बड़ा रूखा-सूखा शब्द है। अद्वैत तर्क का शब्द है; अनन्यता प्रेम का।

अनन्यता कहती है : एक हो गये!

अद्वैत कहता है : दो न रहे।



बात तो वे एक ही कहते हैं। लेकिन 'दो न रहे', इसमें बड़ा तर्क है। अद्वैत यह भी नहीं कहता कि 'एक' हो गये, क्योंकि 'एक' कहने से 'दो' का खयाल आ सकता है। 'एक' में 'दो' का खयाल छिपा ही है। इसलिए कान को सीधा न पकड़ के तर्कशास्त्र हाथ घुमा के उलटा पकड़ता है : 'दो' न रहे, इसलिए अद्वैत। क्या हुआ, इसके संबंध में बात नहीं कही जा रही है।

'अनन्यता' सीधी खबर है कि क्या हुआ।

'अद्वैत' बाहर-बाहर से खबर है।

अद्वैत ऐसा है जैसा कोई तुमसे पूछे कि 'प्रेम क्या', और तुम कहो, 'घृणा नहीं'। निषेध से कहा जा रहा है। माना कि प्रेम घृणा नहीं है, यह सच है; लेकिन प्रेम घृणा के न होने से बहुत ज्यादा है।

'अनन्यता' बड़ा प्यारा शब्द है। दूसरा दूसरा न रहा : अनन्य का अर्थ है। अन्य अन्य न रहा, अनन्य हो गया! दूसरा दूसरा न रहा, एक हो गये! अद्वैत से ज्यादा है यह बात। इसमें थोड़ा रस है जो अद्वैत में नहीं है।

'अद्वैत' गणित और तर्क का शब्द है; 'अनन्यता' प्रेम और काव्य का। अद्वैत पर किताब लिखनी हो तो रूखी-सूखी होगी। अनन्यता पर किताब लिखनी हो तो काव्य होगा, तो गीत होगा।

अनन्यता प्रगट करनी हो तो नाच के प्रगट हो सकती है; जैसे नर्तक नृत्य से एक हो जाता है, ऐसा अनन्य। अनन्यता प्रगट करनी हो तो मस्ती से प्रगट होगी। अद्वैत प्रगट करना हो तो मस्ती की कोई जरूरत नहीं; नृत्य की जरूरत ही नहीं है; नृत्य को बीच में लाने में बाधा पड़ेगी; सीधे तर्क के नियम काफी हैं।

इसलिए वेदांत के शास्त्र बड़े रूखे-सूखे हैं, मरुस्थल जैसे हैं! वे भी परमात्मा के ही शास्त्र हैं, क्योंकि मरुस्थल भी परमात्मा के ही हैं। लेकिन वहाँ हरियाली नहीं उगती। वहाँ फूल नहीं लगते और पक्षियों का कोई कलरव नहीं होता। झरनों का कलकलनाद वहाँ नहीं है। राह से गुजरोगे तो मरुस्थल में भी खजूर के पेड़ मिल जाते हैं, वे भी वेदांत में न मिलेंगे।

इसलिए वेदांत ने एक बड़ा रूखा-सूखा शास्त्र दिया है। इसलिए वेदांती तर्क करते रहे, खंडन-मंडन करते रहे, शास्त्रार्थ करते रहे। भक्त नाचा! उतना समय उसने इसमें न गँवाया।

चैतन्य नाचे! ले लिया तंबूरा, गाँव-गाँव नाचे! नहीं किया कोई विवाद।

मीरा नाची!

पग घुंघरू बाँध नाची!

कोई विवाद नहीं किया!

विवाद में कहाँ वह स्वाद जो पग-घुंघरुओं में है!

विवाद में कहाँ वह स्वाद जो वीणा की झँकार में है !

और जब इतने मधुर उपाय उपलब्ध हों तो क्या तर्क जैसा रूखा-सूखा उपाय खोजना !

मीरा बरसी !
जिसने देखा वह डूबा !
जो पास आया, भूला !
विस्मृत किया अपने को !
एक डुबकी लगायी !
कुछ ले के गया !

चैतन्य के जीवन में तो दोनों घटनाएँ हैं, क्योंकि पहले वे बड़े तर्कशास्त्री थे, न्यायविद् थे। और एक ही काम था उनके जीवन में : विवाद। उन जैसा विवादी नहीं था। बंगाल में उनकी बड़ी ख्याति थी। बड़े-बड़े पंडितों को उन्होंने हराया। लेकिन धीरे-धीरे एक बात समझ में आयी : पंडित हार जाते हैं, वे जीत जाते हैं—लेकिन भीतर कोई रसधार नहीं बह रही; इस जीत को भी इकट्ठा करके भी क्या करेंगे ! ऐसे जीवन बीता जाता है। यह प्रमाण-पत्र इकट्ठे करके क्या होगा कि कितने लोगों को जीत लिया और कितने लोगों को तर्क में पराजित किया ! यह तर्क के जाल से क्या होगा !

एक दिन होश आया कि यह तो समय को गँवाना है। फिर उन्होंने सब तर्क छोड़ दिया। शास्त्र नदी में डुबा दिये। ले लिया मंजीरा, नाचने लगे ! तब उन्होंने किसी और ढंग से लोगों को जीता। तर्क से नहीं जीता, प्रेम से जीता ! तब उनके चारों तरफ एक, एक अलग ही माहौल चलने लगा ! उनकी हवा में एक और गंध आ गयी ! जहाँ उनके पैर पड़े, वहीं विजय-यात्रा हुई। जिसने उन्हें देखा, वही हारा। लेकिन इस हार में कोई हराया न गया। इस हार में कोई अहंकार न था जीतने वाले का। इस हार में हारने वाले को पीड़ा न हुई। यह प्रेम की हार थी जो कि जीतने का एक ढंग है।

प्रेम की हार में कोई हारता ही नहीं, दोनों जीतते हैं।

प्रेम में जीते तो जीत, हारे तो जीत। वहाँ हार-जीत में भेद नहीं है।

अनन्यता बड़ा मधुर शब्द है; अद्वैत बिलकुल रूखा-सूखा !

अनन्यता ऐसा है जैसा हरा फल, रस-भरा !

अद्वैत ऐसा है जैसे सूखा फल, झुर्रियाँ पड़ा, सब रस खो गया !

गुठली-ही-गुठली है अद्वैत !

पर अद्वैत की भाषा अहंकार को जमती है, क्योंकि अहंकार को गँवाने की शर्त नहीं है वहाँ।



इसलिए तुम देखोगे : अद्वैतवादी संन्यासी हैं भारत में, उनको तुम बड़ा अहम्मन्य पाओगे, बड़े अहंकार से भरा हुआ पाओगे। क्योंकि सारी पकड़ तर्क की है। तुम भक्त की कमनीयता उनमें न पाओगे। भक्ति की लोच, भक्त का सौंदर्य, वहाँ उसका अभाव होगा !

भारत ने अद्वैत के नाम पर बहुत खोया। भारत अकड़ा अद्वैत के कारण, अहंकारी हुआ, दम्भ बढ़ा, शास्त्र बढ़े, तर्कजाल फैला। लेकिन भारत का हृदय धीरे-धीरे रस से शून्य होता चला गया। तो ऐसा कुछ हो गया जैसे कि उत्तप्त गर्मी के दिन आते हैं, सूरज तपता है और पृथ्वी सूख जाती है और दरारें पड़ जाती हैं !

भक्ति की वर्षा चाहिए !
—ताकि फिर दरारें खो जाएँ !
—धरती का कण्ठ फिर भीगे !
—धरती के प्राण तृप्त हों !
—तृषा मिटे !
—और धरती धन्यवाद में आकाश को हज़ारों-हज़ारों वृक्षों के फूल भेंट करे !

भक्ति वर्षा है ! अद्वैत उत्तप्त सूर्य है !

पर अपनी-अपनी मौज ! अद्वैत से भी कोई पहुँचना चाहे तो पहुँच जाता है। लेकिन तब बड़ा ध्यान रखना जरूरी है कि कहीं यह तर्कजाल अहंकार को मजबूत न करे।

भक्ति सुगम है। और भक्ति में भटकना कम संभव है। क्योंकि भक्ति की पहली ही शर्त है अहंकार को छोड़ना।

भक्ति का सारा ज़ोर 'उस' पर है।

अद्वैत कहता है : 'अहं ब्रह्मास्मि ! मैं ब्रह्म हूँ !' ठीक है बिलकुल बात। अगर जोर ब्रह्म पे हो तो ठीक है, कहीं ज़ोर 'मैं' पे हुआ तो बिलकुल गलत है। कौन तय करेगा, किस पे जोर है? 'अहं ब्रह्मास्मि ! मैं ब्रह्म हूँ !'—जब मैं यह कहूँ कि मैं ब्रह्म हूँ तो तुम कैसे तय करोगे कि मेरा ज़ोर कहाँ है : 'मैं' पर या ब्रह्म पर ? अगर ब्रह्म पे हुआ तो सब ठीक, अगर मैं पे हुआ तो सब गलत। वाक्य वही है।

लेकिन भक्ति 'मैं' पर बात ही नहीं उठाती। भक्ति कहती है : 'उसके' अनन्य प्रेम में डूब जाना, 'उसके' परम प्रेम में डूब जाना भक्ति है। 'उसके' !

आज इतना ही।

## पाँचवाँ प्रवचन

दिनांक १५ जनवरी, १९७६; श्री रजनीश आश्रम, पूना

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात् ॥ १५ ॥
पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ १६ ॥
कथादिष्विति गर्गः ॥ १७ ॥
आत्मरत्यविरोधेनेति शांडिल्यः ॥ १८ ॥
नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता
तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ १९ ॥
अस्त्येवमेवम् ॥ २० ॥
यथा व्रजगोपिकानाम् ॥ २१ ॥
तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥ २२ ॥
तद्विहीनं जाराणामिव ॥ २३ ॥
नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ॥ २४ ॥

# कलाओं की कला है भक्ति

विराट का अनुभव – मुश्किल ! पर अनुभव से भी ज्यादा मुश्किल है अभिव्यक्ति । जान लेना बहुत मुश्किल – जना देना और भी ज्यादा मुश्किल ! क्योंकि व्यक्ति मिट सकता है ... बूंद खो सकती है सागर में, और अनुभव कर ले सकती है सागर का; लेकिन दूसरी बूंदों को कैसे कहे, जिन्होंने मिटना नहीं जाना, जो अभी अपनी पुरानी सीमाओं में आबद्ध हैं...उनको कैसे कहे !

एक पक्षी उड़ सकता है खुले आकाश में अपने पिंजरे से; लेकिन जो पिंजरे में बंद हैं, उन्हें खुले आकाश की खबर कैसे दे !

खुला आकाश एक अनुभव है – बड़ा सूक्ष्म ! प्राणों में उसका स्पर्श होता है; गहरे में उसकी अनुभूति होती है – लेकिन शब्दों में कैसे उसे कोई बाँधे !

शब्द में बँधते ही आकाश आकाश नहीं रह जाता । शब्द में बँधते ही विराट विराट नहीं रह जाता । इधर शब्द में बाँधा कि उधर अनुभव झूठा हुआ ।

इसलिए बहुत हैं जो जान के चुप रह गये हैं । बहुत हैं जो जान के गूंगे हो गये हैं । गूंगे थे नहीं; जानने ने गूंगा बना दिया । बहुत थोड़े-से लोगों ने हिम्मत की है – दूर की खबर तुम तक पहुँचाने की । वह हिम्मत दाद देने के योग्य है । क्योंकि असंभव है चेष्टा । माध्यम इतने अलग हैं.. !

समझें : जैसे देखा सौंदर्य आँख से, और फिर किसी को बताना हो और वह अंधा हो, तो क्या करियेगा ? फिर कोई और माध्यम चुनना पड़ेगा; आँख का माध्यम तो काम न देगा । तुमने तो आँख से देखा था सौंदर्य सुबह का, या रात का तारों से भरे आकाश का, अंधे को समझाना है, आँख का माध्यम तो काम नहीं देगा, तो सितार पर गीत बजाओ ! धुन बजाओ ! नाचो ! पैरों में घूंघर बाँधो ! लेकिन माध्यम अलग हो गया : जो देखा था, वह सुनाना पड़ रहा है ।

तो जो देखा था, वह कैसे सुनाया जा सकता है ? जो आँख ने जाना, वह कान कैसे जानेगा ?

इससे भी ज्यादा कठिन है बात सत्य के अनुभव की । क्योंकि अनुभव होता है निर्विचार में और अभिव्यक्ति देनी पड़ती है विचार में । विचार सब झूठा कर देते हैं ।

फिर भी हिम्मतवर लोगों ने चेष्टा की है : करुणा के कारण, शायद किसी के मन में थोड़ी भनक पड़ जाए; न सही पूरी बात, न सही पूरा आकाश, थोड़ी-सी मुक्ति की सुगबुगाहट आ जाए, थोड़ी-सी पुलक पैदा हो जाए; न सही पूरा दृश्य स्पष्ट हो, प्यास ही जग जाए; सत्य न बताया जा सके न सही, लेकिन सत्य की तरफ जाने के लिए इशारा, इंगित किया जा सके– उतना भी क्या कम है !

'हज़ारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा।'

हज़ारों साल तक नर्गिस रोती है, कोई उसकी रोशनी को देखने और दिखाने वाला नहीं। फिर कहीं कोई दीदावर पैदा होता है, कहीं कोई एक आँख वाला पैदा होता है।

नर्गिस को तो शायद एक आँख वाला भी, उसकी रोशनी के लिए बोध दिला देता होगा कि मत रो, तू सुन्दर है; लेकिन सत्य के लिए तो और भी कठिनाई है। हज़ारों साल में कभी कोई दीदावर वहाँ भी पैदा होता है। फिर वह जो कहता है, वह कोई गीत जैसा नहीं है, हकलाने जैसा है; वह नाच जैसा नहीं है, लंगड़ाने जैसा है। और नाच में और लंगड़े की गति में जितना अंतर है, किसी के मधुर गीत में और किसी के हकलाने में जितना अंतर है, उतना ही अंतर सत्य को देखने में और सत्य को कहने में है।

बहुत तो चुप रह गये। उन्होंने यह झंझट न ली। लोगों ने पूछा भी ऐसे चुप रह जाने वालों से। वे तो ढोंग कर गये कि दीवाने हैं। वे तो पागल बन गये। उन्होंने तो अपने चारों तरफ एक पागलपन का अभिनय कर लिया। धीरे-धीरे लोग समझ गये कि पागल हो गये हैं, छोड़ो भी !

'चलो अच्छा हुआ काम आ गयी दीवानगी अपनी
वर्ना हम ज़माने-भर को समझाने कहाँ जाते।'

बहुत हैं जिन्होंने सत्य को जान कर अपने को पागल घोषित कर दिया है। सूफी उनको मस्त कहते हैं। दुनिया उनको पागल समझ लेती है। झंझट मिटी ! अब कोई पूछने भी नहीं आता कि क्या जाना। पागल से कौन पूछता है !

लेकिन कुछ थोड़े-से लोग इतना आसान रास्ता नहीं लेते। वे लाख तरह की चेष्टा करते हैं कि तुम्हें किसी तरह जतला दें। तुम्हारा हाथ पकड़ के चलाने की कोशिश करते हैं। तुम्हारे भीतर तुम्हारे प्रेम की आग को जलाने की कोशिश करते हैं। ईंधन बन जाते हैं तुम्हारे हृदय में कि लपटें लगें। हज़ार तरह के झूठ भी बोलते हैं, सिर्फ इसीलिए कि सत्य की तरफ थोड़ा इशारा हो जाए। तो, यह पाप करने जैसा है।



लाओत्सु ने कहा है : 'सत्य बोला नहीं कि झूठ हुआ नहीं। जो भी बोला जाएगा वह झूठ हो जाएगा।'

इसका यह अर्थ हुआ कि बुद्धपुरुष झूठ बोलते रहे, बोले तो झूठ ही बोले; क्योंकि बोलने में सच तो आता नहीं, बोलने में ही झूठ हो जाता है।

जैसे तुमने कभी देखा, लकड़ी सीधी, पानी में डालो, तिरछी दिखायी पड़ने लगती है। झूठ हो गया। बाहर खींचो, सीधी-की-सीधी है। पानी में डालो, फिर तिरछी दिखायी पड़ने लगती है। क्या हो जाता है ? पानी का माध्यम हवा के माध्यम से भिन्न है। तो हवा के माध्यम में लकड़ी का जो रूप है, रंग है, वह पानी में नहीं रह जाता। जानते हो तुम भलीभाँति कि लकड़ी सीधी है; तुमने ही डाली है, लेकिन तुम्हीं को तिरछी दिखायी पड़ने लगती है।

उनकी तो बात ही छोड़ दो – सुनने वालों की– जब सत्य को जानने वाला सत्य बोलने की कोशिश करता है, उसको खुद ही तिरछा दिखायी पड़ने लगता है। भाषा का माध्यम, अभिव्यक्ति का माध्यम... !

नारद ने इन सूत्रों में, भक्ति की कितने-कितने ढंगों से व्याख्या की गयी है, उनके थोड़े-से उदाहरण दिये हैं।

'अब नाना मतों के अनुसार उस भक्ति के लक्षण बताते हैं।'

भक्ति तो एक है, मत नाना हैं। क्योंकि जिसको जैसा सूझा, वैसी उसने अभिव्यक्ति दी है। जिसको जैसी समझ आयी, जिसका जैसा ढंग था, उसने वैसे रंग भरे। ये लक्षण भक्ति के नहीं हैं; अगर गौर से समझो तो ये लक्षण, जिस भक्त ने भक्ति का गीत गाया, उसके हैं। ये देखने के ढंग के सम्बंध में खबर देते हैं; जो देखा गया उस सम्बंध में कुछ भी खबर नहीं देते।

बहुत मत हैं। बहुत मत होंगे ही, क्योंकि भक्ति अनंत है। उसके बहुत किनारे हैं, और कहीं से भी घाट बना के तुम अपनी नौका को छोड़ दे सकते हो सागर में। फिर जब तुम सागर की गहराइयों में पहुँचोगे, मध्य में पहुँचोगे, उस पार पहुँचोगे, तो स्वभावतः तुम उसी घाट की बात करोगे जिससे तुमने नाव छोड़ी थी। और तुम कहोगे कि जिसको भी नाव छोड़नी हो, वही घाट है। तुम्हें और घाटों का पता भी नहीं है। एक घाट काफी है। तुम अपने ही घाट का वर्णन करोगे। दूसरा किसी और घाट से उतरा था सागर में। सागर के घाटों का कोई हिसाब है ! कोई हिन्दू की तरह उतरा था; कोई मुसलमान की तरह उतरा था, कोई ईसाई की तरह उतरा था। ये सब घाट हैं, तीर्थ। फिर जो जहाँ से उतरा था, उसी की बात करेगा। दूसरे पर पहुँच कर भी, तुमने जिस किनारे से नाव छोड़ी थी, तुम्हारे दूसरे किनारे की अभिव्यक्ति में उस किनारे का हाथ रहेगा।

तो ये लक्षण जो भक्ति के हैं, भक्तों ने बताये हैं, इन में ध्यान रखना : जो

जहाँ से पहुँचा उसने उसी की बात की। यह चर्चा मंजिल की कम, यात्रा की ज्यादा है; यह आखिरी कदम की नहीं, पहले कदम की है। और ठीक भी है, क्योंकि तुम, जो चले नहीं हो, उन्हें पहले कदम की ही ज़रूरत है, आखिरी कदम की ज़रूरत भी नहीं है। दूसरे किनारे की चर्चा हो नहीं सकती; हो भी तो तुम्हारे किसी काम की नहीं है। अभी तो इस किनारे से भी तुम दूर खड़े हो। अभी तो इस किनारे पे आने के लिए भी तुम्हें हिम्मत जुटानी पड़ेगी।

और निश्चित ही, सभी घाटों से नाव छोड़ने की कोई जरूरत नहीं है, एक ही घाट पर्याप्त है। सभी से छोड़ना भी चाहोगे तो कैसे छोड़ोगे? जब भी छोड़ोगे, एक ही घाट से छोड़ोगे।

किसी घाट पर पत्थर जड़े हैं। किसी घाट पर हीरे जड़े होंगे। किसी घाट पर आकाश को छूते वृक्ष खड़े हैं। किसी घाट पे मरुस्थल होगा, रेत का विस्तार होगा। किसी घाट पर आदमी ने कुछ व्यवस्था कर ली होगी, सीढ़ियाँ लगा ली होंगी। किसी घाट पर कोई व्यवस्था न होगी, अराजक होगा। पर इससे क्या फर्क पड़ता है! नाव छूट जाती है सभी घाटों से।

'शोरे-नाकूसे-बरहमन हो कि बागे-हरम
छुपके हर आवाज़ में तुझको सदा देता हूँ मैं।'

जो जानते हैं, वे कहते हैं: यह मंदिर के पुजारी के घंटों की आवाज़ हो कि मस्जिद के मुल्ला की, सुबह की बाँग हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

'छुपके हर आवाज़ में तुझको सदा देता हूँ मैं।'

हर आवाज़ में, हर ढंग में, हर व्यवस्था में, खोजने वाला तो वही चैतन्य है; वही प्राण हैं – प्यासे, प्रेम के लिए आतुर!

'अब नाना मतों के अनुसार उस भक्ति के लक्षण बताते हैं।'

'पराशर के पुत्र व्यास के अनुसार भगवान की पूजा आदि में अनुराग होना भक्ति है।'

पूजा का अर्थ होता है: परमात्मा को प्रतिस्थापित करना; एक पत्थर की मूर्ति है या मिट्टी की मूर्ति है, परमात्मा को उसमें आमंत्रित करना; परमात्मा को कहना कि 'इसमें आओ और विराजो – क्योंकि तुम हो निराकार: कहाँ तुम्हारी आरती उतारूँ? हाथ मेरे छोटे हैं, तुम छोटे बनो! तुम हो विराट: कहाँ धूप-दीप जलाऊँ? मैं छोटा हूँ, सीमित हूँ, तुम मेरी सीमा के भीतर आओ! तुम्हारा ओर-छोर नहीं: कहाँ नाचूँ? किसके सामने गीत गाऊँ? तुम इस मूर्ति में बैठो!'

पूजा का अर्थ है: परमात्मा की प्रतिस्थापना सीमा में, आमंत्रण। इसलिए पूजा का प्रारंभ उसके बुलाने से है।

अँगरेजी में शब्द है 'गॉड' भगवान के लिए। वह शब्द बड़ा अनूठा है!



उसका मूल अर्थ है – जिस मूल धातु से वह पैदा हुआ है, भाषाशास्त्री कहते हैं, उस मूल धातु का अर्थ है – 'जिसको बुलाया जाता है'। बस इतना ही अर्थ है। जिसको बुलाया जाता है, जिसको पुकारा जाता है – वही भगवान।

दूसरा, जिसने कभी पूजा का रहस्य नहीं जाना, देखेगा तुम्हें बैठे पत्थर की मूर्ति के सामने, समझेगा: 'नासमझ हो! क्या कर रहे हो?' उसे पता नहीं कि पत्थर की मूर्ति अब पत्थर की नहीं – मृण्मय चिन्मय हो गया है! क्योंकि भक्त ने पुकारा है! भक्त ने अपनी विवशता जाहिर कर दी है। उसने कह दिया है कि 'मैं मजबूर हूँ। तुम जैसा विराट मैं न हो सकूँगा, तुम कृपा करो, तुम तो हो सकते हो मेरे जैसे छोटे! मेरी अड़चनें हैं। मेरी शक्ति नहीं इतनी बड़ी कि तुम जैसा विराट हो सकूँ। दया करो! तुम ही मुझ जैसे छोटे हो जाओ ताकि थोड़ा संवाद हो सके, थोड़ी गुफ्तगूँ हो सके, दो बातें हो सकें। मैं फूल चढ़ा सकूँ, आरती उतार सकूँ, नाच लूँ: तुम्हारा कुछ न बिगड़ेगा। सभी रूप तुम्हारे हैं, यह एक और रूप तुम्हारा सही! मुझे बहुत कुछ मिल जाएगा, तुम्हारा कुछ खोएगा नहीं।'

भक्त की आँख से देखना मूर्ति को, नहीं तो तुम मूर्ति को न देख पाओगे; तुम्हें पत्थर दिखायी पड़ेगा, मिट्टी दिखायी पड़ेगी। भक्त ने वहाँ भगवान को आरोपित कर लिया है। और जब परिपूर्ण हृदय से पुकारा जाता है, तो मिट्टी भी उसी की है। मिट्टी उससे खाली तो नहीं। पत्थर उसके बाहर तो नहीं। वह वहाँ छिपा ही पड़ा है। जब कोई हृदय से पुकारता है तो उसका आविर्भाव हो जाता है।

इसलिए भक्त जो देखता है मूर्ति में, तुम जल्दी मत करना, तुम नहीं देख सकते। देखने के लिए भक्त की आँखें चाहिए।

'बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा
हज़ारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है।'

पत्थर रोते हैं हज़ारों साल, तब कहीं कोई पत्थर में परमात्मा को देखने वाला पैदा होता है।

आँख चाहिए!

पूजा का प्रारम्भ है आमंत्रण में कि आओ, विराजो, प्रतिस्थापना में!

मूर्ति तो झरोखा है, वहाँ से हम विराट में झाँकते हैं।

तुम अपने घर में खड़े हो, झरोखे से आकाश में झाँकते हो। तुम चाँद-तारों की बात करो, दूर फैले नील-गगन की बात करो, और कोई दूसरा हो जिसको सिर्फ चौखटा ही दिखायी पड़ता हो खिड़की का, वह कहे, 'कहाँ की बातें कर रहे हो? पागल हो गये हो? लकड़ी का चौखटा लगा है, और तो कुछ भी नहीं। कहाँ के चाँद-तारे?'...

तो, जब तुम्हें मूर्ति में कुछ भी न दिखायी पड़े तो जल्दी मत करना; तुम्हें चौखटा ही दिखायी पड़ रहा है।

भक्त जब हृदयपूर्वक बुलाता है तो मूर्ति खुल जाती है, उसके पट बंद नहीं रहते। भक्त को उस मूर्ति के माध्यम से कुछ दिखायी पड़ने लगता है। उसे देखने के लिए भक्त की ही आँखें चाहिए।

कहते हैं कि मजनू जब बिलकुल पागल हो गया लैला के लिए, तो उस देश के सम्राट ने उसे बुलवाया। उसे भी दया आने लगी; द्वार-द्वार गली-गली कूचे-कूचे वह पागल 'लैला-लैला' चिल्लाता फिरता है! गाँव-भर के हृदय पसीज गये। लोग उसके आँसुओं के साथ रोने लगे। सम्राट ने उसे बुलाया और कहा, 'तू मत रो।' उसने अपने महल से बारह सुंदरियाँ बुलवाईं और उसने कहा, 'इस पूरे देश में भी तू खोजेगा, तो ऐसी सुंदर स्त्रियाँ तुझे न मिलेंगी। कोई भी तू चुन ले।'

मजनू ने आँख खोली। आँसू थमे। एक-एक स्त्री को गौर से देखा, फिर आँसू बहने लगे और उसने कहा कि लैला तो नहीं है। सम्राट ने कहा, 'पागल! तेरी लैला मैंने देखी है, साधारण-सी स्त्री है। तू नाहक ही बावला हुआ जा रहा है।'

कहते हैं, मजनू हँसने लगा। उसने कहा, 'आप ठीक कहते होंगे; लेकिन लैला को देखना हो तो मजनू की आँख चाहिए। आपने देखी नहीं। आप देख ही नहीं सकते, क्योंकि देखने का एक ही ढंग है लैला को—वह मजनू की आँख है। वह आपके पास नहीं है।'

भगवान को देखने का एक ही ढंग है, वह भक्त की आँख है।

तो कोई अगर मंदिर में पूजा करता हो तो नाहक हँसना मत।

मूर्ति-भंजक होना बहुत आसान है, क्योंकि उसके लिए कोई संवदेनशीलता तो नहीं चाहिए। मूर्तियों को तोड़ देना बहुत आसान है, क्योंकि उसके लिए कोई हृदय की गहराई तो नहीं चाहिए।

मूर्ति में अमूर्त को देखना बड़ा कठिन है! वह इस जगत की सबसे बड़ी कला है। आकार में निराकार को झाँक लेना, शब्द में शून्य को सुन लेना, दृश्य में अदृश्य को पकड़ लेना—उससे बड़ी और कोई कला नहीं है।

इसलिए प्रेम कलाओं की कला है, सरताज है! उसके पार फिर कुछ भी नहीं है।

पूजा का अर्थ है: आकार में निमंत्रण निराकार को।

और अगर तुमने कभी पूजा की है तो तुम जानोगे, तुम्हारे बुलाने के पहले मूर्ति साधारण पत्थर का टुकड़ा है, तुम्हारे बुलाने के बाद नहीं।

रामकृष्ण पूजा करते थे। अनेक दिन बीत गये, वे रोज रोते, घंटों पूजा करते, फिर एक दिन गुस्से में आ गये। तलवार टँगी थी काली के मंदिर में मूर्ति के



सामने, तलवार उतार ली, और कहा, 'बहुत हो गया! इतने दिन से बुलाता हूँ! अगर तू प्रगट नहीं होती तो मैं अप्रगट हुआ जाता हूँ। या तो तू दिखायी दे, तू हो, या मैं मिटता हूँ।' तलवार खींच ली। एक क्षण और, और गर्दन पे मारे लेते थे, कि सब कुछ बदल गया। मूर्ति जीवंत हो उठी! वहाँ काली न थी। मातृत्व साकार हो उठा! ओंठ जो बंद थे, पत्थर के थे, मुस्कराये! आँखें जो पत्थर की थीं, और जिनसे कुछ दिखायी न पड़ता था, उन्होंने रामकृष्ण में झाँका। तलवार झनकार के साथ फर्श पर गिर गयी।

रामकृष्ण छह दिन बेहोश रहे। भक्त घबड़ा गये। मित्र परेशान हुए। डर तो पहले ही था कि यह आदमी थोड़ा पागल-सा है, यह अब और क्या हो गया! छह दिन की बेहोशी के बाद जब होश में आये, तो जो पहली बात कही, वह यही कही कि इतने दिन होश में रखा, अब फिर क्यों बेहोशी में भेजती है? इतने दिन होश में रखा—छह दिन—अब क्यों बेहोशी में भेजती है? फिर से बुला ले! जा मत! रुक!'

इतना विराट था, इतना प्रगाढ़ था अनुभव कि अपने को सम्हाल न सके। डगमगा गये!

बूंद में जब सागर उतरे तो ऐसा होगा ही। तुम्हारे आँगन में जब पूरा आकाश उतर आये तो तुम्हारे आँगन की दीवालें कहाँ तक सम्हली रहेंगी, गिर जाएँगी!

उन छह दिनों रामकृष्ण ने चिन्मय का जलवा देखा। वे छह दिन सतत परमात्मा के साक्षात्कार के दिन थे। वह उनकी पहली समाधि थी।

लेकिन पूजा का अर्थ यही है: पहले परमात्मा को आमंत्रित करो, फिर अपने को उसके चरणों में चढ़ा दो रामकृष्ण जैसे, कि कह दो कि तू ही है, अब मैं नहीं!

तुम जितनी दूर तक परमात्मा को बुलाते हो, जितनी गहराई तक बुलाते हो, उतनी दूर तक, उतनी गहराई तक वह आता है। तुम जब अपने को मिटाने को भी तत्पर हो जाते हो तो तुम्हारे अंतरतम को छू लेता है। तुम्हारी बिना आज्ञा के वह तुम में प्रवेश न करेगा। वह तुम्हारा सम्मान करता है। वह कभी भी किसी की सीमा में आक्रमण नहीं करता। बिनबुलाया मेहमान परमात्मा कभी नहीं होता। तुम बुलाते हो, मनाते हो, समझाते-बुझाते हो, तो मुश्किल से आता है।

भक्ति खो गयी है जगत से, क्योंकि भक्ति की कला बड़ी कठिन है—सब कुछ दाँव पर लगाने की कला है, जूआ है। बड़ी हिम्मत चाहिए। आँख के लिए बड़ी हिम्मत चाहिए।

'पराशर के पुत्र व्यास के अनुसार भगवान की पूजा में अनुराग होना भक्ति है।'

पूजा तो बहुत लोग करते हैं, अनुराग होना चाहिए। संस्कारवशात् है तो फिर भक्ति नहीं है। चूंकि पीढ़ी-दर-पीढ़ी तुम्हारे घर के लोग मंदिर में जाते रहे तो तुम मंदिर जाते हो; मस्जिद जाते रहे तो मस्जिद जाते हो; आकार को पूजा तो आकार को पूजते हो; निराकार को पूजा तो निराकार को पूजते हो— औपचारिक, परम्परागत, लकीर के फकीर, दूसरों के पदचिह्नों पर चलने वाले! नहीं, ऐसे न होगा।

उधार कोई परमात्मा तक कभी नहीं पहुँचता। तुम्हारी प्यास चाहिए, परंपरा नहीं। तुम्हारी आँख चाहिए, लकीर की फकीरी और उसका अंधापन नहीं।

तो शर्त है : पूजा में अनुराग! प्रेम चाहिए! वैसा ही प्रेम चाहिए जैसे जब तुम किसी के प्रेम में पड़ जाते हो, तो सब औपचारिकता खो जाती है, सब शिष्टाचार खो जाता है। पहली दफा तुम किसी और ही गहराई से बोलना शुरू करते हो। इसके पहले भी बोलते रहे थे, लेकिन वह ओंठों की बात थी। अब हृदय बोलता है! पहली दफा तुम किसी और ही हवा में और किसी और ही माहौल में जीते हो। क्या हो जाता है?

साधारण प्रेम में क्या होता है? दूसरे में तुम्हें कुछ दिखायी पड़ने लगता है जो अब तक तुम्हें कभी किसी में दिखायी न पड़ा था; तुम्हारी आँख खुलती है!

तुमने कभी खयाल किया, प्रेमी दूसरों को पागल मालूम पड़ते हैं! अगर कोई दूसरा किसी के प्रेम में पड़ जाए और दीवाना हो जाए, तो तुम हँसोगे, तुम कहोगे, 'पागल है, नासमझ है। समझ में आ! होश में आ! क्या कर रहा है?'

सारी दुनिया हँसती है प्रेमी पर; क्योंकि सारी दुनिया अंधी है और प्रेमी के पास आँख आ गयी है, उसे कुछ दिखायी पड़ता है जो किसी को दिखायी नहीं पड़ता।

'हम खुदा के भी कभी काइल न थे
उनको देखा तो खुदा याद आया।'

प्रेमी पहली दफा किसी साधारण व्यक्ति में परमात्मा के दर्शन कर लेता है, कोई झलक पाता है। तुम जिसके प्रेम में पड़ जाते हो, वहीं तुम्हें परमात्मा की थोड़ी-सी झलक पहली दफा मिलती है; तुम्हारा आस्तिक होना शुरू हुआ।

प्रेम : आस्तिकता की पहली गंध, पहली लहर। प्रेम : आस्तिकता की तरफ पहला कदम! क्योंकि कम-से-कम चलो एक में ही सही, परमात्मा दिखा तो! और एक में दिखा तो सब में भी दिख सकता है; न भी दिखे तो भी इतना तो तुम समझ ही सकते हो कि एक में दिखा तो सब में भी होगा।



लेकिन जल्दी ही तुम्हारी प्रेम की आँख धुंधली हो जाती है: जिसमें तुम्हें परमात्मा दिखा था, वह भी एक ख्वाब, एक सपना हो जाता है; जल्दी ही तुम भूल जाते हो, धूल जम जाती है।

जब प्रेम की घटना घटे तो जल्दी करना उसे पूजा बनाने की, अन्यथा समय ढाँक देगा।

इसलिए मैं कहता हूँ, जवानी पूजा के दिन हैं। लेकिन लोग कहते हैं, पूजा बुढ़ापे में करेंगे। वे कहते हैं, जवानी में प्रेम करेंगे, बुढ़ापे में पूजा करेंगे। इतना फासला प्रेम में और पूजा में होगा तो प्रेम तो मर ही जाएगा, पूजा आ न पाएगी। लोग यही कह रहे हैं कि प्रेम तो जवानी में करेंगे; जब प्रेम मरने लगेगा, मर ही जाएगा, तब फिर पूजा कर लेंगे।

और असलियत यह है कि प्रेम ही पूजा बनता है। प्रेम के मरने से पूजा नहीं आती; प्रेम के पूरे निखरने से पूजा बन जाती है। एक में जो दिखायी पड़ा है, अब इस सूत्र को पकड़ लेना और इसको औरों में भी देखने की कोशिश करना। जब आँख ताज़ी हो, लहर नयी हो, उमंग अभी जोश-भरी हो, उत्साह युवा हो, तो जल्दी कर लेना। जो तुम्हें अपनी प्रेयसी में, प्रेमी में दिखा हो, बच्चे में दिखा हो, अपने बेटे में दिखा हो, मित्र में दिखा हो, जल्दी करना, क्योंकि उस वक्त तुम्हारे पास आँख है, उस वक्त सारे जगत को गौर से देख लेना: तुम अचानक पाओगे, वह सभी के भीतर छिपा है, क्योंकि उसके अतिरिक्त और कोई भी नहीं है।

'पूजा में अनुराग'...।

पूजा करते तुम बहुत लोगों को देखोगे, लेकिन अनुराग नहीं है, प्रेम नहीं है, पूजा तो है, विधि-विधान है। सात दफा आरती उतारनी है तो तुम सात दफा आरती उतारते हो; गिनती से उतारते हो, कहीं आठ न हो जाए। वहाँ भी कंजूसी है।

रामकृष्ण पूजा करते तो कभी-कभी दिन-दिन-भर करते, खाना-पीना भूल जाते। उनकी पत्नी शारदा द्वार पर खड़ी है, वह कहती है कि परमहंस देव, समय निकला जा रहा है, सूर्यास्त हुआ जा रहा है, दिन-भर से आप भूखे हैं। मगर वहाँ कोई परमहंस देव हैं कि सुनें! वे नाच रहे हैं! भूख की खबर किसको लगे! भूख की याद किसको आये! जो भगवान का भोग लगा रहा हो, संसार के भोजन उसे क्या याद आएँ! गिर पड़ते; तभी उठा के लाये जाते, अपने से न आते। बहुत दफे उन्हें कहा गया, 'ऐसा न करें! पूजा ठीक है, घड़ी-दो-घड़ी की ठीक है।' पर रामकृष्ण कहते कि घड़ी-दो-घड़ी की याद रह जाए तो पूजा होती ही नहीं।

तुमने कभी अपने को पूजा करते देखा, बीच-बीच में तुम घड़ी देख लेते

हो ! घड़ी को वहीं रख आया करें जहाँ जूते छोड़ आते हो । जूते भी आ जाएँ, मंदिर खराब न होगा, घड़ी नहीं आनी चाहिए । जूतों में ऐसा कुछ भी नहीं है, घड़ी नहीं आनी चाहिए । क्यों ? क्योंकि परमात्मा है शाश्वतता । समय को अपने साथ लिये तुम उसे न छू सकोगे । वह है अनंत, तुम क्षणों को साथ लिये बैठे हो । और तुम्हारा मन बार-बार देख रहा है कि कब दुकान जाएँ, कब दफ्तर जाएँ, कब बाज़ार जाएँ ! तो अच्छा है, जाना ही मत । ऐसा समय जो तुमने मंदिर में बिताया, और बाज़ार के सोच में बिताया, बिलकुल व्यर्थ गया, इसका उपयोग बाजार में ही कर लेना, कुछ तो लाभ होगा । यह तो कुछ भी लाभ न हुआ ।

मैंने देखा है लोगों को पूजा करते, नमाज पढ़ते ।

मैं राजस्थान जाता था अक्सर, तो चितौड़गढ़ पर गाड़ी बदलती है । साँझ की नमाज का समय होता, कोई घंटे-भर गाड़ी रुकती, तो जितने भी मुसलमान होते ट्रेन में, वे उतर के नमाज करने लगते, बिछा लेते अपनी चादर, बैठ जाते नमाज करने, मगर हर मिनट-दो-मिनट में पीछे लौट के देखते रहते कि कहीं गाड़ी छूट तो नहीं गयी । यह मैंने बहुत बार देखा ।

एक मुसलमान मित्र मेरे साथ यात्रा कर रहे थे । वे भी पूजा के लिए गये । नल के पास प्लेटफार्म पर उन्होंने अपनी चादर बिछा ली, पूजा करने बैठ गये, मैं उनके पीछे खड़ा हो गया । जब उन्होंने गर्दन पीछे मोड़ी तो मैंने उनकी गर्दन वापस पकड़ के उस तरफ मोड़ दी । बहुत नाराज हुए । उस वक्त तो कुछ बोल न सके । जल्दी-जल्दी उन्होंने नमाज पूरी की । कहा, 'यह क्या मामला है ? आपने क्यों मेरी गर्दन इस तरफ मोड़ी ?'

'इस तरफ अगर गर्दन रखनी हो तो इसी तरफ रखो, उस तरफ रखनी हो तो उसी तरफ रखो । यह कैसी नमाज हुई ? यह कैसी पूजा हुई कि बीच-बीच में खयाल है कि गाड़ी छूट न जाए ? गाड़ी छूट न जाए, इसमें परमात्मा छूटा जा रहा है', मैंने उनसे कहा, 'तुम या तो गाड़ी पकड़ लो या परमात्मा को पकड़ लो । कोई जरूरत नहीं है, मत करो नमाज – झूठी तो मत करो । कम-से-कम इतने सच्चे तो रहो कि नहीं है हृदय में तो न करेंगे ।'

रामकृष्ण बहुत दिन तक मंदिर न जाते । वे कहते, 'जब भीतर ही नहीं है तो कैसे जाऊँ, कैसे धोखा दूँ – परमात्मा को कैसे धोखा दूँ ? किस मुँह से भीतर जाऊँ ?' द्वार के बाहर से ही, बाहर-बाहर, क्षमा माँग के लौट आते, मंदिर में भीतर न जाते, सीढ़ियों पर से क्षमा माँग लेते : 'माफ कर, भाव नहीं है । करूँगा तो धोखा होगा, झूठ होगा ।'

लेकिन तुम्हारा सब झूठ हो गया है । जिससे तुम्हें प्रेम नहीं है, उसे तुम कहते हो, प्रेम है । जिसे देख के तुम्हारे भीतर कोई मुस्कराहट नहीं आती, तुम



मुस्कराते हो । जिसे देख कर भीतर अभिशाप देने का भाव उठता है, उसको आशीर्वाद देते हुए अपने को दिखलाते हो । इन झूठों से घिरे तुम अगर परमात्मा के पास भी जाओगे तो तुम इन्हीं झूठों का प्रयोग वहाँ भी करोगे । फिर पूजा वैसी ही हो जाएगी जैसी सारी दुनिया में हो रही है ।

कितने लोग हैं, अनगिनत, पूजा कर रहे हैं, और पूजा की गंध कहीं भी नहीं अनुभव में आती ! कितने लोग प्रार्थनाएँ कर रहे हैं ! अगर सच में ही इतनी प्रार्थनाएँ हों तो जैसे आकाश में भाप उठ-उठ के बादल बन जाते हैं, ऐसे प्रार्थनाओं के बादल बन जाएँ । सब प्रार्थना बरसने लगे ! मेघ घने हो जाएँ आकाश में ! जल ही न बरसे, प्रार्थना भी बरसे ! नदी-नाले प्रार्थना से भर जाएँ !

जितने लोग प्रार्थना करते हैं, अगर ये सच में ही प्रार्थना करते हों ... ।

ठीक है व्यास की भी परिभाषा ठीक है :

'भगवान की पूजा में अनुराग भक्ति है ।'

फिर 'गर्गाचार्य के मत से भगवान की कथा में अनुराग भक्ति है ।'

पूजा में कुछ करना होता है । निश्चित ही व्यास थोड़े सक्रिय वृत्ति के रहे होंगे । कुछ करना पड़ता है : आरती उतारनी पड़ती है, फूल चढ़ाने पड़ते हैं, घंटी बजानी पड़ती है – कुछ करना पड़ता है ।

इसे समझ लें ।

व्यास निश्चित ही सक्रिय प्रकृति के रहे होंगे । गर्गाचार्य निष्क्रिय प्रकृति के रहे होंगे । क्योंकि व्यास जहाँ कहते हैं, 'पूजा आदि में अनुराग', वहाँ गर्गाचार्य कहते हैं, 'भगवान की कथा में ..., कोई सुनाये हम सुनें, रस से सुनें, डूब के सुनें, मिट के सुनें – पर कोई सुनाए, हम सुनें !'

'भगवान की कथा में अनुराग ...!'

तुमने कभी खयाल किया : कथाओं में तो तुम्हें भी अनुराग है, भगवान की कथा में नहीं है ! पड़ोसी की पत्नी किसी के साथ भाग गयी, इस कथा को तुम कितने रस से सुनते हो ! खोद-खोद के बातें निकलवा लेते हो । हज़ार काम हों, रोक देते हो ।

छोटे गाँव में एकाध स्त्री भाग जाए तो पूरे गाँव में काम-धंधा बंद हो जाता है उस दिन, पूरा गाँव उसी चर्चा में लग जाता है ।

किसी के घर चोरी हो जाए ... कुछ भी हो जाए ... !

अखबार तुम पढ़ते हो, वह कथा का रस है । लेकिन भगवान की कथा में अब कोई रस नहीं है । और अगर कभी तुम भगवान की कथा में भी रस लेते हो तो वह रस भगवान की कथा का नहीं होता । उसमें भी कारण वही होंगे, जिन कारणों से तुम और कथाओं में रस लेते थे । कोई की स्त्री किसी के साथ भाग

गयी, राम की स्त्री को रावण भगा ले गया, तो तुम उसमें भी रस लेते हो। लेकिन तुम खयाल करना, रस तुम्हारा रावण सीता को भगा ले गया है, इसमें है, राम की कथा में नहीं है।

गर्गाचार्य कहते हैं, 'भगवान की कथा में अनुराग'...। ऐसे सुनना जैसे प्यासा जल पीता है। ऐसे सुनना जैसे तुम बिलकुल खाली हो – कान ही हो गये, तुम्हारा सारा अस्तित्व बस कान पर ठहर गया। हृदयपूर्वक सुनना! तो परमात्मा का स्मरण अनेक-अनेक रूपों में तुम्हें भर देगा। कुछ करने की जरूरत नहीं है; तुम अगर शांत बैठ के सुन भी सको...।

तुम यहाँ मुझे सुन रहे हो... यह भगवान की कथा है। यहाँ तुम ऐसे भी सुन सकते हो, जैसे और साधारण बातें सुनते हो। तुम ऐसे भी सुन सकते हो, जैसे तुम्हारा पूरा जीवन दाँव पर लगा है, जीवन और मृत्यु का सवाल है।

मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन ने अपनी पत्नी को कहा था कि आज मैं आराम चाहता हूँ, किसी को मिलाना मत; कोई आ भी जाए तो कह देना घर पर नहीं है। लेकिन वह बैठा ही था आराम करने कुर्सी पे, कि पत्नी आयी, उसने कहा, 'सुनो, एक आदमी दरवाजे पे खड़ा है।'

मुल्ला ने कहा, 'अभी मैंने कहा, अभी देर भी नहीं हुई कि मुझे आज दिन-भर विश्राम करना है। अभी शुरुआत भी नहीं हुई, मैं कुर्सी पे ठीक से बैठ भी नहीं पाया।'

तो उसकी पत्नी ने कहा, 'लेकिन वह आदमी कहता है, जीवन-मरण का सवाल है।'

तब तो मुल्ला भी उठ आया, जब जीवन-मरण का सवाल हो तो कैसा विश्राम! बाहर गया, तो पाया कि वह इन्शोरेंस कंपनी का एजेंट है। जीवन-मरण का सवाल...

जीवन-मरण का सवाल हो, तभी तुम उठोगे, तभी तुम जगोगे।

भगवान तुम्हारे लिए जीवन-मरण का सवाल है या नहीं? अगर नहीं है, तो फिर बिलकुल मत सुनो, क्योंकि वह समय व्यर्थ ही गया। तुम जो सुनोगे वह किसी सार का नहीं होगा। क्योंकि सार तो तुम्हारे सुनने में छिपा है। सार कहने में नहीं छिपा है, सार तुम्हारे सुनने में छिपा है।

अगर तुम सुनने के लिए ही परिपूर्ण तैयार हो कर नहीं आ गये हो, अगर यह सवाल तुम्हारे जीवन-मरण का नहीं है, अगर तुम अभी भी परमात्मा को किनारे पे टाल के अपने संसार में लगे रह सकते हो, अच्छा है तुम संसार में ही लगे रहो। कभी-न-कभी ऊबोगे। कभी-न-कभी लौटोगे। कभी तो वह घड़ी आयेगी, जब तुम्हारी अँधेरी रात तुम्हें दिखायी पड़ेगी और सुबह की पुकार तुम्हारे



मन में उठेगी। कभी तो वह घड़ी आएगी, तुम अपने कूड़ा-कर्कट से घिरे-घिरे किसी दिन तो दुर्गंध को अनुभव करोगे; फूलों की गंध की तलाश शुरू होगी।

लेकिन जल्दी मत करो, अगर दुर्गंध से अभी लगाव बाकी है, तो भोग ही लो दुर्गंध को। चुक ही जाओ। रिक्त ही हो जाने दो उस अनुभव से अपने को। नहीं तो तुम सुन न पाओगे।

मैं एक पंजाबियों की सभा में बोलने गया। उस सभा के बाद फिर मेरा किसी सभा में जाने का मन न रहा। कृष्णाष्टमी थी। और पंजाबी हिन्दुओं का मोहल्ला था। मैं तो चकित हुआ, वहाँ व्याख्यान देने वाले व्याख्यान दे रहे थे, और ऐसी भी स्त्रियाँ थी उस सभा में – स्त्रियाँ ही ज्यादा थीं – जो बोलने वालों की तरफ पीठ किये आपस में गपशप कर रही थीं। वहाँ झुंड-के-झुंड बने थे। बड़ी भीड़ थी। मुझसे भी उन्होंने प्रार्थना की। मैंने कहा, 'तुम पागल हो! यहाँ कोई सुनने वाला ही नहीं है। यहाँ लोग अपनी बातचीत में लगे हैं और बोलने वाले बोले जा रहे हैं।'

मैंने कहा, 'मुझे जाने दो। इनकी कोई तैयारी सुनने की नहीं है। सुनने कोई इनमें आया भी नहीं है। कृष्ण से इन्हें कुछ लेना-देना नहीं है।'

तुम मंदिरों में जाओ, स्त्रियाँ जो चर्चा मंदिरों में कर रही हैं, पुरुष जो बातचीत मंदिरों में कर रहे हैं, उसका मंदिर से कुछ लेना-देना नहीं है; वही राजनीति, वही उपद्रव बाहर के, वहाँ भी ले आते हैं; वे ही घर के, बाहर के झगड़े वहाँ भी ले आते हैं।

परमात्मा की कथा तो तुम तभी सुन सकते हो जब तुम पूरे रिक्त हो कर सुनो।

ठीक कहते हैं गर्गाचार्य, 'भगवान की कथा में अनुराग...।' और जिस दिन इस कथा में अनुराग आता है उसी दिन संसार की कथा में अनुराग खो जाता है।

तुम व्यर्थ की बातें मत सुनो, क्योंकि यह सिर्फ सुनना ही नहीं है, जो तुम सुनते हो वह तुम्हारे भीतर इकट्ठा हो रहा है।

थोड़ा सोचो, अगर पड़ोसी तुम्हारे घर में कूड़ा फेंक दे तो तुम झगड़ा करने को तैयार हो जाते हो। और पड़ोसी तुम्हारे मन में हजार कूड़ा फेंकता रहे तो तुम झगड़ा तो करते नहीं, तुम रोज प्रतीक्षा करते हो कि कब आओ, कब थोड़ी चर्चा हो! तुम्हें घर के कूड़ा-कर्कट से भी इतनी समझ है, उतनी समझ तुम्हें भीतर के कूड़ा-कर्कट की नहीं है।

रोको अपने को व्यर्थ की बात सुनने से, नहीं तो सार्थक को सुनने की क्षमता खो जाएगी। अकारण, आवश्यक न हो, ऐसा सब सुनना त्याग दो, ताकि तुम्हारी

संवेदनशीलता तुम्हें फिर से उपलब्ध हो जाए, और भगवान का नाम तुम्हारे कान में पड़े, तो वह बहुत-से विचारों की भीड़ में न पड़े, अकेला पड़े। वह चोट अकेली हो तो तुम्हारे हृदय के झरने फिर से खुल सकते हैं।

'शांडिल्य के मत से आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना ही भक्ति है।'

व्यास सक्रिय घाट से उतरे होंगे। गर्गाचार्य निष्क्रिय घाट से उतरे होंगे। पर दोनों सरल व्यक्ति रहे होंगे, बड़े विचारक नहीं, सीधे-सादे, इनोसेंट, निर्दोष, भोले-भाले! शांडिल्य विचारक मालूम होते हैं। उनकी परिभाषा दार्शनिक की परिभाषा है। वे कहते हैं, 'आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना ही भक्ति है।' दार्शनिक व्याख्या है।

अपने में साधारणतः आदमी को रस होता है। साधारणतः! उसे तुम स्वार्थ कहते हो। स्वार्थ अपने में रस है, लेकिन बिना समझ का। चाहते तो तुम हो कि सुख मिले, मिलता नहीं! चाह तो ठीक है; जो तुम करते हो उस चाह के लिए, उसमें कहीं गलती है।

स्वार्थ और आत्मरति में यही फर्क है। स्वार्थ भी अपने सुख की खोज करता है, लेकिन गलत ढंग से, परिणाम हाथ में दुख आता है। आत्मरति भी अपने सुख की खोज करती है, लेकिन ठीक ढंग से, परिणाम सुख आता है।

तुम भी अपने ही सुख के लिए जी रहे हो, लेकिन अभी तुमने अपने को जो समझा है वह अहंकार है, आत्मा नहीं। अभी तुम्हारा 'स्व' अहंकार है, झूठा है। जिस दिन तुम्हारा 'स्व' वास्तविक होगा, आत्मा होगी, उस दिन तुम पाओगे: स्वार्थ ही परमार्थ है। उस दिन अपने आनंद की खोज कर लेने में ही तुमने सारी दुनिया के लिए आनंद के द्वार खोले। उस दिन तुम सुखी हुए तो तुमने दूसरे को भी सुखी होने की संभावना बतायी। उस दिन तुम्हारा दीया जला तो दूसरों के बुझे दीये भी जल सकते हैं, इसका भरोसा उनमें तुमने पैदा किया। और फिर तुम्हारे जले दीये से न मालूम कितने बुझे दीये भी जल सकते हैं।

आत्मरति का अर्थ है: वस्तुतः सच्चा स्वार्थ। उसमें परार्थ अपने-आप आ जाता है। जिसे तुम स्वार्थ समझते हो वह परार्थ के विपरीत है। और जिसको आत्मज्ञानियों ने आत्मरति कहा है, परम स्वार्थ कहा है, वह परार्थ के विपरीत नहीं है, परार्थ उसमें समाहित है, समाविष्ट है।

'आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना भक्ति है।'

अब इसे समझो।

तुम अपने को प्रेम करते हो – ठीक, स्वाभाविक है। इस प्रेम के कारण तुम ऐसी चीजों को प्रेम करते हो जो तुम्हारे स्वभाव के विपरीत हैं उनसे तुम दुख पाते



हो। चाहते सुख हो, मिलता दुख है। आकाँक्षा में भूल नहीं है। आकाँक्षा को प्रयोग में लाने में तुम ठीक-ठीक समझदारी का प्रयोग नहीं कर रहे हो।

बुद्ध भी स्वार्थी हैं, कबीर भी, कृष्ण भी – लेकिन वे परम स्वार्थी हैं। वे भी अपना साध रहे हैं आनंद, लेकिन इस ढंग से साध रहे हैं कि मिलता है। तुम इस ढंग से साध रहे हो कि मिलता कभी नहीं; साधते सदा हो, मिलता कभी नहीं।

तुम कुछ ऐसी चीजों से अनुराग करने लगते हो जो कि तुम्हारे स्वभाव के विपरीत हैं; जैसे समझो, तुम धन को प्रेम करने लगो, तो तुम अपने स्वभाव के विपरीत जा रहे हो। क्योंकि धन है जड़, तुम हो चैतन्य। चैतन्य को प्रेम करो, जड़ को मत करो, अन्यथा जड़ता बढ़ेगी। और चैतन्य अगर जड़ता में फँसने लगे तो कैसे सुखी होगा? धन का उपयोग करो, प्रेम मत करो। प्रेम तो चैतन्य से करो।

तुम पद की पूजा करते हो। पद तो बाहर है। तुम पद के आकाँक्षी हो। लेकिन पद तो बाहर है, तुम भीतर हो, तो तुम में और तुम्हारे पद में कभी ताल-मेल न हो पाएगा; तुम भीतर रहोगे, पद बाहर रहेगा। कोई उपाय नहीं है। भीतर तो तुम दीन-हीन ही बने रहोगे। कितना ही धन इकट्ठा कर लो अपने चारों तरफ, कितने ही बड़े पद पर बैठ जाओ, कितना ही बड़ा सिंहासन बना लो – तुम्हारे भीतर सिंहासन न जा सकेगा; न धन जा सकेगा, न पद जा सकेगा। वहाँ तो तुम जैसे पहले थे वैसे ही अब भी रहोगे।

भिखारी को राजसिंहासन पर बिठाल दो, क्या फर्क पड़ेगा! बाहर धन होगा, शायद भूल भी जाए बाहर के धन में कि भीतर अभी भी निर्धन हूँ, तो यह तो और आत्मघाती हुआ। यह स्वार्थ न हुआ, यह तो मूढ़ता हुई।

असली धन खोजो – असली धन भीतर है।

असली पद खोजो – असली पद चैतन्य का है।

चैतन्य की सीढ़ियों पर ऊपर उठो।

उठने दो चैतन्य की उड़ान।

उठने दो ऊर्जा चैतन्य की – परमात्मा तक ले जाना है उसे।

मनुष्य जब तक परमात्मा न हो जाए तब तक तृप्ति नहीं है।

मनुष्य परमात्मा होने की अभीप्सा है। इससे पहले कोई पड़ाव नहीं है, कोई मुकाम नहीं। पहुँचना है उस आखिरी मंजिल तक। लेकिन तुम बीच में बहुत-से पड़ाव बना लेते हो; पड़ाव ही नहीं, उनको मुकाम बना लेते हो, मंजिल समझ लेते हो। कोई धन को ही इकट्ठा करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है।

शांडिल्य की परिभाषा दार्शनिक है, बहुमूल्य है :

'आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग' ... ।

तुमने अब तक आत्मरति के विरोधी विषय में अनुराग किया है। आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग करोगे, तो परमात्मा शब्द को बीच में लाने की ज़रूरत भी नहीं है, तुम धीरे-धीरे परमात्म-स्वरूप होने लगोगे ।

जब भी तुम्हारे सामने चुनाव हो तो सदा ध्यान रखना : जड़ को मत चुनना, चैतन्य को चुनना। जब भी दो चीज़ों में से एक चुननी हो तो उसमें देख लेना, कौन ज्यादा चैतन्य है। जैसे प्रेम और धन में चुनना हो तो प्रेम चुनना। फिर प्रेम और भक्ति में चुनना हो तो भक्ति चुनना। संसार और परमात्मा में चुनना हो तो परमात्मा चुनना ।

इसे अगर तुम समझ लो तो शांडिल्य की परिभाषा में ईश्वर का नाम ही नहीं है, ज़रूरत नहीं है उसको कहने की, वह छिपा है। इस सूत्र को मान के अगर तुम चले तो उसे पा लोगे। अब तुम फर्क देख सकते हो। यह तीनों व्यक्तित्वों का फर्क है।

शांडिल्य बुद्ध जैसा व्यक्ति रहा होगा : 'परमात्मा की कोई ज़रूरत नहीं है।'

बुद्ध ने कहा : ध्यान खोज लो। शांडिल्य कह रहा है : चैतन्य खोज लो, क्योंकि वही अविरोधी है। उससे तुम्हारा तालमेल बैठेगा।

'देवर्षि के मत से' ... फिर नारद अपना मत देते हैं ।

'नारद के मत से अपने सब कर्मों को भगवान के अर्पण करना और भगवान का थोड़ा-सा विस्मरण होने से परम व्याकुल होना भक्ति है।'

संस्कृत में, जहाँ-जहाँ हिन्दी में अनुवाद किया है लोगों ने, चूक हुई है। सभी ने अनुवाद किया है, क्योंकि ऐसा लगता है ठीक नहीं कहना, नारद खुद ही शास्त्र लिख रहे हैं, तो हिन्दी में अनुवादों में अनुवादकों ने लिखा है, 'देवर्षि के मत से'। लेकिन संस्कृत में 'नारदस्तु' – 'नारद के मत से' ...। नारद अपने ही नाम का उपयोग कर रहे हैं। इसमें बड़ी बात छिपी है। नारद अपने व्यक्तित्व को भी अपने से उतना ही दूर रख रहे हैं जितना शांडिल्य, जितना गर्गाचार्य, जितना व्यास। ऐसा नहीं कहते कि 'मेरे मत से'। उसमें तो मत के प्रति ज़रा मोह हो जाएगा : 'मेरा मत'। 'यह नारद का मत है' – नारद भी ऐसा ही कहते हैं।

स्वामी राम अपने को हमेशा इसी तरह बोलते थे : 'राम' को भूख लगी है, 'राम' को प्यास लगी है। ऐसा न कहते थे : मुझे प्यास लगी है, मुझे भूख लगी है। अमरीका गये तो लोग वहाँ बड़े हैरान होते थे। पहले ही दिन जब वे एक



बगीचे से शाम को घूम के लौटे, तब तो गेरुआ वस्त्र बड़ी अनूठी चीज़ थी, बड़ी भीड़ लग गयी वहाँ। अब तो न लगेगी, कम-से-कम पन्द्रह हज़ार मेरे संन्यासी हैं सारी दुनिया में...गेरुआ वस्त्र...! जल्दी ही उनको लाखों तक पहुँचा देना है। लेकिन उस समय बड़ी नयी बात थी, तो भीड़ लग गयी। लोग कंकड़-पत्थर फेंकने लगे कि कोई दीवाना आ गया। राम हँसते रहे। भीड़ में से किसी को दया आयी कि यह आदमी हो सकता है, पागल हो, लेकिन दया-योग्य है। उसने भीड़ को हटाया, उनको बचाया, उनको ले चला। रास्ते में उसने पूछा कि तुम हँसते क्यों थे, तो उन्होंने कहा, 'राम की इतनी पिटाई हो रही थी और मैं न हँसूं!' तो उसने कहा, 'क्या मतलब?' क्योंकि उसे पता नहीं था उनकी आदत का। वे कहने लगे, 'राम की इतनी हँसाई हो रही थी! लोग पत्थर मार रहे थे, गालियाँ दे रहे थे और मैं न हँसूं! मैं खड़ा दूर देख रहा था।'

अपने ही नाम को इस तरह अगर तुम दूर कर लो तो बड़ी मुक्ति अनुभव होती है; तब तुम अपने व्यक्तित्व से अलग हो गये; तब तुम साक्षी-भाव में प्रविष्ट हो गये।

ठीक किया, नारद ने कहा : 'नारदस्तु'।

और नारद का मत है : 'सब कर्मों को भगवान के अर्पण करना, और भगवान का थोड़ा-सा विस्मरण होने से परम व्याकुल होना भक्ति है।'

शांडिल्य दार्शनिक हैं, नारद भक्त हैं। शांडिल्य विचारक हैं, नारद प्रेमी हैं।

'सब कर्मों को भगवान के अर्पण करना...!' प्रेमी की यही तो खूबी है कि वह कुछ भी बचाना नहीं चाहता, सब अर्पण करना चाहता है। जितना अर्पण करता है उतना ही उसे लगता है, कम ही तो किया, और करूँ, और करूँ! आखीर में वह अपने को भी अर्पण कर देता है।

सब अर्पण करना...और भगवान का थोड़ा-सा भी विस्मरण होने से परम व्याकुल होना...।

परम व्याकुलता पकड़ ले, व्याकुलता-ही-व्याकुलता रह जाए !

ऐसा समझो कि तुम रेगिस्तान में भटक गये, जल चुक गया, दूर-दूर तक कहीं कोई मरूद्यान नहीं है, हरियाली का कोई पता नहीं है, सागर है सूखी रेत का। प्यास तो तुम्हें पहले भी लगी थी, लेकिन आज तुम पहली दफे जानोगे कि परम प्यास क्या है। प्यास तो बहुत दफे लगी थी, लेकिन पानी सदा उपलब्ध था, ज़रा लगी थी और पी लिया था। आज तुम्हारा रोआँ-रोआँ रोयेगा। आज तुम्हारा रोआँ-रोआँ तड़फेगा। एक-एक रोएँ में तुम प्यास अनुभव करोगे, कण्ठ में ही नहीं। तुम्हारा सारा व्यक्तित्व, तुम्हारा सारा होना प्यास में रूपान्तरित हो जाएगा।... तब परम व्याकुलता! जब ऐसे ही नहीं कि तुम ऐसे ही बुलाते हो परमात्मा को

कि आ जाओ तो ठीक, न आये तो भी कोई बात नहीं...नहीं, ऐसे बुलाते हो जैसे रेगिस्तान में कोई पानी को खोजता है, तड़फता है। मछली को डाल दो रेत पर पानी से निकाल कर, जैसे तड़पती है, वैसी परम प्यास !

'सब कर्मों को भगवान के अर्पण करना और भगवान का थोड़ा-सा भी विस्मरण होने से परम व्याकुल होना...।'

अभी तो हमने जिसे प्यास समझा वह प्यास नहीं है। अभी तो हमने जिसे धन समझा, धन नहीं है। अभी तो हमारी सारी समझ ही गलत है।

'हम भूल को अपनी इल्मोफन समझे हैं
गुरबत के मुकाम को वतन समझे हैं
मंजिल पे पहुँच के झाड़ देंगे इसको
ये गर्देसफर है जिसको तन समझे हैं।'

अभी तो हमारी सारी समझ उलटी है। अभी तो हम नासमझी को समझदारी समझते हैं। अभी तो हम अहंकार को आत्मा समझे हैं। अभी तो हमने शरीर को अपना होना समझा है।

'हम भूल को अपनी इल्मोफन समझे हैं
गुरबत के मुकाम को वतन समझे हैं।'

रात-भर का पड़ाव है, ठहर जाने के लिए सराय है कि धर्मशाला है, उसको हम घर समझे हैं।

'मंजिल पे पहुँच के झाड़ देंगे इसको'...

मंजिल पे पहुँचोगे तब पता चलेगा कि जैसे यात्री राह की धूल झाड़ देता है, ऐसे ही यह सब जिसे तुम धन समझे हो, जिसे तुम अपना समझे हो, यह सब झड़ जाएगा।

'ये गर्देसफर है जिसको तन समझे हैं।'

—यह राह की धूल है, इससे ज्यादा नहीं है। यह तुम नहीं हो। तुम तो साक्षी हो। शरीर के पीछे जो शरीर को देखने वाला है, मन के पीछे जो मन को भी देखने वाला है—तुम तो वही परम साक्षी हो।

सब छोड़ दो परमात्मा पर। इनमें से कुछ भी अपना मत समझो। शरीर भी उसका है—उसी पे छोड़ दो। मन भी उसका है—उसी पे छोड़ दो। कर्म भी उसी के हैं—उसी पे छोड़ दो। तुम कर्ता न रह जाओ, साक्षी हो जाओ।

तो नारद के हिसाब से, सब कर्मों को भगवान के अर्पण करना और भगवान का थोड़ा-सा विस्मरण होने से परम व्याकुल होना...ज़रा हटे परमात्मा से तो वही हालत हो जाए जो मछली की हो जाती है सागर से हट के; ज़रा भूले उसे तो तड़फ हो जाए !



'ठीक ऐसा ही है।'

नारद कहते हैं, 'ये सब जो परिभाषाएँ हैं—ठीक ऐसा ही है।' ये सब परिभाषाएँ ठीक हैं। इनमें कोई परिभाषा गलत नहीं है। सभी अधूरी हैं, पूरी कोई भी नहीं। सभी ठीक हैं, गलत कोई भी नहीं। भाषा का स्वरूप ऐसा है कि अधूरा ही रहेगा।

सत्य के इतने पहलू हैं कि तुम चुका न पाओगे, और एक आदमी एक ही पहलू की बात कर पाता है।

एक महाकवि की मृत्यु हुई, तो उसको मित्रों ने उसके मरने के पहले पूछा कि तुम्हारी कब्र पर क्या लिखेंगे, तो उसने कहा, 'लिख देना सिर्फ एक शब्द—'अनफिनिश्ड', अधूरा।'

वे पूछने लगे, 'क्यों ? क्या तुम सोचते हो, तुम अधूरे मर रहे हो ? क्योंकि तुम्हारे गीत पूरे हैं। तुम्हारा यश पूरा, सम्मान पूरा। तुम एक सफल ज़िंदगी जिये। तुमने खूब आदर पाया। क्या तुम भी अधूरे मर रहे हो ?'

तो उस कवि ने कहा, 'इससे कुछ भी फर्क नहीं पड़ता कि कितना हमने किया, कितना गाया; कुछ भी करो, जीवन का स्वभाव अधूरा है। हारे हुए तो यहाँ हारे हुए जाते ही हैं, जीते हुए भी हारे हुए जाते हैं। गरीब तो गरीब मरते हैं, अमीर भी गरीब मरते हैं ! जिनके पास नहीं है, वे तो अधूरे रहते ही हैं, जिनके पास है वे भी अधूरे रहते हैं। क्योंकि यह जीवन का स्वभाव अधूरा है।

ऐसे ही मैं तुमसे कहूँगा, भाषा का स्वभाव अधूरा है। कुछ भी कहोगे, वह पूरा चुकता न हो पाएगा। बड़ी बातें छोड़ों, एक छोटे-से गुलाब के फूल के सम्बंध में भी पूरी बातें नहीं कही जा सकती। अगर एक छोटे-से गुलाब के फूल के सबंध में तुम पूरी-पूरी बात कहना चाहो तो तुम्हें पूरे ब्रह्माण्ड के संबंध में जो भी है, सब कुछ वह कहना पड़ेगा, तभी उस गुलाब के सम्बंध में पूरी बात होगी, क्योंकि उसकी जड़ें ज़मीन से जुड़ी हैं, उसकी पँखुड़ियाँ सूरज़ से जुड़ी हैं, उसकी श्वास हवाओं से जुड़ी है, उसके भीतर बहती रसधार बादलों से जुड़ी है, सागरों से जुड़ी है।

तुम अगर एक छोटे-से गुलाब के फूल के संबंध में सब कहना चाहो तो तुम बड़ी अड़चन में पड़ जाओगे—तुम पाओगे कि यह तो धीरे-धीरे पूरे ब्रह्माण्ड के संबंध में सब कहना हो जाएगा।

नहीं, पूरा कहना असम्भव है। सत्य बहुत बड़ा है, कथनी बड़ी छोटी है।

जीवन में परमात्मा को छोड़ के सब मिल सकता है—और तुम अधूरे रहोगे, उदास रहोगे, दुखी रहोगे, पीड़ित रहोगे। और कुछ भी न मिले, परमात्मा

मिल जाए तो पूरा मिल जाता है। क्योंकि परमात्मा खंड-खंड नहीं हो सकता; मिलता है तो पूरा, नहीं मिलता है तो नहीं।

मेरे पास बहुत लोग आते हैं, वे कहते हैं, 'हमारे पास सब है, लेकिन बड़ी उदासी है। अब क्या करें? जब नहीं थी इतनी व्यवस्था तब तो एक आसरा भी था कि कभी जब सब होगा तो सब ठीक हो जाएगा, वह आसरा भी छिन गया।'

'मयकदों के भी आसपास रही
गुलरुखों से भी रूसनास रही
जाने क्या बात थी इस पर भी
ज़िंदगी उम्र-भर उदास रही।'

मधुशालाएँ पास थीं, दूर नहीं। सुन्दर मुखड़ों वाले लोग निकट थे, परिचय था उनसे ...।

'मयकदों के भी आसपास रही ...'

शराब भी पी, विस्मरण भी किया, मधुशाला पास ही थी।

'गुलरुखों से भी रूसनास रही ...'

फूल के जैसे सुन्दर चेहरे वाले व्यक्तित्वों से भी परिचय रहा, मुलाकात रही; मधुशाला में भी विस्मरण किया; प्रेम में भी डूबे –

'जाने क्या बात थी इस पर भी ...'

फिर भी कुछ बात –

'जाने क्या बात थी इस पर भी
ज़िंदगी उम्र-भर उदास रही।'

रहेगी ही! उदासी तो उसी की मिटती है जो भक्ति को उपलब्ध हुआ; उसी की मिटती है जो भगवान को उपलब्ध हुआ; उसी की मिटती है जिसने जाना कि मैं अलग नहीं हूँ, जो अनन्यता को उपलब्ध हुआ!

अन्यथा, तुम जो भी करोगे ...। करते लोग बहुत हैं, अथक श्रम करते हैं, सब व्यर्थ जाता है। इतने श्रम से तो परमात्मा मिल सकता है जिससे तुम कंकड़-पत्थर इकट्ठे कर पाते हो। तुम्हें देख के रोना भी आता है, हँसी भी आती है। हँसी आती है कि कैसा पागलपन है! इतने श्रम से तो मंदिर बन जाता, इसे तुमने धर्मशाला बनाने में गँवाया। इतने श्रम से परमात्मा उतर आता; भिक्षापात्र ले के तुम कंकड़-पत्थर इकट्ठे करते रहे! इतने श्रम से तो अमृत्व उपलब्ध हो जाता, इससे तुम गंदे नदी-नालों का पानी ही इकट्ठा करते रहे।

मौत जब आती है तब तुम्हें पता चलेगा, लेकिन तब बहुत देर हो जाती है। तुमसे मैं कहता हूँ: जागो अभी!

मौत तो जगाती है, पर तब समय नहीं बचता – परमात्मा का स्मरण करने का भी समय नहीं बचता! मौत आती है तब पता चलता है: 'अरे! यह तो गँवाना हो गया!'



यह सब पड़ा रह जाएगा जो इकट्ठा किया, चले तुम अकेले। अकेले आये: अकेले चले! पानी पर खींचीं लकीरें हो गयी सारी ज़िंदगी।

'वाए नादानी कि वक्ते-मर्ग ये साबित हुआ
ख्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफसाना था।'

मरते वक्त ...!

'वाए नादानी कि वक्ते-मर्ग ये साबित हुआ।'

यह मूढ़ता सिद्ध हुई मरते वक्त, यह नादानी पता चली मरते वक्त, यह नासमझी खयाल में आयी मरते वक्त –

'ख्वाब था जो कुछ कि देखा' ...

जो देखा, वह सपना था ...

... 'जो सुना अफसाना था।'

और जो बात सुनते रहे, वह सिर्फ कहानी थी। हाथ खाली रह गये!

अक्सर तो ऐसा है कि ले के तो तुम कुछ न जाओगे, जो ले के आये थे, शायद उसे भी गँवा के जाओ।

बच्चे पैदा होते हैं, मुट्ठी बँधी होती है; मरते वक्त मुट्ठी खाली होती है, खुली होती है। बच्चा कुछ ले के आता है – कोई ताज़गी, कोई कमल के फूलों जैसा निर्दोष भाव, कुछ भोलापन – वह भी गंदा हो जाता है। बच्चा आता है दर्पण की तरह ताज़ा-नया, धूल जम जाती है ज़िंदगी की, वह भी खो जाता है।

हम जिंदगी में कमाते नहीं, गँवाते हैं – बड़ा अजीब सौदा करते हैं!

जो मौत के पहले जाग जाए वही धार्मिक हो जाता है। जो मौत तुम्हें दिखायेगी, वह तुम अपनी समझदारी में देख लो, अपने होश में देख लो, मौत को दिखाने की ज़रूरत न पड़े, तो तुम्हारी जिंदगी में एक क्रांति घटित हो जाती है।

'ठीक ऐसा ही है, जैसे ब्रजगोपियों की भक्ति!'

'इस अवस्था में भी गोपियों में माहात्म्यज्ञान की विस्मृति का अपवाद नहीं।'

इसे समझना।

'उसके बिना, भगवान को भगवान जाने बिना किया जाने वाला ऐसा प्रेम जारों के प्रेम के समान है।'

'उसमें, जार के प्रेम में, प्रियतम के सुख से सुखी होना नहीं है।'

'... जैसे ब्रजगोपियों की भक्ति।'

कृष्ण के प्रेम में, कथा है, सोलह हज़ार गोपियों की। संख्या तो सिर्फ असंख्य

का प्रतीक है। लेकिन गोपियों के प्रेम को समझना जरूरी है, क्योंकि भक्त वैसी ही दशा में फिर पहुँच जाता है। कृष्ण का होना शरीर में आवश्यक नहीं है। यह तो भक्त का भाव है जो कृष्ण को मौजूद कर लेता है। कृष्ण के होने का सवाल नहीं है; ये तो हज़ारों गोपियों की प्रार्थनाएँ हैं, जो कृष्ण को शरीर में बाँध लेती हैं, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

राधा कृष्ण के साथ नाची; मीरा को ज़रा भी तकलीफ न हुई, कृष्ण के बिना भी वैसा ही नाच नाची, और कृष्ण के साथ ही नाची। और अगर गौर करो, तो मीरा की गहराई राधा से भी ज्यादा मालूम पड़ती है, क्योंकि राधा के लिए तो कृष्ण सहारे के लिए मौजूद थे, मीरा के लिए तो कोई भी मौजूद न था। मीरा के भगवान तो उसके भाव का ही साकार रूप थे। मीरा के भगवान तो मीरा ने अपने को ही ढाल के बनाये थे, अपने को ही निछावर करके निर्मित किये थे।

कृष्ण मौजूद हों और तुम राधा बन जाओ, तुम्हारी कोई खूबी नहीं, कृष्ण की खूबी होगी। कृष्ण मौजूद न हों और तुम मीरा बन जाओ, तो तुम्हारी खूबी है, कृष्ण को आना पड़ेगा।

भक्त खींचता है भगवान को रूप में। भक्त भगवान को गुणों के जगत में, पृथ्वी पर ले आता है।

कैसी थी ब्रजगोपियों की भक्ति ?

एक क्षण को भी विस्मरण हो जाए तो रोती हैं। एक क्षण को भी कृष्ण न दिखायी पड़े तो तड़फती हैं। लेकिन ऐसा तो साधारण प्रेम में भी कभी हो जाता है : प्रेमी न हो, प्रेयसी तड़फती है; प्रेयसी न हो तो प्रेमी तड़पता है।

फर्क क्या है ब्रज की गोपियों की भक्ति में और साधारण प्रेमियों की भक्ति में ? फर्क इतना है कि ब्रजगोपियाँ कृष्ण के प्रेम में हैं, लेकिन परिपूर्ण होशपूर्वक कि कृष्ण भगवान हैं। वह प्रेम किसी व्यक्ति का प्रेम नहीं, भगवत्ता का प्रेम है। अन्यथा फिर साधारण प्रेम हो जाएगा।

कृष्ण को भी तुम ऐसे प्रेम कर सकते हो जैसे वे शरीर हैं, तुम्हारे जैसे ही एक व्यक्ति हैं। तब कृष्ण मौजूद भी हों तो भी तुम चूक गये।

रुक्मणी कृष्ण की पत्नी है, लेकिन रुक्मणी का नाम कृष्ण के साथ अक्सर लिया नहीं जाता – लिया ही नहीं जाता। सीता का नाम राम के साथ लिया जाता है। पार्वती का नाम शिव के साथ लिया जाता है। कृष्ण का नाम रुक्मणी के साथ और रुक्मणी का नाम कृष्ण के साथ नहीं लिया जाता। और राधा उनकी पत्नी नहीं है, याद रखना। राधा का नाम लेना बिलकुल गैरकानूनी है, कृष्ण-राधा कहना, राधा-कृष्ण कहना बिलकुल गैरकानूनी है, नाजायज है, नियम के



बाहर है। वह उनकी पत्नी नहीं है। पर क्या बात है, रुक्मणी कैसे विस्मृत हो गयी ? रुक्मणी कैसे अलग-थलग पड़ गयी ?

रुक्मणी पत्नी थी और कृष्ण में भगवान को न देख पायी, पुरुष को ही देखती रही – बस यही चूक हो गयी। वहीं राधा करीब आ गयी जहाँ रुक्मणी चूक गयी।

सौराष्ट्र में एक जगह है – तुलसीश्याम। वहाँ ध्यान का एक शिविर हुआ। तो जब मैं वहाँ गया तो जिस तलहटी में शिविर हुआ था वहाँ कृष्ण का मंदिर है। और ऊपर पहाड़ी की चोटी पर एक छोटा-सा मंदिर है, तो मैंने पूछा कि वह मंदिर किसका है। कहा, 'वह रुक्मणी का है।'

'उतने दूर! कृष्ण का मंदिर इधर मील-दो-मील के फासले पर!'

पुजारी उत्तर न दे सके। उन्होंने कहा कि यह तो पता नहीं।

रुक्मणी दूर पड़ती गयी। वह कृष्ण को पुरुष ही मानती रही, पुरुषोत्तम न देख पायी, पुरुष ही दिखायी पड़ता रहा, पति ही दिखायी पड़ता रहा। गहन ईर्ष्या में जली रुक्मणी, जैसा पत्नियाँ अक्सर जलती हैं। वह मंदिर भी इस ढंग से बनाया गया है कि वहाँ से वह नज़र रख सकती है कृष्ण पर। बिलकुल ठीक ढंग से बनाया है, जिसने भी बनाया है बड़ी होशियारी से बनाया है। पत्नी वहाँ दूर बैठी है और देख रही है। राधा और गोपियाँ और कृष्ण के पास प्रेमियों का और प्रेयसियों का इतना बड़ा जाल : रुक्मणी जली! बड़े दुख में पड़ी। कृष्ण की भगवत्ता न देख पायी। तो प्रेम साधारण हो गया – प्रेम रह गया, भक्ति न बन पायी।

प्रेम कब भक्ति बनता है ?

जैसे ही प्रेमी में भगवान दिखायी पड़ता है, वैसे ही प्रेम भक्ति बन जाता है। कृष्ण का होना ज़रूरी थोड़े ही है! क्योंकि कृष्ण के होने से अगर यह बात होती तो रुक्मणी को भी भक्ति उपलब्ध हो गयी होती।

तो, मैं तुमसे कहता हूँ, इससे उलटा भी हो सकता है। तुम अपने प्रेमी में, अपने पति में, अपनी पत्नी में, अपने बेटे में, अपने मित्र में, कहीं वही भूल तो नहीं कर रहे हो जो रुक्मणी ने की ? सोचना। कहीं वही भूल तो नहीं हो रही है ?

मैं तुमसे कहता हूँ, वही भूल हो रही है, क्योंकि उसके सिवाय कोई भी नहीं है। 'वही' सब में छिपा है। ज़रा खोदो। ज़रा गहरे उतरो। ज़रा दूसरे में डुबकी लो। ज़रा अनन्यता के भाव को जगने दो। और तुम अचानक पाओगे : वही भूल, रुक्मणी की भूल, सारे संसार से हो रही है। सभी के पास कृष्ण खड़ा है – सभी के पास भगवान खड़ा है। भीतर भी वही है, बाहर भी वही है।

लेकिन बाहर तुम्हारी आँखें देखने की आदी हैं, कम-से-कम बाहर तो उसे देखो। एक दफा पुरुष खो जाए और परमात्मा दिखायी पड़े; पुरुष खो जाए, पुरुषोत्तम दिखायी पड़े ... !

तो नारद कहते हैं, 'जैसे ब्रजगोपियों की भक्ति इस अवस्था में भी गोपियों में माहात्म्यज्ञान की विस्मृति का अपवाद नहीं है।'

हालाँकि वे दीवानी थीं, पागल थीं प्रेम में, लेकिन एक क्षण को भी भूलीं नहीं कि कृष्ण भगवान हैं; उतनी बेहोशी में भी होश रहा, अपवाद नहीं हैं; यह बात तो कभी न भूलीं कि कृष्ण भगवान हैं; यह बात तो याद ही रही; लड़ीं भी, झगड़ीं भी, रुठीं भी, लेकिन यह बात तो याद रही कि कृष्ण भगवान हैं।

उतनी ही बात प्रेम को भक्ति की ऊँचाई पर उठा देती है।

'उसके बिना, भगवान को भगवान जाने बिना, किया जाने वाला प्रेम जारों के प्रेम के समान है।

'उसमें जार के प्रेम में प्रियतम के सुख से सुखी होना नहीं है।'

थोड़ा आगे बढ़ो ! थोड़े गहरे जाओ !

'हरम से कुछ आगे बढ़े तो देखा
जबीं के लिए आस्तां और भी हैं।'

जब मास्जिद से थोड़ा आगे बढ़े तो देखा कि सिर झुकाने के लिए जगहें और भी हैं, मस्तक नवाने के लिए और भी जगहें हैं।

'हरम से कुछ आगे बढ़े तो देखा
जबीं के लिए आस्तां और भी हैं
सितारों के आगे जहाँ और भी हैं
अभी इश्क के इम्तिहां और भी हैं।'

प्रेम जब तक भक्ति न बन जाए तब तक जानना 'अभी इश्क के इम्तिहां और भी हैं,' अभी और भी परीक्षाएँ पार करनी हैं प्रेम को। प्रेम पे मत रुक जाना।

प्रेम कली है, भक्ति फूल है। प्रेम पे मत रुक जाना।

'अभी इश्क के इम्तिहां और भी हैं
सितारों के आगे जहां और भी हैं।'

जब तक प्रेम तुम्हारा भक्ति न बन जाए, जब तक प्रेमी में तुम्हें भगवान न दिखायी पड़ जाए – तब तक रुकना मत; तब तक मस्जिद मंदिरों में ठहर मत जाना।

'हरम के आगे बढ़े तो देखा
जबीं के लिए आस्तां और भी हैं।'



मंदिर-मस्जिद से पार जाना है ! सीमा से पार जाना है ! सम्प्रदाय से पार जाना है ! मत-मतान्तर से पार जाना है !

प्रासंगिक दिखायी पड़ती है बात कि हम कहीं मंदिर-मस्जिदों में, आकारों में, सीमाओं में, गुणों में उलझे हैं—और इसलिए वह जो उनके भीतर छिपा है, हमारे हाथ से चूका जा रहा है, पकड़ में नहीं आता। खोल ही दिखायी पड़ती है। ऊपर का सांयोगिक असार ही दिखायी पड़ता है, भीतर का सार, स्वभाव, स्वरूप दिखायी नहीं पड़ता।

'उसके बिना, भगवान को जाने बिना, किया जाने वाला ऐसा प्रेम जारों के प्रेम के समान है।'

'उसमें, जार के प्रेम में, प्रियतम के सुख से सुखी होना नहीं है।'

फर्क क्या है ?

जब तुम प्रेम करते हो—साधारण प्रेम, जिसे हम प्रेम कहते हैं—तो तुम अपने सुख की फिक्र कर रहे हो; तुम प्रेमी का उपयोग कर रहे हो। भक्ति प्रेमी के सुख की चिंता करती है, अपने को समर्पित करती है। प्रेम में तुम प्रेमी का उपयोग करते हो साधन की तरह, अपने सुख के लिए। भक्ति में तुम साधन बन जाते हो प्रेमी के, उसके सुख के लिए।

भक्ति समर्पण है। भक्त फिर भगवान के लिए जीता है।

कबीर ने कहा है, जैसे बाँस की पोली पोंगरी खुद गीत नहीं गाती, फिर परमात्मा के ही गीत उससे बहते हैं। बाँस की पोंगरी तो सिर्फ पोली है, राह देती है, जगह देती है, स्थान देती है, रुकावट नहीं देती।

तो कबीर ने कहा है, 'अगर गीत में कहीं कोई अड़चन आती हो तो मेरी बाँस की पोंगरी की भूल समझना, कहीं कोई गड़बड़ होगी। तुम तो गीत ठीक ही ठीक गाते हो; अड़चन आती होगी, बाधा पड़ती होगी, मेरे कारण पड़ जाती है। कसूर हो तो मेरा, भूल-चूक हो तो मेरी; जो भी ठीक हो, तेरा ! दुखी होता हूँ तो मैं अपने कारण, सुखी होता हूँ तो तेरे कारण ! बँधता हूँ तो अपने कारण, मुक्त होता हूँ तो तेरे कारण ! नरक बनाता हूँ तो मैं, स्वर्ग तो सब तेरा प्रसाद है !'

प्रेम अपने सुख की तलाश है, और इसलिए प्रेम दुख में ले जाता है। जो अपने सुख की तलाश कर रहा है, वह 'मैं' को पकड़े हुए है। और 'मैं' सारे दुखों का निचोड़ है। वही तो काँटा है, चुभता है। जिसने प्रेमी के सुख को सब कुछ माना, जिसने सब प्रेमी के सुख पर निछावर किया, उसके जीवन में फिर कोई दुख नहीं।

तुम जब तक अपना सुख खोजोगे, दुख पाओगे। जिस दिन तुम परमात्मा का सुख खोजने लगे कि वह जिसमें सुखी हो, वही मेरा सुख...।

जीसस को सूली लगी, एक क्षण को कँप गये और उन्होंने कहा, 'हे भगवान

यह मुझे क्या दिखला रहा है ?' फिर सम्हल गये और कहा, 'तेरी मर्जी पूरी हो !' उसी क्षण क्रांति घटी। उसी क्षण जीसस का साधारण मनुष्य रूप खो गया, परमात्म-रूप प्रगट हुआ। सूली भी स्वीकार हो गयी तो सिंहासन हो गयी।

जीसस की सूली से ऊँचा सिंहासन तुमने कहीं देखा ? जीसस की सूली से बहुमूल्य सिंहासन तुमने कहीं देखा ?

...मृत्यु महाजीवन का द्वार बन गयी। इधर अहंकार गया, उधर परमात्मा प्रविष्ट हुआ।

अपने सुख को खोजने का अर्थ है : अहंकार अभी भी खोज रहा है। उसके सुख को खोजना जब शुरू हो जाए, भक्त तब ऐसे जीने लगता है जैसे बाँस की पोंगरी; बाँसुरी बन जाता है : सब स्वर 'उसी' के हैं। फिर कोई दुख नहीं है। फिर कोई नरक नहीं है। फिर अँधेरा भी रोशन है। फिर मौत भी और नये जीवन की शुरुआत है। फिर काँटों में भी फूल दिखायी पड़ने लगते हैं, काँटे भी फूल हो जाते हैं। फिर दुख अनुभव में आता ही नहीं। फिर हैरानी होती है यह देख के कि लोग दुखी क्यों हो रहे हैं !

सब उपलब्ध है। महोत्सव की तैयारियाँ हैं और लोग दुखी हो रहे हैं। परमात्मा गीत गाने को तैयार है। उसके ओंठ फड़क रहे हैं। तुम्हारी बाँसुरी तैयार नहीं है। तुम खाली नहीं हो, तुम भरे हो !

अहंकार से खाली होते ही 'उसका' प्रवेश हो जाता है।

आज इतना ही।

## छठवाँ प्रवचन

दिनांक १६ जनवरी, १९७५; श्री रजनीश आश्रम, पूना

# प्रसादस्वरूपा है भक्ति

पहला प्रश्न : जब भी किसी को विराट का अनुभव होता है, वह किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्त होता ही है। क्या आप बुद्धपुरुषों के देखे ऐसा नहीं है?

अनुभव तो वह ऐसा है कि छिपाये छिपेगा नहीं, प्रगट होगा ही। जहाँ तक अनुभोक्ता का सम्बंध है, प्रगट होगा ही। लेकिन जहाँ तक तुम्हारा सम्बंध है, तुम पर निर्भर है : प्रगट हो या अप्रगट रह जाए।

बुद्ध ने तो कह दिया है जो जाना, तुमने सुना या नहीं...; बुद्ध की तरफ से प्रगट हो गया, तुम्हारी तरफ प्रगट हो भी सकता है, प्रगट न भी हो।

वर्षा तो होती है, झील, सरोवर, खाई, खड्डे भर जाते हैं, पहाड़ खाली के खाली रह जाते हैं।

तुम्हारा घड़ा उलटा रखा हो, मेघ कितने ही गरजें, कितने ही बरसें, तुम खाली रह जाओगे; तुम्हारे लिए वर्षा हुई ही नहीं। नहीं कि वर्षा नहीं हुई; वर्षा तो हुई, तुम्हारे लिए नहीं हुई। और जब तक तुम्हारे लिए न हो तब तक हुई या न हुई, क्या फर्क पड़ता है!

बुद्धपुरुष चुप भी रह जाएँ तो उनकी चुप्पी में भी वही प्रगट होता है।

बोलना ज़रूरी नहीं है—बोलना मजबूरी है। बोला जाता है करुणा के कारण, क्योंकि मौन को तो तुम समझ ही न पाओगे। शब्द ही छूट जाते हैं तो मौन तो कैसे पकड़ में आएगा? कह-कह के भी, तुम्हारी पकड़ नहीं बैठ पाती; अनकहे को तो तुम कैसे पकड़ पाओगे?

बोलना ज़रूरी नहीं है, मजबूरी है। बुद्धों का बस चले तो चुप रह जाएँ। लेकिन तुम्हें देख कर, तुम्हारे लड़खड़ाते पैरों को देख कर, अँधेरे में तुम्हें टटोलते देख कर, चिल्लाते हैं, जितने ज़ोर से बोल सकते हैं उतने ज़ोर से बोलते हैं—फिर भी तुम्हारे बहरेपन में आवाज़ पहुँचती है, यह संदिग्ध है।

करोड़ों सुनते हैं, कोई एक सुन पाता है। सुन सभी लेते हैं, क्योंकि तुम बहरे नहीं हो, कान तुम्हारे काम करते हैं, फिर भी चूक जाते हो। क्योंकि सुनना एक बात है, और सुन लेना बिलकुल दूसरी।

शब्द बोले जाते हैं तो कानों पर तरंगें पैदा होती हैं, लेकिन हृदय अछूता रह जाता है। मस्तिष्क के पास तो दो कान हैं, आवाज एक से जाती है, दूसरे से निकल जाती है। हृदय के पास एक ही कान है, आवाज़ जाती है तो फिर निकल नहीं पाती, बीज बन जाती है, गर्भस्थ हो जाता है हृदय। और जब तक सुनी हुई वाणी तुम्हारे भीतर गर्भ न बन जाए, जैसे सीप के भीतर मोती निर्मित होता है, ऐसे सुना हुआ शब्द जब तक तुम्हारे भीतर मोती न बनने लगे, तब तक तुमने सुना, फिर भी सुना नहीं; देखा, फिर भी देखा नहीं।

जीसस बार-बार अपने शिष्यों को कहते हैं, 'आँखें हो तो देख लो ! कान हों तो सुनो। हृदय हो तो समझो।'

ऐसा नहीं कि जीसस बहरे और अंधे लोगों से बोल रहे थे, तुम्हारे ही जैसे आँख वाले और कान वाले लोग थे। फिर भी बार-बार जीसस दोहराते हैं। कारण साफ है।

सत्य जब अनुभव में आता है किसी के तो बात कुछ ऐसी है कि छुपाये भी नहीं छुप सकती, बताने की तो बात ही अलग। साधारण प्रेम नहीं छुपता। किसी के जीवन में साधारण प्रेम आ जाए तो चाल बदल जाती है; चाल में एक नृत्य समा जाता है; व्यक्तित्व की गंध बदल जाती है; हज़ार-हज़ार कमल खिल जाते हैं; बोलता है तो एक माधुर्य आ जाता है; साधारण वाणी में मधु बरसने लगता है !

प्रेमी की आँखें देखो
– बिना शराब पिये शराबी हो गया होता है !
एक मस्ती घेर लेती है !
जैसे प्रकृति पर जब वसंत उतरता है,
ऐसा जब किसी के जीवन में प्रेम उतरता है,
तो हृदय वसंत से भर जाता है !
सब तरफ फूल खिल जाते हैं !
सब तरफ पक्षियों की चहचहाहट शुरू हो जाती है !
भीतर कोई अवरुद्ध झरने मुक्त हो जाते हैं !
पंख लग जाते हैं–अनंत आकाश में उड़ने के !

साधारण प्रेम में ऐसा हो जाता है, तो जब परमात्मा का प्रेम बरसता है किसी पर, उस असाधारण प्रेम की घटना घटती है; जब बूंद में सागर उतरता है; आँगन में आकाश आ जाता है; कबीर ने कहा है, जब अँधेरे में हज़ार-हज़ार सूरज का प्रकाश आता है; हज़ारों सूर्य भी मात हो जाएँ, ऐसे प्रकाश की वर्षा होती है; मृत्यु में अमृत का आनंद बरसता है–तो कैसे छिपाये छिपेगा ?

मुर्दा जिंदा हो जाए, छिपाये छिपेगी यह बात ? मृत्यु में अमृत उत्तर आए, छिपाये छिपेगी यह बात ? कोई उपाय नहीं है छिपने का। छिपाये तो छिपती ही नहीं; मगर मजा यह है, दुर्भाग्य यह है, बताये भी प्रगट नहीं हो पाती। छिपाये छिपती नहीं और बताये प्रगट नहीं हो पाती। क्योंकि दो हैं। वसंत आ गया, इतना ही थोड़े काफी है, तुम्हारे भीतर भी तो वसंत को समझने की कोई समझ होनी चाहिए।



एक बहुत बड़े चित्रकार टरनर के चित्रों की प्रदर्शनी हो रही थी। बड़ा शोरगुल था। सारा नगर इकट्ठा था चित्रों को देखने के लिए। टरनर द्वार पर ही खड़ा था, लोगों की प्रतिक्रियाएँ सुन रहा था।

एक महिला ने कहा, 'बड़ा शोरगुल मचाया हुआ है, मुझे तो कुछ इसमें दिखायी नहीं पड़ता। कुछ सार नहीं मालूम होता इन चित्रों में। ये चित्र तो ऐसे लगते हैं जैसे बच्चों ने रंग भरे हों। मुझे इनमें कोई बड़ी कुशलता नहीं दिखायी पड़ती। इतना शोरगुल क्यों मचाया हुआ है ?'

उसके साथ जो महिला थी, वह टरनर को पहचानती थी। उसने उससे कहा, 'चुप ! टरनर सामने खड़ा है।'

और दूसरी महिला ने टरनर से कहा कि तुम्हारा सूर्योदय का चित्र मुझे बहुत पसंद आया है; लेकिन ऐसा सूर्योदय मैंने कभी देखा नहीं। मतलब यह था कि 'ऐसा सूर्योदय होता नहीं जैसा तुमने बनाया है। यह किसी कल्पना की बात है।'

टरनर ने कहा, 'माना; लेकिन क्या न तुम चाहोगी कि मेरी आँखें तुम्हें उपलब्ध हों और ऐसा सूर्योदय तुम्हें दिखायी दे सके ?'

बड़े माधुर्य से बड़ी गहरी चोट टरनर ने की : 'क्या तुम न चाहोगी कि तुम्हें मेरी जैसी आँखें मिल जाएँ और ऐसा सूर्योदय दिखायी दे सके ?'

सूर्योदय देखना हो तो सूर्योदय देखने वाली आँखें भी तो चाहिए।

कहते हैं, अगर कवियों ने प्रेम के गीत न गाये होते तो लोगों को प्रेम का पता ही न चलता। यह बात मुझे कुछ समझ में आती है।

तुम थोड़ा सोचो, अगर कभी तुमने प्रेम का कोई गीत न सुना होता और प्रेम की कोई कहानी न सुनी होती तो क्या तुम्हें तुम्हारी ज़िंदगी से पता चल सकता था कि प्रेम है ? शादी पता चलती, विवाह पता चलता, बाल-बच्चे पैदा होते; लेकिन प्रेम...?

प्रेम का पता चलने के लिए पारखी की आँख चाहिए।

बड़ी मुश्किल से पैदा होता है चमन में कोई आँख वाला, कोई दीदावर, कोई द्रष्टा !

लेकिन कविताएँ सुन के भी, प्रेम के गीत और प्रेम की कहानियाँ सुन के

भी, तुम्हें प्रेम का शब्द ही याद हो जाता है, तुम उसे दोहराने लगते हो, तुम वक्त-बेवक्त उसका उपयोग करने लगते हो। लेकिन क्या शब्द सुन के ही तुम्हें प्रेम का अनुभव हो सकता है ? क्या यह अनुभव ऐसा है कि उधार हो जाए ?

नहीं, उधार यह नहीं हो सकता।

तो तुम्हारे जीवन में जब तक कोई अनुभव का सूत्र न हो, तब तक बुद्ध खड़े रहें, तुम्हें दिखायी न पड़ेंगे। तुम्हें वही दिखायी पड़ेगा जो तुम्हें दिखायी पड़ सकता है। मीरा नाचती रहे, तुम्हें वही दिखायी पड़ेगा जो तुम्हें दिखायी पड़ सकता है। तुम्हारी आँखें ही तो तुम्हें खबर देंगी, और तुम्हारे कान ही तो व्याख्या करेंगे, और तुम्हारी समझ ही तो परिभाषा बनायेगी।

सत्य का अनुभव जब होता है तब तो वह प्रगट हो ही जाता है; लेकिन तुम नहीं समझ पाते।

बड़ी प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं :

'या रब न वह समझे हैं न समझेंगे मेरी बात
दे और दिल उनको, जो न दे मुझको जबां और।'

सभी बुद्धों के मन में ऐसा भाव रहा होगा कि हे, भगवान...

'या रब न वह समझे हैं न समझेंगे मेरी बात
दे और दिल उनको, जो न दे मुझको जबां और।'

'या तो मेरी जबान बदल, ताकि मैं उन्हें समझा सकूं; और या उन्हें और दिल दे, ताकि वे समझ सकें।'

हजार ढंग से बुद्धों ने समझाने की कोशिश की है, लेकिन तुम्हारे पास कोई समानांतर अनुभव चाहिए : न सही सूरज का, किरण का ही सही; न सही सूरज का, मिट्टी के छोटे-से दीये का ही सही – पर कोई समानान्तर अनुभव चाहिए।

दीया भी देखा हो तो सूरज का अनुमान किया जा सकता है। दीया भी न देखा हो तो सूरज शब्द कोरा शब्द रह जाता है – चली हुई कारतूस जैसा, खाली। उसे तुम याद कर ले सकते हो, वक्त-बेवक्त उपयोग भी कर सकते हो; लेकिन उसकी कोई जड़ें तुम्हारे भीतर न होंगी – उखड़ा हुआ पौधा होगा, सूखा हुआ पौधा होगा; गुलदस्ते में सजा के रख सकते हो, उसमें कभी फूल न आएँगे; तुम धोखे में रह सकते हो, लेकिन तुम्हारे जीवन में उस धोखे के कारण बाधा ही पड़ेगी, क्रांति घटित न होगी।

ठीक पूछा है : जब भी किसी को विराट अनुभव में आता है तो अभिव्यक्ति तो होती ही है।

बहुत बुद्धपुरुष चुप भी रह गये हैं, पर उनकी चुप्पी भी बड़ी बोलती हुई थी। वह खामोशी भी गीत गाती हुई थी। जिनको थोड़ी भी समझ थी उन्होंने उन चुप रहने वाले लोगों को भी खोज लिया है और उनके पदचिह्नों पर यात्रा कर ली है।



कोई नाचा है। किसी ने बाँसुरी बजा कर कहा है। कोई बोला है। किसी ने तर्कनिष्ठ भाषा का उपयोग किया है। जीसस और बुद्धों ने छोटी-छोटी कथाएँ कही हैं। जो जिससे बन सका...।

सत्य को पाने के पहले जिसकी जैसी तैयारी थी, फिर जब सत्य उतरा तो उसके पहले जो-जो तैयारी थी उस सबका उपयोग किया है, हर तरह से उपयोग किया है। लेकिन ज़रूरी नहीं है कि तुम उन्हें पहचान पाये होओ।

बुद्ध जिन गाँवों से गुज़रे उनमें हज़ारों-लाखों लोग थे, जिन्होंने उन्हें नहीं पहचाना; बुद्ध गाँव से गुज़रे, जो उनके दर्शन को भी न गये, जो उन्हें सुनने भी न गये, जो उन्हें सुनने भी गये तो खाली हाथ ही लौटे, सोचते लौटे कि सब बातें हैं, हवा की बातें हैं। उनके कहने में भी सच्चाई है।

जो तुम्हारी पकड़ में न आये, वह हवा की बात है, पानी का बबूला है !

सत्य तो सत्य तभी होता है जब तुम्हारे भीतर उसे आधार मिल जाए।

लेकिन बुद्धपुरुष कहते हैं, उनकी करुणा से हजार उपाय खोजते हैं। कहने में उन्हें कुछ रस नहीं है; तुम समझ लो, इसमें ज़रूर रस है। यही तो फर्क है।

एक दार्शनिक भी कहता है, उसे कहने में रस है; तुम समझो-न-समझो, इसमें सवाल नहीं है – उसे अपनी ही आवाज़ सुनने में मजा आ रहा है। बोल के वह अपने अहंकार को फैला रहा है।

विचारक भी लिखता है, बोलता है; लेकिन तुमसे उसे प्रयोजन नहीं है, प्रयोजन अपने अहंकार की सजावट ही है।

कवि भी गाता है, लेकिन गाने में मजा भी अपनी ही आवाज सुनने का है। यही तो कवि और ऋषि का फर्क है। ऋषि गाता है ताकि तुम सुन सको। ऋषि गाता है ताकि तुम्हारे हृदय में कुछ हिलोरें पैदा हो सकें, ताकि तुम्हारा सोया प्राण जग जाए। कवि गाता है, ताकि तुम्हारी तालियों की आवाज उसके अहंकार में नयी सजावट बने, नया शृंगार हो; मगर तुम्हारी तालियों को सुनने के लिए ही गाता है।

संत भी बोलते हैं – इसलिए नहीं कि तुम्हारी तालियाँ सुनें। तुम्हारी प्रशंसा से कोई भी प्रयोजन नहीं है। वस्तुतः जब भी तुम उनकी प्रशंसा करते हो और ताली बजाते हो, तब वे थोड़ा चौंकते हैं। क्योंकि यह बात ताली सुनने के लिए या प्रशंसा सुनने के लिए नहीं कही गयी थी – यह कही गयी थी ताकि तुम बदलो, तुम्हारे जीवन में क्रांति का सूत्रपात हो।

'न सताइश की तमन्ना न सिले की पर्वा
गर नहीं है मेरे अशआर में मानी न सही।'
–न तो कोई पुरस्कार चाहिए, न कोई प्रशंसा।
'न सताइश की तमन्ना न सिले की पर्वा।
गर नहीं है मेरे अशआर में मानी न सही।'

इसकी भी चिंता नहीं है संतों को कि वे जो कह रहे हैं, वह सार्थक भी हो, क्योंकि सार्थक बनाने के लिए तो उसे तुम्हारे तल पर उतारना पड़ेगा। और जितना ही सत्य तुम्हारे तल पर उतारा जाता है उतना ही मरता जाता है; जब वह ठीक तुम्हारे तल पे आ जाता है, व्यर्थ हो जाता है।

इसलिए अगर किसी को सार्थक वचन ही बोलने की आकांक्षा हो तो सत्य नहीं बोला जा सकता। सत्य तो विरोधाभासी है। सत्य को तो बोलने का एक ही ढंग है कि तुम सार्थक होने की चिंता मत करना।

तर्कातीत है सत्य, तो सार्थक कैसे होगा?

विरोधाभासी है सत्य, तो सार्थक कैसे होगा?

और जो तुम्हारे लिए सार्थक हो सके वह बिलकुल ही व्यर्थ हो गया। जो तुम्हारी बिलकुल ही समझ में आ जाए, वही सार्थक हो सकता है। और जो इतना सार्थक हो जाए कि तुम्हारी समझ में बिलकुल आ जाए, वह तुम्हें ऊपर न उठा सकेगा।

तो बुद्धपुरुषों की चेष्टा क्या है?

–कुछ समझ में आये, कुछ समझ के पार रह जाए।

जो समझ में आये, वह सहारा बने आस्था का, ताकि जो समझ में नहीं आया है, उसकी तरफ तुम कदम बढ़ाओ; ज़रा-सा समझ में आये और बहुत-सा समझ के पार रह जाए; वह जो थोड़ा-सा समझ में आता है, धुंधला-सा समझ में आता है, वह तुम्हारे लिए मार्ग बन जाए, उसके सहारे तुम और यात्रा करने के लिए और उत्सुक हो जाओ।

संत तो प्रगट हो जाते हैं–अपनी तरफ से; तुम्हारी तरफ से अप्रगट रह जाते हैं–इतने अप्रगट रह जाते हैं कि इतिहास में उनका कोई उल्लेख भी नहीं होता।

जीसस का कोई उल्लेख नहीं है, सिवाय बाइबिल के कहीं और। बाइबिल तो उनके ही शिष्यों की किताब है, इसलिए भरोसे की नहीं है। हज़ारों लोग हैं जो शक करते हैं कि जीसस कभी हुए भी

कृष्ण कभी हुए–शक की बात है।

इतने विराट पुरुष हुए, इतिहास में इनकी कोई छाप नहीं छूट जाती, क्योंकि इतिहास तुम लिखते हो; जब तुम पर ही छाप नहीं छूटती तो तुम्हारे लिखे पर कहाँ से छाप छूटेगी! तुम्हारे लिखे पे छाप छूटती है चंगेज़ खां की, तैमूरलंग की, राजनेताओं की, उपद्रवियों की, हत्यारों की, डाकुओं की, इनकी तुम्हारे लिखे पे छाप छूटती है। इन पे कोई शक नहीं करता कि चंगेज़ खां कभी हुआ या नहीं, तैमूरलंग कभी हुआ कि नहीं। कोई शक का सवाल ही नहीं है। करोड़ों प्रमाण हैं उनके होने के।



कृष्ण? क्राइस्ट?–कोई प्रमाण नहीं मालूम पड़ता; मान लो, भरोसे की बात है; न मानो तो कोई मना नहीं सकता।

क्या कारण होगा? इतिहास इतना अछूता कैसे रह जाता है?

क्योंकि इतिहास तुम लिखते हो। तुम्हारा हृदय ही अछूता रह जाता है। तुम पर ही निशान नहीं बनते उनके, तो तुम्हारे लिखे पर कैसे बनेंगे? व्यर्थ की तो छाप बन जाती है, क्योंकि व्यर्थ तुम्हें सार्थक है। सार्थक की छाप ही नहीं बनती, क्योंकि सार्थक तुम्हें बिलकुल व्यर्थ है।

बुद्ध का क्या करियेगा? युद्ध में काम आ नहीं सकते। तलवार बना नहीं सकते उनसे।

बुद्ध की खोजों का क्या करियेगा? अणु-बम तो बन नहीं सकता उनसे। तुम्हारे किसी काम की नहीं हैं। खयाली बातें हैं, हवा की हैं।

स्वप्नद्रष्टा है इस तरह का व्यक्ति। तुम उसे माफ कर देते हो, इतना ही बहुत। तुम अपनी राह चले जाते हो। कभी फुर्सत हुई, उसकी दो बात भी सुन लेते हो; लेकिन उसकी बातों के कारण तुम अपने को बदलने की तैयारी नहीं करते। सुन लेते हो औपचारिकता से, शिष्टाचार से; लेकिन कहीं भी तुम पर कोई छाप नहीं पड़ती। किसी पे पड़ जाती है तो तुम उसको पागल समझते हो। किसी पे पड़ जाती है तो तुम समझते हो कि गया काम से, यह एक और आदमी खराब हुआ।

जीवन में जो भी महत्त्वपूर्ण है, वह तुम्हें सार्थक दिखायी ही नहीं पड़ता। तुम कितने ही ऊँचे आकाश में उड़ो, तुम्हारी नजर चील की तरह कचरा-घरों पे पड़े मरे चूहों में लगी रहती है। तुम बुद्धों के पास भी बैठो तो भी तुम्हारी नजर बुद्धों पे नहीं होती।

एक सज्जन मेरे पास आये। मिल के गये। महीने-भर बाद वे फिर आये। बड़े प्रसन्न थे। कहने लगे, 'आपकी बड़ी कृपा है! चमत्कार हो गया! मुकदमा कई सालों से उलझा था, आपके दर्शन किये, जीत गया।'

मेरे दर्शन से इनके मुकदमे का क्या सम्बंध? लेकिन जब आये होंगे तो वे इसीलिए आये होंगे कि मुकदमा जीतना था।

बुद्धपुरुषों के पास भी तुम जाओ तो तुम्हारी नजर तो मरे चूहों पर ही लगी

रहती है। कहीं मुकदमा हार जाते तो फिर कभी दुबारा मेरे पास न आते : 'यह आदमी किसी काम का नहीं, उलटा उपद्रव है।'

तो मैंने उनसे कहा, 'भूल हो गयी। संयोग को चमत्कार मत समझ लेना। और अब दुबारा मुकदमा जीतना हो तो यहाँ मत आना।'

मुकदमे से मेरा क्या सम्बंध हो सकता है ? तुम्हारी पूरी जिंदगी बेकार है, तुम सब मुकदमे हार जाओ तो भी कुछ फर्क नहीं पड़ता । तुम्हारी जिंदगी पूरी हारी हुई है। तुम जिसे जिंदगी कहते हो वही व्यर्थ है।

सार्थक तुम्हारी समझ के मापदण्ड पे कसा जाता है ।

ध्यान रखना–

'न सताइश की तमन्ना न सिले की पर्वा
गर नहीं है मेरे अशआर में मानी न सही।'

बुद्धपुरुष सार्थक की चिता करें तो बोल ही नहीं सकते, क्योंकि तब मरे चूहों की चर्चा करनी पड़ेगी। सत्य की परवाह करते हैं, सार्थक की नहीं । और सत्य तुम्हें निरर्थक दिखायी पड़ेगा, यह पक्का है।

बड़ी हिम्मत चाहिए सत्य की खोज के लिए, क्योंकि वह अर्थ के पार जाने की चेष्टा है। जिन-जिन चीज़ों में तुम्हें उपयोगिता मालूम होती है–धन है, पद है, प्रतिष्ठा है–सत्य न तो पद बनेगा, न प्रतिष्ठा, न धन; सिंहासन तो बन ही नहीं सकता, सूली भला बन जाए; धन तो बनेगा ही नहीं, पद तो बनेगा ही नहीं, विपरीत भला हो जाए। तो सत्य तुम्हें कैसे सार्थक मालूम हो सकता है ?

सत्य तो ऐसा है, जैसे वृक्षों पे फूल हैं, पक्षियों के गीत हैं, झरनों का कलरव है – कोई अर्थ तो नहीं है ।

पश्चिम के एक बड़े महत्त्वपूर्ण कवि कंम्मिग्स से किसी ने पूछा कि तुम्हारी कविताओं का माना ही क्या है, अर्थ क्या है। उसने कहा, 'कोई अर्थ नहीं। फूलों से पूछो, क्या है। पक्षियों से पूछो, क्या अर्थ है। आकाश से पूछो, क्या अर्थ है उसका। और अगर आकाश व्यर्थ हो के शान से है और फूल व्यर्थ हो के गौरव से खिलते हैं, शरमाते नहीं, छिपते नहीं, तो मेरी कविताओं को ही अर्थ बताने की क्या जरूरत है ?'

जितनी सत्य के करीब कोई बात पहुँचने लगेगी, उतनी ही तुम्हारी सार्थकता के घेरे के बाहर हो जाएगी। अर्थ है कोई, लेकिन उस अर्थ को जानने के लिए तुम्हारी आत्मा को पूरा रूपान्तरित होना पड़ेगा; तुम्हारे अर्थ की परिभाषा ही बदलनी पड़ेगी।

बुद्धपुरुष प्रगट होते हैं – तुम्हारे लिए नहीं प्रगट हो पाते ।

तुम इसकी चिंता भी मत करो कि वे प्रगट होते हैं या नहीं – तुम इसकी ही चिंता करो कि तुम्हारे लिए प्रगट हो पाते हैं या नहीं।



अपने हृदय को खोलो !
बंद द्वार-दरवाज़े तोड़ो !
घबड़ाओ मत, खुले में आओ !
छिपो मत अंधकार में !
आदत अंधकार की छोड़ो !
थोड़ी रोशनी में आओ !

आँखें तिलमिलाएँ भी प्रारम्भ में तो घबड़ाओ मत । पुराने अंधकार की आदत हो गयी है, स्वाभाविक है कि थोड़ी तिलमिलाहट होगी, थोड़ी अड़चन होगी, थोड़ी कठिनाई होगी, थोड़ी तपश्चर्या होगी। मगर यह तपश्चर्या करने जैसी है, क्योंकि जो मिलेगा वह अनंत है, जो मिलेगा वह विराट है। और जब तक वह न मिल जाए तब तक तुम्हारा जीवन एक कोरा शून्य है, एक रिक्तता है, एक खालीपन है।

दूसरा प्रश्न : आये थे दर पे तेरे सिर झुकाने के लिए,
उठता नहीं है सिर अब वापस जाने के लिए,
दर्द दिया है तो दवा भी तू ही दे,
ऐसा न हो कि कहानी बन जाये जमाने के लिए।

ठीक है। घबड़ाने की कोई बात नहीं है।

दर्द ही दवा बन जाता है !

दर्द के अधूरे होने में पीड़ा है, पूरे हो जाने में दवा है।

इसे थोड़ा समझना। कठिन होगा समझना, क्योंकि हमारे तर्क की कोई भी कोटियाँ काम में नहीं आएँगी।

लेकिन आन्तरिक जीवन के बहुमूल्य सत्यों में एक सत्य है कि अगर तुम्हारा प्रश्न पूरा हो जाए तो प्रश्न में ही उत्तर निकल आता है।

और तुम्हारी प्यास अगर समग्र हो जाए तो प्यास में ही झरने फूट पड़ते हैं और तृप्ति आ जाती है।

दर्द पूरा हो जाए, दर्द इतना हो जाए कि तुम दर्द के जानने वाले अलग न रह जाओ, भेद न बचे, दर्द ही बचे, तुम न बचो तो दवा हो जाता है। इसी को तपश्चर्या कहते हैं।

तपश्चर्या का अर्थ धूप में खड़ा हो जाना नहीं है, न भूखे हो कर उपवास कर लेना है।

तपश्चर्या का अर्थ है : जीवन के खालीपन की पीड़ा को उसकी समग्रता में अनुभव करना; जीवन की अर्थहीनता को उसकी पूरी त्वरा में अनुभव करना।

जीवन की ही यह जिसको भाग-दौड़ हम समझ रहे हैं, अभी बड़ी उपयोगी मालूम होती है, एक ख्वाब से ज्यादा न रह जाए तो अचानक हम पाएँगे : हाथ खाली हैं। घबड़ाहट पकड़ेगी। रोआँ-रोआँ कँप जाएगा। लगेगा, यह जो जिये अब तक नाहक ही जिये, यह जो समय गया व्यर्थ ही गया। पीड़ा उठेगी। गहन पीड़ा उठेगी। इस पीड़ा को झेलने का नाम ही तपश्चर्या है।

और जल्दी दवा मत माँगना, क्योंकि जल्दी दी गयीं दवाएँ शामक होंगी, वे तुम्हारी पीड़ा को सुला देंगी, तुम फिर वापस दुनिया में लौट जाओगे वैसे-के-वैसे।

दवा माँगना ही मत। दर्द को भोगने के लिए तैयार रहना। अगर तुम भोगने की पूरी तत्परता दिखा सको तो दर्द में ही दवा छिपी है।

'इश्क से तबियत ने जीस्त का मजा पाया
दर्द की दवा पायी, दर्द बेदवा पाया।'

प्रेम से, भक्ति से —

'तबियत ने जीस्त का मजा पाया ...'

पहली दफा जीवन का आनंद आना शुरू हुआ। लेकिन यह आनंद कोरा आनंद नहीं है; इस आनंद की बड़ी गहन पीड़ा भी है। अगर तुमने प्रेम में सिर्फ सुख ही खोजा तो तुम प्रेम से वंचित रह जाओगे, क्योंकि प्रेम का दुख भी है।

गुलाब की झाड़ी पर फूल ही नहीं हैं, काँटे भी हैं। फूल-ही-फूल माँगे तो फिर तुम जा के फूल बेचने वाले से फूल खरीद लेना, झाड़ी लगाने की झंझट में मत पड़ना। वहाँ तुम्हें फूल मिल जाएँगे बिना काँटे के, मगर वे मरे हुए फूल हैं। ज़िंदा फूल चाहिए तो काँटे भी होंगे।

और गुलाब का फूल काँटों में ही शोभा देता है।

रात के घने अँधेरे में जब चैतन्य का दीया जलता है तो उसी विपरीतता में उसकी प्रतीति की सघनता है।

'इश्क से तबियत ने जीस्त का मजा पाया
दर्द की दवा पायी...............।'

अब तक जो दर्द थे जिंदगी के – हज़ार दर्द हैं जिंदगी के – वे ही तुम्हें मेरे पास ले आये। हज़ार-हज़ार तकलीफें हैं, चिंताएँ हैं, उलझनें हैं। हजार दर्द हैं ज़िंदगी के।

अगर तुम भक्ति और प्रेम के रास्ते पर चले तो दर्द की दवा मिल जाएगी। इन सभी दर्दों की दवा मिल जाएगी। ये सब दर्द खो जाएँगे। 'दर्द की दवा पायी' – और तब एक नया दर्द शुरू होगा – 'दर्द बेदवा पाया।' और अब एक ऐसा दर्द शुरू होगा जिसकी कोई दवा नहीं है।

इन सभी दर्दों की तो दवा है। अगर चिंता है तो ध्यान से खो जाएगी।



तनाव है, ध्यान से मिट जाएगा। क्रोध है, लोभ है, मोह है – इन सभी दर्दों की दवा है। सिर्फ एक परमात्मा का दर्द है, जिसकी कोई दवा नहीं।

तो तुमसे मैं सारे दर्द छीन लूँगा और एक दर्द दूँगा, जिसकी फिर कोई दवा नहीं है। सौदा महँगा है। महँगा सौदा है। जुआरी चाहिए। दुकानदार इस काम को नहीं कर सकते। वे कहेंगे, 'यह क्या हुआ, छोटे-छोटे दर्द ले लिये और यह बड़ा दर्द दे दिया ! छोटे-छोटे दर्द ले लिये, जिनकी तो दवा थी; और यह दर्द दे दिया, जिसकी कोई दवा नहीं है !'

लेकिन घबड़ाना मत !

'इश्क से तबियत ने जीस्त का मजा पाया
दर्द की दवा पायी, दर्द बेदवा पाया।'

'इश्रते कतरा है दरिया में फना हो जाना।'

बूंद का गौरव यही है, ऐश्वर्य यही है कि वह सागर में खो जाए, मिट जाए।

'इश्रते कतरा है दरिया में फना हो जाना
दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।'

यह जो बेदवा-दर्द है, अगर यह हद से गुज़र जाए – हद से गुज़र जाने का अर्थ है, तुम इसमें मिट ही जाओ; तुम ही हद हो, तुम ही सीमा हो; ऐसा कोई भीतर रह ही न जाए जिसको दर्द हो रहा है, दर्द ही बस रह जाए–

'दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।'

परमात्मा की पीड़ा ऐसी है कि उसका कोई इलाज नहीं; पीड़ा में ही इलाज छिपा है। क्योंकि परमात्मा आखिरी पीड़ा है, उसके आगे इलाज हो भी नहीं सकता। वही पीड़ा है, वही इलाज है। वही रोग है, वही औषधि है। क्योंकि उसके पार फिर कुछ भी नहीं।

तो घबड़ाओ मत !

दर्द की तैयारी चाहिए।

तो जब परमात्मा के आनंद को माँगने चले हो तो यह सौदा करने जैसा है। जितना दर्द उठाने की तैयारी दिखाओगे, उतना ही परमात्मा का आनंद उपलब्ध होगा।

तुम्हारे दर्द को झेल लेने की तैयारी, तुम्हारी परीक्षा है, तुम्हारी कसौटी है, और तुम्हारी भूमिका भी है।

दर्द निखारता है। दर्द साफ करता है।

दर्द ऐसे है जैसे कि कोई सोने को आग में धरता है, तो जो व्यर्थ है जल जाएगा, स्वर्ण बच रहेगा खालिस ! दर्द में वही जलेगा जो व्यर्थ है, जो जल ही जाना था, कूड़ा-कर्कट था। तुम्हारे भीतर जो भी सोना है वह बच जाएगा।

यह अग्नि गुज़रने जैसी है।

भक्ति अग्नि है।

यह भीतर की आग है।

तीसरा प्रश्न : आपके प्रवचन सुनते हुए कभी-कभी प्रेम-विभोर हो कर मेरी आँखें आँसू बहाने लगती हैं। लेकिन तभी अचेतन में अहंकार को रस भी आता लगता है कि मैं अहोभाव के आँसू बहा रहा हूँ। क्या इससे अद्वैत का रूखा-सूखा मार्ग अच्छा नहीं है, जहाँ अश्रु बहाने वाला बचता ही नहीं ?

बारीक है सवाल, थोड़ा समझना पड़े। नाजुक है।

थोड़ा ध्यान करना : जब भक्ति तक में अहंकार बच जाता है तो अद्वैत में तो मिट ही न सकेगा। जब आँसू भी उसे नहीं बहा सकते तो रूखे-सूखे मार्ग पर तो बड़ा अकड़ के खड़ा हो जाएगा। जब आँसू भी उसे पिघला नहीं सकते, और आँसुओं से भी वह अपने को भर लेता है, तो जहाँ आँसू नहीं हैं वहाँ तो मिटने का उपाय ही न रह जाएगा।

समझें।

अहंकार का आँसुओं से विरोध है। इसलिए तो हम पुरुष से कहते हैं, 'रो मत। क्या स्त्री जैसा व्यवहार कर रहे हो!' पुरुष को हम अहंकारी बनाते हैं। छोटा बच्चा भी रोने लगता है तो कहते हैं, 'चुप! लड़का है या लड़की?' पुरुषों की दुनिया है। अब तक पुरुष काबू रहे हैं दुनिया पर, तो उन्होंने अपने लिए अहंकार बचा लिया है। पुरुष होने का अर्थ है : 'रोना मत'। यह अकड़ है। 'स्त्रियाँ रोती हैं। कमज़ोर रोते हैं, शक्तिशाली कहीं रोते हैं!

अहंकार का आँसुओं से कुछ विरोध है।

तुम अगर सिकन्दर को रोते देखो तो तुम उसको बहादुर न कह सकोगे। नेपोलियन को अगर तुम रोते देख लो तो तुम कहोगे : 'अरे, नेपोलियन, और रो रहे हो! यह तो कायरों की बात है, कमज़ोरों की बात है। यह तो स्त्रैण चित्त का लक्षण है।'

अहंकार का आँसुओं से विरोध है। तो जब आँसू भी अहंकार को नहीं मिटा पाते तो ऐसा मार्ग जहाँ आँसुओं की कोई जगह नहीं है, वह तो मिटा ही न पाएगा, वहाँ तो अहंकार और अकड़ जाएगा।

भक्तों में तो कभी-कभी तुम्हें विनम्रता मिल जाएगी, अद्वैतवादियों में तुम्हें कभी विनम्रता नहीं मिलेगी। मुश्किल है, बहुत मुश्किल है। बड़ी अकड़ मिलेगी। आँसू ही नहीं हैं।

थोड़ा सोचो : हरा वृक्ष होता है तो झुक सकता है; सूखा वृक्ष होता है तो झुक नहीं सकता।



विनम्रता तो झुकने की कला है। अगर आँसुओं ने थोड़ी हरियाली रखी है तो झुक सकोगे। अगर आँसू बिलकुल सूख गये और सूखे दरख्त हो गये तुम, तो झुकना असम्भव है; टूट भला जाओ, झुक न सकोगे।

अहंकारी वही तो कहते हैं कि टूट जाएँगे, मगर झुकेंगे नहीं; मिट जाएँगे, मगर अकड़े रहेंगे।

अद्वैत रूखा-सूखा रास्ता है—तर्क का, बुद्धि का, विचार का। अगर भाव, प्रेम और भक्ति के रास्ते पर भी तुम पाते हो कि अहंकार इतना कुशल है कि अपने को भर लेता है, तो फिर अद्वैत के रास्ते पर तो बहुत भर लेगा। क्योंकि भक्ति की तो पहली शर्त ही यही है: समर्पण। भक्ति तो पहली ही चोट में अहंकार को मिटाने की चेष्टा करती है, अद्वैत तो अंतिम चोट में मिटायेगा। तुम पूरा रास्ता तय कर सकते हो अद्वैत का अहंकार के साथ। अखीर में अहंकार गिरेगा। भक्ति तो पहले ही चरण पर कहती है : अहंकार छोड़ो तो ही प्रवेश है।

वैष्णव भक्तों की एक कथा है कि एक भक्त वृंदावन की यात्रा को आया—रोता, गीत गाता, अश्रु-विभोर, लेकिन मंदिर पर ही उसे रोक दिया गया, द्वार पर पहरेदार ने कहा, 'रुको! अकेले भीतर जा सकते हो। लेकिन यह गठरी जो साथ ले आये हो, इसे बाहर छोड़ दो।'

उसने चौंक के चारों तरफ देखा, कोई गठरी भी उसके पास नहीं है। वह कहने लगा, 'कैसी गठरी, कौन-सी गठरी? मैं तो बिलकुल खाली हाथ आया हूँ।'

उस द्वारपाल ने कहा, 'भीतर देखो, बाहर मत। गठरी भीतर है, गाँठ भीतर है। जब तक तुम्हें यह खयाल है कि मैं हूँ तब तक, तब तक भक्ति के मंदिर में प्रवेश नहीं हो सकता। भक्ति की तो पहली शर्त है : तू है, मैं नहीं हूँ। भक्ति का प्रारम्भ है : तू है, मैं नहीं। और भक्ति का अंत है कि न मैं हूँ, न तू है।'

अद्वैत की तो बहुत गहरी खोज यही है कि मैं हूँ, तू नहीं; और अंतिम अनुभव है : न मैं है, न तू। इसलिए तो अद्वैत कहता है : अहं ब्रह्मास्मि! अनलहक! मैं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ। मैं सत्य हूँ।

अद्वैत के रास्ते पर तो वे ही लोग सफल हो सकते हैं जो अहंकार के प्रति बहुत सजग हो सकें; क्योंकि वहाँ आँसू भी साथ देने को न होंगे, सिर्फ सजगता ही साथ देगी; वहाँ प्रेम भी झुकाने को न होगा; वहाँ तो बोधपूर्वक ही झुकोगे तो ही झुकोगे।

तो, अद्वैत तो बहुत ही समझपूर्वक चलने का मार्ग है। सौ चलेंगे, एक मुश्किल से पहुँच पाएगा। भक्ति में नासमझ भी चल सकता है, क्योंकि भक्ति कहती है, सिर्फ गठरी छोड़ दो। कोई तर्क का जाल नहीं है, कोई विचार का सवाल नहीं है। प्रेम में डूब जाओ!

अज्ञानी भी चल सकता है भक्ति के मार्ग पर।

तो जिस मित्र ने पूछा है कि आँसू बहने लगते हैं तो एक अहंकार पकड़ता है भीतर कि अहो, धन्यभाग, कि मैं कैसे भक्ति के रस में डूब रहा हूँ!–ठीक पूछा है। ऐसा होगा, स्वाभाविक है। उससे घबड़ाओ मत। उस अहोभाव को भी परमात्मा के चरणों पे समर्पित कर दो। तत्क्षण कहो कि खूब, फिर उलझाया, इसे भी सम्हाल! अहोभाव मेरा क्या, तेरा प्रसाद है! अब मुझे और धोखा न दे! अब मुझे और खेल न खिला!

जैसे भी यह अहंकार बने, उसे तत्क्षण जैसे ही याद आ जाए, तत्क्षण परमात्मा के चरणों में रख दो। जल्दी ही तुम पाओगे: अगर तुम रखते ही गये, अहंकार के बनने का कारण ही खत्म हो गया।

अहंकार संग्रहीत हो तो ही निर्मित होता है। पल-पल उसे चढ़ाते जाओ। परमात्मा के चरणों में और सब फूल चढ़ाये, बेकार; धूप-दीप बाली, बेकार; आरती उतारी, व्यर्थ–बस अहंकार प्रतिपल बनता है, उसे तुम चढ़ाते जाओ। वही तुम्हारे भीतर उगने वाला फूल है, उसे चढ़ाते जाओ। जल्दी ही तुम पाओगे: उसका उगना बंद हो गया। क्यों? उसका संग्रहीत होना जरूरी है।

और आँसू बड़े सहयोगी हैं। होश रखना पड़ेगा। थोड़ा जागरूक रहना पड़ेगा। नहीं तो अहंकार बड़ा सूक्ष्म है और बड़ा कुशल है, बड़ा चालाक है। सावधान रहना पड़ेगा।

सावधानी तो सभी मार्गों पर जरूरी है; भक्ति के मार्ग पर सबसे कम जरूरी है, लेकिन जरूरी तो है ही। अद्वैत के मार्ग पर बहुत ज्यादा जरूरी है। न्यूनतम सावधानी से भी काम चल सकता है भक्ति के मार्ग पर, लेकिन बिलकुल बिना सावधानी के काम नहीं चल सकता है।

घबड़ाओ मत। जो हो रहा है, बिलकुल स्वाभाविक है, सभी को होता है। यात्रा के प्रारम्भ में यह अड़चन सभी को आती है।

अहंकार की आदत है कि जो भी मिल जाए उसी का सहारा खोज के अपने को भर लेता है। धन कमाओ तो कहता है, देखो, कितना धन कमा लिया! ज्ञान इकट्ठा कर लो तो कहता है, कितना ज्ञान पा लिया! त्याग करो तो कहता है, देखो कितना त्याग कर दिया! ध्यान करो तो कहता है, देखो, कितना ध्यान कर लिया! मेरे जैसा ध्यानी कोई भी नहीं है! आँसू बहाओ तो गिनती कर लेता है, मैंने कितने आँसू बहाए, दूसरों ने कितने बहाए, मेरा नंबर एक है, बाकी नंबर दो हैं!

इस अहंकार की तरकीब के प्रति होश रखना भर जरूरी है, कुछ और करने की जरूरत नहीं है। उसे भी चढ़ा दो परमात्मा को।



भक्त को एक सुविधा है: परमात्मा भी है उसके चरणों में तुम चढ़ा सकते हो। भक्त को एक सुविधा है कि अहंकार के विपरीत वह परमात्मा का सहारा ले सकता है। अद्वैतवादी को वह सुविधा भी नहीं है। वह बिलकुल अकेला है, कोई संगी-साथी नहीं है। भक्त अकेला नहीं है।

इसलिए अगर भक्ति के मार्ग पर भी तुम्हें अड़चन आ रही है तो यह मत सोचना कि अद्वैत का मार्ग तुम्हें आसान होगा; और भी कठिन होगा। इस भूल में मत पड़ना।

अहंकार की एक ही घबड़ाहट है, और वह घबड़ाहट यह है कि कहीं मर न जाऊँ। अहंकार मरेगा ही। वह कोई शाश्वत सत्य नहीं है, वह क्षणभंगुर है। तुम कभी न मरोगे, तुम्हारा अहंकार तो मरेगा ही।

जितनी जल्दी तुम यह बात समझ लो, उतना ही भला है।

'उम्र फानी है तो फिर मौत से डरना कैसा?'

एक बात तो पक्की है कि मौत निश्चित है और जिंदगी आज है कल नहीं होगी–हवा की लहर है, आयी और गयी, सदा टिकने वाली नहीं है!

'उम्र फानी है तो फिर मौत से डरना कैसा<br>इक-न-इक रोज यह हंगामा हुआ रक्खा है।'

किसी भी दिन यह घटना घटने वाली है: मौत होगी ही।

'इक-न-इक रोज यह हंगामा हुआ रक्खा है।'

तो जो होने ही वाला है, उसे स्वीकार कर लो।

लड़ो मत, बहो। यह लड़ाई छोड़ दो कि मैं बचूं। स्वीकार ही कर लो कि मैं नहीं हूँ।

जो मौत करेगी, भक्त उसे आज ही कर लेता है। जो मौत में जबरदस्ती किया जाएगा, भक्त उसे स्वेच्छा से कर लेता है। वह कहता है, 'जो मिटना ही है वह मिट ही गया; आज मिटा, कल मिटा–क्या फर्क पड़ता है! मैं खुद ही उसे छोड़े देता हूँ।'

अपनी मौत को स्वीकार कर लो तो तुम अमृत को उपलब्ध हो जाओगे। इधर तुमने मौत को स्वीकार किया कि उधर तुम पाओगे: तुम्हारे भीतर कोई छिपा है–तुमसे ज्यादा गहरा, तुमसे ज्यादा ऊँचा, तुमसे ज्यादा बड़ा। तुम मिटे कि उस ऊँचाई और गहराई और उस विराट का चलना शुरू हो जाता है।

तुमने तिनके का सहारा ले रखा है। तिनके के सहारे के कारण तुम भी छोटे हो गये हो। तुमने गलत संग पकड़ लिया है। गलत से तादात्म्य हो गया है।

मौत को स्वीकार कर लो!

मौत को स्वीकार करते ही अहंकार नहीं बचता। जैसे ही तुमने सोचा,

समझा कि मौत निश्चित है – होगी ही, आज हो कल हो परसों हो, होगी ही; इससे बचने का कोई उपाय नहीं है; कोई कभी बच नहीं पाया। भाग-भाग के कहाँ जाओगे? भाग-भाग के सभी उसी में पहुँच जाते हैं, मौत के ही मुँह में पहुँच जाते हैं।

अंगीकार कर लो! उस अंगीकार में ही अहंकार मर जाता है।

'मुझे अहसास कम था वर्ना दौरे ज़िंदगानी में
मेरी हर साँस के हमराह मुझमें इंकिलाब आया।'

– मुझे होश कम था, मुझे अहसास कम था, होश कम था, सावधानी नहीं थी, जागरूकता नहीं थी,

'वर्ना दौरे जिंदगानी में...
वर्ना जिंदगी-भर,
'मेरी हर साँस के हमराह मुझमें इंकिलाब आया।'

– हर सांस के साथ क्रांति की संभावना आती थी और मैं चूकता गया। हर साँस के साथ क्रांति घट सकती थी, अहंकार छूट सकता था और परमात्मा के जगत में प्रवेश हो सकता था – लेकिन होश कम था।

इस होश को थोड़ा जगाओ।

वह इंकलाब, वह क्रांति तुम्हारी भी हर श्वास के साथ आती है, तुम चूकते चले जाते हो।

अहंकार को जब तक तुम पकड़े हो, चूकते ही चले जाओगे। जिस दिन छोड़ा अहंकार को उसी क्षण क्रांति घट जाती है।

उसी क्रांति की तलाश है! उस क्रांति के बिना कोई तृप्ति न होगी। उस क्रांति के बिना तुम थरथराते ही रहोगे भय में, घबड़ाते ही रहोगे चिंताओं में, डरते ही रहोगे।

मौत जब तक होने वाली है तब तक कोई निश्चित हो भी कैसे सकता है! अगर तुमने स्वीकार कर लिया तो मौत हो ही गयी, फिर चिंता का कोई कारण नहीं।

इसे थोड़ा करके देखो। यह बात करने की है। यह बात सोचने-भर की नहीं है। इसे करोगे तो ही इसका स्वाद मिलेगा।

चौथा प्रश्न : पृथ्वी पर अभी भी असंख्य मंदिर, मस्जिद, गिरजे और गुरुद्वारे हैं, जहाँ विधिविहित पूजा-प्रार्थना चलती है। क्या आपके देखे, वे सबके सब व्यर्थ ही हैं?

अगर व्यर्थ न होते तो पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आया होता। अगर व्यर्थ न होते



– इतनी पूजा, इतनी प्रार्थना, इतने मंदिर, इतने गिरजे, इतने मस्जिद – अगर वे सब सच होते, अगर ये प्रार्थनाएँ वास्तविक होतीं, हृदय से आविर्भूत होतीं, तो पृथ्वी स्वर्ग बन गयी होती। लेकिन पृथ्वी नरक है। ज़रूर कहीं-न-कहीं चूक हो रही है।

या तो परमात्मा नहीं है, इसलिए प्रार्थनाएँ व्यर्थ जा रही हैं; या प्रार्थनाएँ ठीक नहीं हो रही हैं, और परमात्मा से सम्बंध नहीं जुड़ पा रहा है। बस दो ही विकल्प हैं। अब इसमें तुम चुन लो, जो तुम्हें चुनना हो।

एक विकल्प है कि परमात्मा नहीं है, इसलिए प्रार्थनाएँ कितनी ही करो, क्या होने वाला है! है ही नहीं कोई वहाँ सुनने को, आकाश खाली और कोरा है, चिल्लाओ-चीखो – तुम पागलपन कर रहे हो। यह समय व्यर्थ ही जा रहा है, इसका कुछ उपयोग कर लेते, कुछ काम में आ जाता।

और या फिर, परमात्मा है, प्रार्थना करने वाला प्रार्थना नहीं कर रहा है, धोखा दे रहा है।

मैं दूसरा ही विकल्प स्वीकार करता हूँ। मेरे देखे परमात्मा है, प्रार्थना नहीं है – इसलिए सम्बंध टूट गये हैं, बीच का सेतु गिर गया है।

कुछ लोगों ने तो प्रार्थना भी प्रॉक्सी से करनी शुरू कर दी है : पुजारी कर देता है। हिन्दुओं ने वह तरकीब खोज ली है। वे खुद नहीं जाते। गरीब-गुरबे चले भी जाएँ, पर जिनके पास थोड़ी सुविधा है, वे पुजारी रख लेते हैं। मंदिर में एक व्यवसायी पुजारी है, वह पूजा कर देता है। यह प्रार्थना प्रॉक्सी से है।

यह भी खूब धोखा हुआ! किसको धोखा दे रहे हो? उस पुजारी को प्रार्थना से कुछ लेना-देना नहीं है। उसको सौ रुपये महीने मिलते हैं तनखाह, उसको तनखाह से मतलब है। वह प्रार्थना करता है, क्योंकि सौ रुपये लेने हैं। यह व्यवसाय है। अगर उसे कोई डेढ़ सौ रुपये देने वाला मिल जाए तो इसी भगवान के खिलाफ भी प्रार्थना कर सकता है, कोई अड़चन नहीं है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक सम्राट के घर नौकर था, रसोइये का काम करता था। भिंडी बनाई थीं उसने। सम्राट ने बड़ी प्रशंसा की। उसने कहा कि मालिक, भिंडी तो सम्राट है। जैसे आप सम्राट हैं, शहनशाह हैं, ऐसे ही भिंडी भी शाक-सब्जियों में सम्राट है।

दूसरे दिन भी भिंडी बनायी। तीसरे दिन भी भिंडी बनायी। चौथे दिन सम्राट ने थाली फेंक दी। उसने कहा कि नालायक, रोज़ भिंडी! तो मुल्ला ने कहा, 'मालिक! यह तो जहर है! यह तो गधों को भी खिलाओ, तो न खाएँ।'

सम्राट ने कहा कि नसरुद्दीन, चार दिन पहले तूने कहा था, यह शाक-सब्जियों में सम्राट है। और अब जहर है!

उसने कहा, 'मालिक ! हम आपके नौकर हैं, भिंडी के नहीं। हम तो आपको देख के कहते हैं। जो आप कहते हैं वही हम कहते हैं। हम आपके नौकर हैं। भिंडी से हमें कुछ लेना-देना नहीं है।'

तो उस पुजारी से तुम जो चाहो करवा लो। वह तुम्हारा नौकर है, परमात्मा से कुछ लेना-देना नहीं है।

आदमी बड़ी चालाकियाँ करता है।

तिब्बती लामा एक चाक बना लिये हैं – प्रेयर-ह्वील। उसके आरों पर, स्पोक्स पर मंत्र लिखे हैं। उसको बैठे-बैठे घुमा देते हैं हाथ से। जैसे चरखे का चाक होता है, हाथ से घुमा दिया, वह कोई पचास-सौ चक्कर लगा के रुक जाता है। वे सोचते हैं कि इतने मंत्रों का लाभ हो गया, इतनी बार मंत्र कहने का लाभ हो गया।

एक लामा मुझसे मिलने आया था। मैंने कहा कि तू बिलकुल पागल है ! इसमें प्लग लगा दे और बिजली में जोड़ दे। यह चलता ही रहेगा, तू सो, बैठ, जो तुझे करना हो, कर। यह भी झंझट क्यों कि इसको बार-बार हाथ से घुमाना पड़ता है, तू काम दूसरा करता है। फिर घुमाया, फिर घुमाया ! और जब धोखा ही देना है, तो तूने प्लग लगाया, इसलिए तुझी को लाभ मिलेगा, जैसे चक्कर लगाने से मिलता है। जो प्लग लगायेगा उसको मिलेगा।

हम किसको धोखा दे रहे हैं ?

लोग प्रार्थनाएँ कर रहे हैं, लेकिन प्रार्थनाओं का कोई सम्बंध परमात्मा से है ?

कोई माँग रहा है कि बेटा नहीं है, मिल जाए। कोई माँग रहा है कि धन नहीं है, मिल जाए। कोई माँग रहा है, अदालत में मुकदमा है, जीत जाऊँ।

तुम परमात्मा की सेवा लेने गये हो, परमात्मा की सेवा करने नहीं। तुम परमात्मा को भी अपना नौकर-चाकर बना लेना चाहते हो : तुम्हारा मुकदमा जिताये, तुम्हें बच्चा पैदा करे, तुम्हारे लड़के की शादी करवाए। लेकिन तुम परमात्मा को धन्यवाद देने नहीं गये हो कि तूने जो दिया है वह अपरम्पार है। तुम माँगने गये हो।

जहाँ माँग है वहाँ प्रार्थना नहीं।

इसे तुम कसौटी समझो कि जब भी तुम माँगोगे, तब प्रार्थना झूठी हो गयी। क्योंकि जब तुम धन माँगते हो तो धन परमात्मा से बड़ा हो गया। तुम परमात्मा का उपयोग भी धन पाने के लिए करना चाहते हो।

विवेकानंद के पिता मरे। शाहीदिल आदमी थे। बड़ा कर्ज छोड़ के मरे। घर में तो कुछ भी न था, खाने को भी कुछ छोड़ नहीं गये थे। तो रामकृष्ण ने विवेकानंद को कहा कि तू परेशान मत हो। तू माँ से क्यों नहीं कहता ? मंदिर में जा और कह दे, वे सब पूरा कर देंगी !



वे द्वार पर बैठ गये, विवेकानंद को भीतर भेज दिया। घंटे-भर बाद विवेकानंद लौटे, आँख से आँसू बह रहे हैं, बड़े अहोभाव में ! रामकृष्ण ने कहा, 'कहा ?' विवेकानंद ने कहा, 'अरे ! वह तो मैं भूल ही गया।'

फिर दूसरे दिन भेजा। फिर वही। फिर तीसरे दिन भेजा। विवेकानंद ने कहा, 'यह मुझसे न हो सकेगा। मैं जाता हूँ और जब खड़ा होता हूँ प्रतिमा के समक्ष, तो मेरे दुख-सुख का कोई सवाल ही नहीं रह जाता। मैं ही नहीं रह जाता तो दुख-सुख का सवाल कहाँ ! पेट होगा भूखा, लेकिन मेरा शरीर से ही सम्बंध टूट जाता है। और उस महिमा के सामने क्या छोटी-छोटी बातें करनी हैं ! चार दिन की जिंदगी है, भूखे भी गुजार देंगे। यह शिकायत भी कोई परमात्मा से करने की है ! आप मुझे, परमहंस देव, अब दुबारा न भेजें। क्षमा करें, मैं न जाऊँगा।'

रामकृष्ण हँसने लगे। उन्होंने कहा, 'यह तेरी परीक्षा थी। मैं देखता था कि तू माँगता है या नहीं। अगर माँगता तो मेरे लिए तू व्यर्थ हो गया था। क्योंकि प्रार्थना फिर हो ही नहीं सकती, जहाँ माँग है। तूने नहीं माँगा, बार-बार मैंने तुझे भेजा और तू हार के लौट आया – यह खबर है इस बात की कि तेरे भीतर प्रार्थना का खुलेगा आकाश। तेरे भीतर प्रार्थना का बीज टूटेगा, प्रार्थना का वृक्ष बनेगा। तेरे नीचे हजारों लोग छाया में बैठेंगे।'

माँग रहे हैं लोग – मंदिरों में, मस्जिदों में, गुरुद्वारों में, शिवालयों में – प्रार्थना नहीं हो रही है।

मंदिर-मस्जिद में जाता ही गलत आदमी है। जिसे प्रार्थना करनी हो वह कहीं भी कर लेगा। जिसे प्रार्थना करने का ढंग आ गया, सलीका आ गया, वह जहाँ है वहीं कर लेगा।

यह सारा ही संसार उसका है, उसका ही मंदिर है, उसकी ही मस्जिद है।
हर चट्टान में उसी का द्वार है !
और हर वृक्ष में उसी की खबर है !
कहाँ जाना है और ?
'तेरे कूचे में रह कर मुझको मर मिटना गवारा है
मगर दैरो-हरम की खाक अब छानी नहीं जाती।'

भक्त तो कहता है, अब क्या मंदिर और मस्जिद की खाक छानूँ, तेरी गली में रह के मर जाएँगे, बस पर्याप्त है।

और सभी तो गलियाँ उसकी हैं।

मैं यह नहीं कर रहा हूँ, मंदिर मत जाना। क्योंकि मंदिर भी उसका है, चले गये तो कुछ हर्ज नहीं। लेकिन विशेष रूप से जाने की कोई जरूरत भी नहीं है। क्योंकि जहाँ तुम बैठे हो, वह जगह भी उसी की है। उससे खाली तो कुछ भी नहीं।

यह स्मरण आ जाए तो जब आँख बंद कीं, तभी मंदिर खुल गया;
जब हाथ जोड़े तभी मंदिर खुल गया;
जहाँ सिर झुकाया वहीं उसकी प्रतिमा स्थापित हो गयी !

झेन फकीर इक्कू एक मंदिर में ठहरा था। रात सर्द थी, बड़ी सर्द थी ! तो बुद्ध की तीन प्रतिमाएँ थीं लकड़ी की, उसने एक उठा के जला ली। रात में ताप रहा था आँच, मंदिर का पुजारी जग गया आवाज़ सुन के, और आग और धुआँ देख के। वह भागा हुआ आया। उसने कहा, 'यह क्या किया ?' देखा तो मूर्ति जला डाली है। तो वह तो विश्वास ही न कर सका। यह बौद्ध भिक्षु है और इसी भरोसे इसको ठहर जाने दिया मंदिर में और यह तो बड़ा नासमझ निकला, नास्तिक मालूम होता है। तो बहुत गुस्से में आ गया। उसने कहा, 'तूने बुद्ध की मूर्ति जला डाली है ! भगवान की मूर्ति जला डाली है !'

तो इक्कू बैठा था, राख तो हो गयी थी, मूर्ति तो अब राख ही थी। उसने बड़ी एक लकड़ी उठा के कुरेदना शुरू किया राख को। उस पुजारी ने पूछा, 'अब यह क्या कर रहे हो ?' तो उसने कहा कि मैं भगवान की अस्थियाँ खोजता हूँ। वह पुजारी हँसने लगा। उसने कहा, 'तुम बिलकुल ही पागल हो – लकड़ी की मूर्ति में कहीं अस्थियाँ हैं !'

तो उसने कहा, 'फिर ऐसा करो, अभी दो मूर्तियाँ और हैं, ले आओ। रात बहुत बाकी है और रात बड़ी सर्द है, और भीतर का भगवान बड़ी सर्दी अनुभव कर रहा है।'

पुजारी ने तो उसे निकाल बाहर किया क्योंकि कहीं यह और न जला दे। लेकिन उस सुबह पुजारी ने देखा कि बाहर वह सड़क के किनारे बैठा है और मील का जो पत्थर लगा है, उस पे उसने दो फूल चढ़ा दिये हैं और प्रार्थना में लीन है। तो वह गया और उसने कहा कि पागल हमने बहुत देखे हैं, लेकिन तुम भी गजब के पागल हो ! रात मूर्ति जला दी भगवान की, अब मील के पत्थर की पूजा कर रहे हो ?

उसने कहा, 'जहाँ सिर झुकाया वहीं मूर्ति स्थापित हो जाती है।'

मूर्ति मूर्ति में तो नहीं है, तुम्हारे सिर झुकाने में है। और जिस दिन तुम्हें ठीक-ठीक प्रार्थना की कला आ जाएगी, उस दिन तुम मंदिर-मस्जिद न खोजोगे – उस दिन तुम जहाँ होओगे, वहीं मंदिर-मस्जिद होगा; तुम्हारा मंदिर, तुम्हारी मस्जिद तुम्हारे चारों तरफ चलेगी; वह तुम्हारा प्रभामंडल हो जाएगी।

जहाँ-जहाँ भक्त पैर रखता है, वहीं-वहीं एक काबा और निर्मित हो जाता है। जहाँ भक्त बैठता है, वहाँ तीर्थ बन जाते हैं। तीर्थों में थोड़े ही भगवान मिलता है; जिसको भगवान मिल गया है, उसके चरण जहाँ पड़ जाते हैं वहीं तीर्थ बन जाते हैं। ऐसे ही पुराने तीर्थ भी बने हैं।



काबा के कारण काबा महत्त्वपूर्ण नहीं है, वह मुहम्मद के सिजदा के कारण महत्त्वपूर्ण है, अन्यथा पत्थर था। लेकिन किसी को सिर झुकाना आ गया, इस कारण महत्त्वपूर्ण है।

सारे तीर्थ इसीलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि कभी वहाँ कोई भक्त हुआ, कभी कोई वहाँ मिटा, कभी किसी ने अपने बूँद को वहाँ खोया और सागर को निमंत्रण दिया। वे याददाश्त हैं ! वहाँ जाने से तुम्हें कुछ हो जाएगा, ऐसा नहीं – लेकिन, अगर तुम्हें कुछ हो जाए, तो तुम जहाँ हो वहीं तीर्थ बन जाएगा, ऐसा जरूर है।

पाँचवाँ प्रश्न : लोग पीते हैं लड़खड़ाते हैं
तेरी शरण में बहुत कुछ पाते हैं
एक हम हैं कि तेरी महफिल में
प्यासे आते हैं, प्यासे ही जाते हैं !

फिर प्यास प्यास ही न होगी। फिर अभी प्यास खयाल है, वास्तविक नहीं। अन्यथा कौन रोकता है तुम्हें पीने से ?

अगर सरोवर के पास से तुम प्यासे ही लौट आओ, तो प्यास ही न होगी।

जब प्यास पकड़ती है किसी को तो गंदे डबरे से भी आदमी पी लेता है। प्यास होनी चाहिए ! और जब प्यास नहीं होती है तो स्वच्छ मानसरोवर भी सामने हो तो भी क्या करोगे ?

प्यास की तलाश करो। खोजो। प्यास झूठी होगी।

बहुत लोगों को झूठी प्यास लग आती है। प्यास की चर्चा सुन-सुन के प्यास तो नहीं लगती ; प्यास लगनी चाहिए, ऐसा लोभ भीतर समा जाता है।

तुमने परमात्मा की बहुत बातें सुनीं तो लगता है, परमात्मा मिलना चाहिए। प्यास नहीं है भीतर, लोभ पैदा हुआ।

लोभ से काम न होगा।

तुम लोभ के कारण आते होओगे, तो खाली लौट जाओगे, क्योंकि यहाँ मैं किसी का भी लोभ पूरा करने को नहीं हूँ। यहाँ तो लोभ छोड़ना है, मिटाना है, पूरा नहीं करना है।

तुम्हारी परमात्मा की धारणा झूठी और उधार होगी। तुम्हें जीवन की परिपक्वता से परमात्मा की धारणा पैदा न हुई होगी। तुम अभी कच्चे फल हो।

या तो आओ तो प्यास ले के आओ, अन्यथा आओ ही मत। थोड़ी देर और रुको। कहीं ऐसा न हो कि मेरे शब्द तुम्हें और नया एक धोखा दे दें। प्यास का धोखा तो है ही, कहीं तृप्ति का धोखा और न पैदा हो जाए। वह बड़ा खतरा है। और जिसको प्यास का धोखा है, वह एक-न-एक दिन तृप्ति का धोखा भी कर लेता है।

जब तुम झूठी प्यास को मान लेते हो – किसको कहता हूँ मैं झूठी प्यास ? मेरे पास लोग आते हैं, इतने लोग आते हैं, उनमें से सौ में से निन्नानबे झूठी प्यास के होते हैं।

किसी की पत्नी मर गयी, परमात्मा की खोज पे निकल जाता है; जैसे पत्नी के मरने से परमात्मा की खोज का कोई सम्बंध हो! दूसरी पत्नी खोजता, समझ में आती बात। लेकिन संस्कार, समाज! दूसरी पत्नी नहीं खोजता। खोज रहा है दूसरी ही पत्नी। झुठला रहा है। बिना खोजे नहीं रह सकता, एक खोज पैदा हो रही है भीतर। कामवासना प्रगाढ़ हो रही है, जग रही है – लेकिन संस्कार, समाज, प्रतिष्ठा, बच्चे, परिवार, नाम ... ! खोजना तो है पत्नी को, खोजता है परमात्मा को! अब वह कभी भी परमात्मा को तो पा ही न सकेगा। बुनियाद में खोज ही गलत हो गयी।

किसी का दिवाला निकल गया, परमात्मा की खोज पे चले! दिवाले से परमात्मा का क्या लेना-देना है? तुम परमात्मा को सांत्वना समझ रहे हो? दुख में हो, तो तुम परमात्मा को मरहम समझ रहे हो तो गलत जा रहे हो।

परमात्मा की खोज तो सच्ची तभी होती है जब जीवन का अनुभव तुम्हें कह दे कि जीवन व्यर्थ है। जब पूरा जीवन व्यर्थ मालूम हो, जब इस जीवन की सारी सार्थकता खंडित हो जाए, तुम अचानक जागो जैसे कोई स्वप्न से जाग गया और पाओ कि अब तक जो किया था, वह सब व्यर्थ हुआ, नये से शुरुआत करनी है, नया जन्म हो – तो प्यास पैदा होती है।

ऐसा व्यक्ति जब भी आएगा तो तृप्त हो कर जाएगा।

प्यास ही न लाये होओ तो कैसे तृप्त हो के जाओगे? तृप्ति की पहली शर्त तो पूरी करो। तुम प्यास पूरी बताओ, तुम प्यास पूरी जगाओ, दूसरा काम मैं कर दूंगा। वह करना ही नहीं पड़ता, इसलिए तो इतनी सुविधा से जिम्मेवारी ले रहा हूँ। तुम बस पहला पूरा कर दो, वह दूसरा अपने से पूरा हो जाता है, कुछ करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। तुम्हारी प्यास में ही तुम्हारी तृप्ति का सागर छिपा है। इसलिए तो निश्चित भाव से कहता हूँ कि दूसरा मैं कर दूंगा। इसकी गारंटी कर देता हूँ, क्योंकि उसमें कुछ करना ही नहीं है। मैं रहूँ न रहूँ, कोई फर्क नहीं पड़ता; तुम जब भी प्यासे होओगे, तृप्ति हो जाएगी।

आखिरी प्रश्न : 'इश्क पर ज़ोर नहीं ये वो आतिश 'गालिब'
कि लगाये न लगे और बुझाये न बुझे!
फिर देवर्षि नारद ने प्रेम पर यह शास्त्र क्यों लिखा ?

निश्चित ही प्रेम ऐसी आग है जो न तो तुम लगा सकते हो, न तुम बुझा सकते हो। न लगे तो लगाने का कोई उपाय नहीं है। लग जाए तो बुझाने का कोई उपाय नहीं है।



स्वाभाविक प्रश्न उठता है। अगर प्रेम ऐसी आग है, अगर एक ऐसी घटना है जो अपने से घटती है और तुम्हारे किये कुछ भी नहीं हो सकता – तो फिर शास्त्र का प्रयोजन क्या? फिर भी प्रयोजन है।

ऐसा समझो कि तुम खिड़की-द्वार-दरवाज़े बंद करके अपने अँधेरे घर में बैठे हो, द्वार पर खड़ा है सूरज, किरणें थाप दे रही हैं, लेकिन तुम अपने दरवाज़े बंद किये बैठे हो, तो सूरज भीतर नहीं आ पाएगा। द्वार-दरवाजे खोल दो, सूरज अपने से ही भीतर आता है, उसे लाना नहीं पड़ता। तुम कोई पोटलियों में बाँध के सूरज को भीतर नहीं लाओगे। तुम कोई हाँक के सूरज को भीतर नहीं लाओगे। बुलाने की भी ज़रूरत न पड़ेगी, आमंत्रण भी न देना पड़ेगा। इधर तुमने द्वार खोला कि सूरज भीतर आया। और अगर सूरज बाहर न हो तो सिर्फ तुम्हारे द्वार खुलने से भीतर न आ जाएगा; सूरज होगा तो भीतर आएगा। सूरज न होगा तो तुम कुछ भी न कर सकोगे कि सूरज भीतर आ जाए। तो एक बात तो पक्की है कि सूरज होगा तो ही भीतर आएगा; न होगा तो तुम द्वार-दरवाज़े कितने ही खोलो, इससे कुछ न होगा। लेकिन एक बात है, सूरज बाहर खड़ा हो और तुम द्वार न खोलो तो भीतर न आ सकेगा।

शास्त्र का इतना ही उपयोग है कि तुम्हें द्वार-दरवाजे खोलना सिखा दे।

प्रेम तो जब घटता है घटता है, तुम्हारे घटाये न घटेगा। और तुम्हारे घटाये घट जाए तो वह प्रेम दो कौड़ी का होगा, वह तुमसे नीचा होगा, तुमसे छोटा होगा। तुम्हारा ही कृत्य तुमसे बड़ा नहीं हो सकता। कोई कृत्य कर्ता से बड़ा नहीं हो सकता। उस प्रेम की कोई कीमत नहीं है। वह तो अभिनय होगा ज्यादा-से-ज्यादा।

प्रेम तो अपने से घटेगा। वह घटना है, हैपनिंग। लेकिन अगर तुम द्वार-दरवाज़े बंद किये बैठे हो तो वह द्वार पर ही खड़ा रहेगा, भीतर किरणें न आ सकेंगी।

शास्त्र का उपयोग है कि वह तुम्हें इतना ही बताये कि तुम बाधा न डालो। बाधा हटायी जा सकती है, बस फिर प्रेम तो मौजूद ही है।

भक्ति तो तुम्हें चारों तरफ से घेरे खड़ी है। झरना तो बहने को तत्पर है, एक पत्थर पड़ा है चट्टान की तरह, रुकावट डाल रहा है। चट्टान उठाने से झरना पैदा नहीं होता – झरना होगा तो चट्टान उठाने से बह उठेगा, जलधार आ जाएगी। लेकिन झरना भी हो और चट्टान पड़ी हो, तो जलधार उपलब्ध न होगी।

निषेधात्मक है शास्त्र का उपयोग, निगेटिव है। सभी शास्त्र निषेधात्मक हैं। वे इतना ही बताते हैं कि किस-किस तरह से तुम इंतजाम करो, ताकि बाधा न पड़े। जो होना है, वह तो अपने से होगा।

इसलिए तो भक्त कहते हैं, जब परमात्मा मिलता है तो प्रसाद से मिलता है, हमारे किये नहीं मिलता; लेकिन जब नहीं मिलता तो हमने कुछ किया है जिसके कारण नहीं मिलता।

इसको समझ लेना।

परमात्मा को खोते तुम हो; जब वह मिलता है तो उसके कारण मिलता है। पाप तुम करते हो, पुण्य वह करता है। भूल तुमसे होती है, सुधार उससे होता है। गलत तुम जाते हो, और जब तुम ठीक जाने लगते हो तब वह जाता है, तब तुम नहीं जाते।

यही मतलब है—

'इश्क पर ज़ोर नही ये वो आतिश 'गालिब'
कि लगाये न लगे और बुझाये न बुझे!'

इश्क पर कोई ज़ोर नहीं है, लेकिन चट्टानें-पत्थर इकट्ठा करना बड़ा आसान है। तुम अपने चारों तरफ अवरोध खड़े कर सकते हो कि प्रेम आ ही न सके।

यही तुमने किया है। तुमने परमात्मा के लिए रंध्र-रंध्र भी बंद कर दिये हैं, कहीं से उसकी एक किरण भी तुम्हारे भीतर प्रविष्ट न हो जाए! तुम सब तरफ से परमात्मा-प्रूफ हो!

उतना ही शास्त्र का प्रयोजन है कि तुम अपने दीवाल-दरवाजे हटा दो।

परमात्मा तुम्हारा जन्म-सिद्ध अधिकार है, स्वरूप-सिद्ध अधिकार है। गँवाया है तो तुमने अपनी होशियारी से—पाओगे, इस होशियारी को छोड़ देने से।

इसलिए सारा सूत्र नकारात्मक है।

किसी चिकित्सक से पूछो, 'चिकित्सा-शास्त्र क्या है?' तो वह कहेगा, 'बीमारी का इलाज।' उससे तुम पूछो तो हज़ारों बीमारियों की व्याख्या कर देगा, लेकिन अगर स्वास्थ्य की व्याख्या पूछो तो न कर पाएगा।

स्वास्थ्य की कोई व्याख्या ही नहीं है। स्वास्थ्य तो जब होता है तब होता है—अव्याख्य है।

फिर चिकित्सक क्या करता है? वह केवल बीमारी का अवरोध हटाता है।

तुम्हें टी. बी. पकड़ जाए तो चिकित्सक स्वास्थ्य थोड़े ही लाता है—उसकी किसी दवा की गोली में स्वास्थ्य नहीं छिपा है—सिर्फ टी. बी. को अलग करता है। टी. बी. अलग हो जाए तो स्वास्थ्य तो अपने से घटता है।

स्वास्थ्य तो तुम्हारा स्वभाव है। इसलिए तो उसे हम 'स्वास्थ्य' कहते हैं! वह 'स्व' का भाग है। वह तुम्हारी स्वयं की सत्ता है।

'स्व' में स्थित हो जाना स्वास्थ्य की परिभाषा है।

बीमारी तुम्हें अपने से बाहर खींच रही है कहीं। चिकित्सक तुम्हें बीमारी



से छुड़ा देता है, बस। स्वास्थ्य कोई चिकित्सक नहीं दे सकता—स्वास्थ्य तो तुम लेकर ही आये हो।

ठीक शास्त्र का यही उपयोग है कि बीमारी से छुड़ा दे।

प्रेम तो अपने से घटता है।

भक्ति तो अपने से आती है।

परमात्मा अपने से उतरता है।

लेकिन कोई अवरोध न रह जाए...।

तुम एक बीज बोते हो बगीचे में... बीज बोओ और उसके ऊपर एक पत्थर रख दो; बीज में संभावना थी, वह संभावना तुम नहीं ला सकते, वह संभावना थी ही; बीज फूटता अपने से; तुम जल दे सकते थे, सहारा बन सकते थे, तुम पत्थर हटा सकते थे, अवरोध अलग कर सकते थे: बीज वृक्ष बनता, फूल आते, फल लगते, छाया होती, सौंदर्य का जन्म होता—वह सब अपने से होता।

तुम कोई बीज से वृक्ष को खींच नहीं सकते। तुम कोई जबरदस्ती फूलों को खिला नहीं सकते। तुम जबरदस्ती वृक्ष से फलों को निकाल नहीं सकते। लेकिन तुम चाहो तो रोक सकते हो।

मनुष्य की सामर्थ्य इतनी ही है कि वह जो हो सकता है, उसे रोक सकता है; जो होना चाहिए, उसे कर नहीं सकता।

मनुष्य भटक सकता है—यह उसकी सामर्थ्य है; बीमार हो सकता है—यह उसकी सामर्थ्य है; अंधकार में रह सकता है—यह उसकी सामर्थ्य है। गलत होने की सामर्थ्य मनुष्य में है। ठीक: बस वह गलत होने की सामर्थ्य को छोड़ दे कि ठीक अपने से हो जाता है।

ठीक होना प्रकृतिदत्त, स्वाभाविक है; गलत होना चेष्टा से है।

प्रयत्न से हम पाप करते हैं; जो निष्प्रयत्न होता है, वह पुण्य है।

प्रयास से हम संसार बनाते हैं; जो बिना प्रयास के, प्रसाद से मिलता है, वही परमात्मा है।

आज इतना ही।

## सातवाँ प्रवचन

दिनांक १७ जनवरी, १९७६; श्री रजनीश आश्रम पूना

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥ २५ ॥

फलरूपत्वात् ॥ २६ ॥

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च ॥ २७ ॥

तस्या ज्ञानमेव साधन मित्येके ॥ २८ ॥

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

स्वयं फलरूपतेति ब्रम्हकुमाराः ॥ ३० ॥

राजगृह भोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ ३१ ॥

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥ ३२ ॥

तस्मात्सैव ग्राहया मुमुक्षुभिः ॥ ३३ ॥

# योग और भोग का संगीत है भक्ति

भक्ति का सार-सूत्र है : प्रसाद।

ज्ञान, कर्म, योग, उन सबका सार-सूत्र है : प्रयास।

ज्ञान, कर्म, योग मनुष्य की चेष्टा पर निर्भर हैं; भक्ति परमात्मा के प्रसाद पर। स्वाभावतः भक्ति अतुलनीय है। न कर्म छू सकता उस ऊँचाई को, न ज्ञान, न योग।

मनुष्य का प्रयास ऊँचा भी जाए तो कितना? मनुष्य करेगा भी तो कितना? मनुष्य का किया हुआ मनुष्य से बड़ा नहीं हो सकता। मनुष्य जो भी करेगा, उस पर मनुष्य की छाप रहेगी। मनुष्य जो भी करेगा उस पर मनुष्य की सीमा का बंधन रहेगा।

भक्ति मनुष्य में भरोसा नहीं करती; भक्ति परमात्मा में भरोसा करती है।

एक बहुत अनूठा भक्त हुआ : बायजीद बिस्तामी। कहा है, उसने तीस साल तक निरंतर परमात्मा को खोजने के बाद, एक दिन सोचा तो दिखायी पड़ा : 'मेरे खोजे वह कैसे मिलेगा, जब तक वही मुझे न खोजता हो?' तब खोज छोड़ दी, और खोज छोड़ कर ही उसे पा लिया।

तीस साल या तीस जन्मों की खोज से भी उसे पाया नहीं जा सकता, क्योंकि खोजेंगे तो हम – अंधे, अंधकार में डूबे, पापग्रस्त, सीमा में बँधे ! भूल-चूकों का ढेर हैं हम। हम ही तो खोजेंगे उसे ! रोशनी कहाँ है हमारे पास खोजने को ? हमारे पास हाथ कहाँ जो उसे टटोलें ? कहाँ से लाएँ हम वह दिल जो उसे पहचाने ?

खोजी एक दिन पाता है कि नहीं, मेरे खोजे तू न मिलेगा, जब तक कि तू ही मुझे न खोजता हो।

और बायजीद ने कहा है : जब उसे पा लिया तो जाना कि यह भी मेरी भ्रांति थी कि मैं उसे खोज रहा था। वही मुझे खोज रहा था।

जब तक परमात्मा ने ही तुम्हें खोजना शुरू न कर दिया हो, तुम्हारे मन में उसे खोजने की बात ही न उठेगी। यह बात बड़ी विरोधाभासी लगेगी, लेकिन बड़ा गहन सत्य है।

परमात्मा को केवल वे ही लोग खोजने निकलते हैं जिनको परमात्मा ने खोजना शुरू कर दिया। जो उसके द्वारा चुन ही लिये गये हैं, वे ही केवल उसे चुनते हैं। जो किसी भाँति उनके हृदय में आ ही गया है, वे ही उसकी प्रार्थना में तत्पर होते हैं।

तुम्हारे भीतर से वही उसको खोजता है। सारा खेल उसका है। तुम जहाँ भी इस खेल में कर्ता बन जाते हो, वहीं बाधा खड़ी हो जाती है, वहीं दरवाजे बंद हो जाते हैं।

तुम खाली रहो, उसे ही खोजने दो तुम्हारे भीतर से, तो तत्क्षण इस क्षण भी उस महा क्रान्ति का आविर्भाव हो सकता है।

भक्ति को समझने में, इस बात को जितना गहराई से समझ लो, उतना उपयोगी होगा : भक्ति परमात्मा की खोज नहीं है; भक्ति परमात्मा के द्वारा मनुष्य की खोज है।

मनुष्य हार कर समर्पण कर देता है, थक कर समर्पण कर देता है, पराजित हो के झुक जाता है – कहता है : 'अब तू ही उठा तो उठा! अब तू ही सम्हाल तो सम्हाल! अब अपने से सम्हाला नहीं जाता! जो मैं कर सकता था, किया; जो मैं हो सकता था, हुआ – लेकिन मेरे किये कुछ भी नहीं हो पाता! मेरा किया सब अनकिया हो जाता है। जितना सम्हालता हूँ उतना ही गिरता हूँ। जितनी कोशिश करता हूँ कि ठीक राह पर आ जाऊँ, उतना ही भटकता हूँ। अब तू ही चला! जन्म तेरा है, जीवन तेरा है, मौत तेरी – प्रार्थना मेरी कैसे होगी ?'

पहला सूत्र है आज : 'वह भक्ति, वह प्रेमरूपा भक्ति, कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठतर है।'

श्रेष्ठता यही है कि वह अनंत के द्वारा तुम्हारी खोज है।

गंगा सागर की तरफ जाती है, तो ज्ञान, तो योग, तो कर्म : जब सागर गंगा की तरफ आता है, तो भक्ति।

भक्ति ऐसे है जैसे छोटा बच्चा पुकारता है, रोता है, और माँ दौड़ी चली आती है।

भक्ति बस तुम्हारा रुदन है!

तुम्हारे हृदय से उठी आह है!

भक्ति तुम्हारी जीवन की सारी खोज की व्यर्थता का निवेदन है।

भक्ति तुम्हारे आँसुओं की अभिव्यक्ति है। तुम कहीं जाते नहीं, तुम जहाँ हो वहीं ठिठक के रह जाते हो। एक सत्य तुम्हारी समझ में आ जाता है कि तुम ही बस गलत हो; तुम गलत करते हो, ऐसा नहीं।

कर्मयोग कहता है : तुम गलत करते हो, ठीक करो तो पहुँच जाओगे।



ज्ञानयोग कहता है : तुम गलत जानते हो, ठीक जान लो, पहुँच जाओगे।

योगशास्त्र कहता है : तुम्हें विधियाँ पता नहीं हैं, मार्ग पता नहीं है, विधियाँ सीख लो, मार्ग सीख लो, तकनीक की बात है, पहुँच जाओगे।

भक्ति कहती है : तुम ही गलत हो। न ज्ञान से पहुँचोगे, न कर्म से पहुँचोगे, न योग से पहुँचोगे। तुम तुमसे छूट जाओ, तो पहुँचना हो जाएगा। तुम न बचो तो पहुँचना हो जाएगा।

पहले तुम अज्ञान में थे, फिर तुम ज्ञान में भी रहोगे – फर्क बहुत न पड़ेगा। फर्क तो पड़ेगा, बहुत न पड़ेगा। फर्क ऐसा ही होगा कि जंजीरें लोहे की थीं, उन पे तुम सोना मढ़ लोगे! कारागृह कुरूप था, दुर्गंधयुक्त था, तुम सुगंधें छिड़क लोगे, रंग-रोगन कर लोगे, कारागृह को सजा लोगे!

अज्ञानी का अहंकार अज्ञान से भरा होगा, ज्ञानी का अहंकार ज्ञान से भर जाएगा – अहंकार थोड़े ही मिटेगा! और कई बार ऐसा हो जाता है कि अज्ञानी तो पहुँच जाते हैं, ज्ञानी भटक जाते हैं। क्योंकि अज्ञानी कम-से-कम अपनी निरीहता को तो अनुभव कर सकता है। इस अनुभव में कि मैं अज्ञानी हूँ, अहंकार के गिरने की संभावना है। लेकिन इस अनुभव में कि मैंने जान लिया, फिर तो अहंकार को पत्थरों की बुनियाद मिल गयी।

अज्ञानी का अहंकार रेत पर खड़ा हुआ भवन है, कभी भी गिर जाएगा; ज़िंदगी में बड़ी आँधियाँ हैं, कोई भी आँधी उखाड़ देगी। ज्ञानी का भवन चट्टानों पे खड़ा है, आँधियों से टक्कर लेगा; आँधियाँ आएँगी, हार कर चली जाएँगी, भवन अपनी जगह खड़ा रहेगा।

जिसने गलत किया है, जो पापी है, वह तो कभी रोता भी है अपने पाप के अंधकार में पड़ा हुआ, कभी कराहता भी है, कभी एक गहन पीड़ा उठती है मन में कि यह मैं क्या कर रहा हूँ, कभी अपने किये पे पछताता भी है – लेकिन जिसने पुण्य किया है, जिसने भले कर्म किये हैं, मंदिर बनवाये हैं, मस्जिदें बनवायी हैं, धर्मशालाएँ खड़ी की हैं, लोगों की सेवा की है, अस्पताल खोले हैं, वह तो कभी पछताता भी नहीं।

और तुम जब तक पछताओगे न, कैसे परमात्मा तुम में उतर पाएगा ?

जिसने पुण्य किया है, वह तो अकड़ के चलता है; वह तो परमात्मा पर दावेदार है; वह तो यह कहता है, 'अभी तक मिले क्यों नहीं ? अब और क्या चाहते हो ? सब तो किया।'

पुण्यात्मा के मन में शिकायत होगी, पश्चाताप नहीं। वह कहेगा, 'अन्याय हो रहा है। अब और क्या चाहिए ? अब और क्या माँगते हो ? यह क्या जबर-दस्ती है ? सब तो किया, जो शास्त्रों ने कहा, जो नीतिविदों ने बताया। कोई

पाप नहीं किया, कोई चोरी नहीं की, कोई बेईमानी नहीं की, सब व्रतों का पालन किया – अब और क्या चाहिए ? '

ज्ञानी में तो अकड़ होगी। पुण्यात्मा में अकड़ होगी। अकड़ होगी कि सब किया, अब मिलना चाहिए। क्योंकि ज्ञानी सोचता है, ज्ञान का फल है परमात्मा। पुण्यात्मा सोचता है, पुण्य का फल है परमात्मा, शुभ कर्म का फल है परमात्मा। योगी कहता है, ' कितने आसन किये, जीवन लगा दिया, प्राणायाम, आसन, प्रत्याहार, सब तरह से शरीर को शुद्ध किया ! पत्थर की मूर्ति की तरह बैठ कर कितने लम्बे दिनों तक ध्यान किया ! अब और क्या चाहिए ? '

जिसने कुछ किया है, वह हमेशा शिकायत से भरा होगा; पश्चाताप कहाँ ! पश्चाताप किस बात का !

जीसस जगह-जगह अपने भक्तों को कहते हैं : ' रिपेंट ! पश्चाताप करो ! परमात्मा का राज्य बिलकुल करीब है। '

पश्चाताप करो !

लेकिन जिसने बुरा नहीं किया वह पश्चाताप कैसे करे ? जिसने योग साधा, वह पश्चाताप क्यों करें ? जिसने पुण्य किया, पश्चाताप की जगह कहाँ बची ? जब पुण्य ही कर लिया, तो पश्चाताप क्या अर्थ रखता है ? पश्चाताप तो पापी के लिए है, अज्ञानी के लिए है, अयोगी के लिए है, योगी के लिए है, योगी के लिए तो नहीं है !

लेकिन जब तक तुम पश्चाताप न करो, परमात्मा नहीं। तो फिर पश्चाताप का क्या अर्थ हुआ ? पश्चाताप का एक ही अर्थ है कि अब तक में कर्ता था, यही पश्चाताप है। इसका पश्चाताप करता हूँ कि अब तक मैंने सोचा कि में कर्ता हूँ। कर्ता तू है। यहीं बुनियादी भूल हो गयी। कभी सोचा, पाप किया; कभी सोचा, पुण्य किया – लेकिन कर्ता मैं ही रहा; अहंकार मेरा ही सजा; सँवारा मैंने अपने ही अहंकार को; मंदिर तेरे बनाये, लेकिन प्रतिमा मैंने अपनी ही स्थापित की; झुका तेरी प्रतिमा के सामने, लेकिन वह प्रतिमा मेरे ही हाथ का निर्माण थी !

तुम फिर से गौर से मंदिरों में जा के देखना, जिन प्रतिमाओं के सामने तुम झुके हो, वहाँ प्रतिमाएँ हैं या दर्पण हैं ? दर्पण में अपनी ही तस्वीर देख के तुम झुकते हो।

इसलिए हिन्दू वहाँ झुकता है जहाँ हिन्दू की प्रतिमा है, क्योंकि जब तक हिन्दू की तस्वीर न दिखायी पड़े, वह झुकेगा नहीं। ईसाई वहाँ झुकता है जहाँ ईसाई की प्रतिमा है।

कथा है कि तुलसीदास कृष्ण के मंदिर में गये तो झुके नहीं, क्योंकि राम का भक्त और कृष्ण के मंदिर में झुक जाए ! कहा कि मैं न झुकूँगा, जब तक धनुष-बाण हाथ में ले के खड़े न होओ।



तुम परमात्मा के सामने झुकते हो या अपनी धारणाओं के सामने ? इसका तो यह अर्थ हुआ कि पहले परमात्मा झुके, धनुष-बाण हाथ ले, तुम्हारी माने, फिर तुम झुकोगे ! तो तुम अपनी मान्यता के सामने झुकते हो।

तुम कभी किसी परमात्मा के सामने झुके हो ?

जब तक ' तुम ' हो, झुक ही न सकोगे। तुम्हारा होना ही तो झुकना न होने देगा।

पश्चाताप किस बात का ?

पश्चाताप इस बात का कि अब तक मैंने कहा, ' मैं हूँ '; आज कहता हूँ, ' नहीं, मैं नहीं हूँ, तू ही है ! ' अब तक मैंने प्रयास किये तुझे पाने के और मेरे प्रयासों से मैं तुझे नहीं पा सका। मेरे प्रयासों से ज्ञान मिल गया होगा, पुण्य मिल गया होगा, चरित्र मिल गया होगा – लेकिन तू नहीं मिला। '

प्रयास से मिलता ही नहीं। प्रयास से मिल जाए, वह भी कोई परमात्मा है ? क्योंकि तुम्हारे प्रयास से जो मिलेगा, वह तुम्हारे प्रयास से छोटा होगा। प्रसाद से मिलता है !

इसलिए नारद अनूठी बात कहते हैं, बड़ी गहरी बात कहते हैं : ' कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठतर है वह प्रेमरूपा भक्ति। '

कोई भक्ति का मुकाबला नहीं है। भक्ति कोई करने की बात नहीं है। शब्द से भ्रांति होती है, ' भक्ति ' से भी लगता है कि कुछ करना पड़ेगा, भक्ति में क्रिया है, कुछ करना; जैसे योग में कुछ करना, कर्म में कुछ करना, ज्ञान में कुछ करना, भक्ति में भी कुछ करना पड़ेगा। वहीं भूल हो जाती है।

भक्ति तो इस बात का अनुभव है कि मेरे किये कुछ होता ही नहीं। भक्ति तो अपने कृत्य की व्यर्थता का बोध है, पश्चाताप है। उस पश्चाताप में ही तुम गिर जाते हो, झुक जाते हो। ध्यान रखना, मैं नहीं कहता हूँ कि तुम झुकते हो – झुक जाते हो।

क्या करोगे ? कैसे खड़े रहोगे ? जब सब किया अनकिया सिद्ध होता है, जब अपने पैर जहाँ भी ले जाते हैं, वहीं संसार मिलता है, और जब अपनी आँख जो भी दिखाती है वही पदार्थ सिद्ध होता है, और जिसकी भी तुम प्रार्थना करते हो वही प्रार्थना अखीर में कामना सिद्ध होती है, वासना सिद्ध होती है, तो फिर क्या करोगे ? ठहर जाते हो ! खड़े होने की भी जगह नहीं रह जाती। खड़े होने का बल भी नहीं रह जाता। गिर जाते हो !

अगर अपनी तरफ से गिरे, तो यह भी योग हुआ। अगर पाया कि गिर रहे हो, जैसे गिरना घट रहा है, झुकना घट रहा है, तो भक्ति हुई।

भाषा के साथ अड़चन है, भक्ति भी कर्म बन जाती है।

भक्ति कर्म नहीं है। इसलिए भक्ति की परम श्रेष्ठता है।

'क्योंकि भक्ति फलरूपा है।'

इसे समझें। यह बड़ा वैज्ञानिक सूत्र है।

पानी को भाप बनाना हो तो आँच पर रखो। कारण मौजूद कर दो, कार्य घटेगा। जब सौ डिग्री गरमी हो जाएगी, पानी भाप बनने लगेगा। पानी यह नहीं कह सकता कि आज भाप बनने की मंशा नहीं है, कि आज थोड़ी सर्दी ज्यादा है आज नहीं बनते, या आज मन उदास है या कुछ...। पानी कुछ कर नहीं सकता।

कारण उपस्थित हो गया तो कार्य होगा।

बीज बो दो, अंकुर निकलेंगे।

ज्ञान, कर्म और योग की मान्यता यह है कि परमात्मा भी ऐसे ही मिलता है; कारण मौजूद कर दो, कार्य हो के रहेगा।

योगी कहता है, इतने नियम पालन कर लो, यह अष्टांग योग हैं, ये आठ अंग हैं, ये पूरे कर लो – परमात्मा को मिलना ही पड़ेगा; जैसे सौ डिग्री पे पानी गरम होता है, ऐसे अष्टांग योग पूरा होने पर परमात्मा मिलता है।

कर्मयोगी कहता है, इतने-इतने पुण्य कर लो; पाँच महाव्रत हैं, इनका पालन कर लो : अहिंसा है, अचौर्य है, अस्तेय है, अपरिग्रह है, सत्य है, इनका पालन कर लो! अगर पालन पूरा हो गया तो परमात्मा वैसे ही आ जाएगा जैसे बीज बोया, पानी डाला, धूप-रोशनी दी, अंकुर निकल आया। तो परमात्मा फल है और तुम्हारा कृत्य –ज्ञान, कर्म, योग –बीज है। तुम जो करते हो वह कारण है और परमात्मा कार्य है।

भक्त ऐसा नहीं देखते। भक्त कहते हैं, तुम कुछ भी करो, परमात्मा परम स्वतंत्रता है, तुम्हारे कृत्य से बँधा हुआ नहीं है। तुम्हारे अष्टांग योग के पूरे हो जाने से नहीं आ जाएगा। और अगर तुमने अष्टांग योग पर ही भरोसा किया तो तुम अकड़े बैठे रह जाओगे, परमात्मा से कोई सम्बंध न हो पाएगा।

परमात्मा कार्य-कारण जगत का हिस्सा नहीं है।

परमात्मा का अर्थ है : 'समग्र'। और सब चीज़ों के कारण हैं, 'समग्र' का कोई कारण नहीं हो सकता। और सब चीज़ों के आधार हैं, समग्र का कोई आधार नहीं है, समग्र निराधार है।

बीज से वृक्ष होता है। वृक्ष में फिर बीज लग जाते हैं। फिर बीजों में वृक्ष आ जाते हैं। सारा जगत श्रृंखला है – कार्य-कारण, कारण-कार्य – बँधा हुआ चलता जाता है। इस सारी श्रृंखला का कोई कारण नहीं है। इस सारी श्रृंखला के समस्त रूप का नाम परमात्मा है।

तुम पृथ्वी पे टिके हो, पृथ्वी सूरज के आकर्षण पे टिकी है, सूरज किसी



और महासूर्य के आकर्षण पे टिका होगा – लेकिन सारा अस्तित्व कहाँ टिका है? सारा अस्तित्व कहीं भी नहीं टिक सकता, क्योंकि इसके बाहर कुछ भी नहीं है जिस पे टिक जाए। तो सारा अस्तित्व तो निराधार है।

तुम एक माँ और पिता के बीजों के मिलने से पैदा हुए। वे भी किन्हीं के बीजों के मिलने से पैदा हुए। और उनके माता-पिता भी इसी तरह...। लेकिन परमात्मा का कोई पिता नहीं है। 'समग्र' के बाहर कुछ भी नहीं है; सब कुछ उसके भीतर है।

तो भक्त कहते हैं, परमात्मा को पाने की यह बात ठीक नहीं। यह तुम संसार को पाने के ढंग का ही उपाय परमात्मा के लिए कर रहे हो।

तो भक्ति बीजरूपा नहीं है, फलरूपा है। भक्ति कोई कारण नहीं है, कार्य है। भक्ति प्रारम्भ नहीं है, अंत है – फलरूपा है। तुम्हें कुछ करना नहीं है – फल तुम्हें मिलता है। तुम्हारे करने से फल पैदा नहीं होता – प्रसादरूप होता है। तुम जब तैयार होते हो, अभीप्सा से भरे होते हो, धैर्य से तुम्हारे प्राण आकाश की तरफ देखते होते हैं, और तुम्हारी असहाय अवस्था पूर्ण हो गयी होती है, तुम बिलकुल खाली होते हो – तुम्हारे खालीपन में भक्ति उतरती है, भगवान उतरता है।

ध्यान रखना : भक्त यह कहता है कि वह तुम्हारे किसी कारण से नहीं उतरता; वह अपनी अनुकंपा से उतरता है; वह अपने प्रसाद से उतरता है; वह उतरना चाहता था, इसलिए उतरता है। इसलिए भक्त शिकायत नहीं कर सकता। न उतरे तो भक्त यह नहीं कह सकता कि 'मैंने सारी व्यवस्था पूरी कर दी है, तुम आये क्यों नहीं?' दावा नहीं कर सकता। कभी ऐसी घड़ी भक्त के जीवन में नहीं आती जब वह यह कह दे कि मेरी कोई शिकायत है। शिकायत का तो अर्थ यह हुआ कि 'मैंने सौ डिग्री पानी गरम कर दिया है, पानी भाप क्यों नहीं बन रहा है? मैंने अपनी तरफ से सब पूरा कर दिया, अब अन्याय हो रहा है!'

इसे थोड़ा खयाल में लेना।

जिन लोगों ने कर्म, ज्ञान और योग पर बहुत जोर दिया, धीरे-धीरे उन्होंने परमात्मा की बात ही छोड़ दी, क्योंकि कोई जरूरत ही नहीं रह जाती। महावीर कर्म का भरोसा करते हैं, तो परमात्मा को इनकार कर दिया : 'कोई जरूरत नहीं है, क्या जरूरत है? सौ डिग्री पे जब पानी गरम होता है तो पानी भाप बनता है, इसमें किसी परमात्मा को बीच में लेने की ज़रूरत क्या है? प्रसाद का सवाल कहाँ है? तुम कार्य पूरा कर दो, परिणाम आ जाएगा। तुम बीज बो दो, फल लग जाएँगे। परमात्मा को बीच में लेने की जगह कहाँ है? किसी परमात्मा की कोई जरूरत नहीं है।'

पतंजलि ने परमात्मा को भी एक साधन बना लिया, साध्य नहीं।

ज्ञानियों ने, योगियों ने, पुण्यकर्ताओं ने परमात्मा को छोड़ ही दिया, ज़रूरत ही न मालूम पड़ी। वह परिकल्पना व्यर्थ है। उसके बिना ही हो जाता है। हम से ही हो जाता है, उसकी कोई ज़रूरत नहीं है।

भक्ति का शास्त्र कहता है : हम से कुछ भी नहीं होता; हम ही बाधा हैं। जहाँ हम खो जाते हैं, वहीं होना शुरू होता है।

'वह भक्ति फलरूपा है।'

बीज नहीं है उसका कोई जो तुम बो दो। कोई कारण नहीं है जो तुम तैयार कर लो, प्रयास कर लो, प्रयत्न कर लो। नहीं, तुम्हारे हाथ में कोई उपाय नहीं है कि तुम उसे खींच लो। तुम्हारा निरुपाय हो जाना ही, तुम्हारा असहाय हो जाना ही, तुम्हारा पछताना, तुम्हारा छाती पीट के रोना, तुम्हारा आँसुओं में जार-जार बह जाना, तुम्हें एक प्रतीति हो जाए कि मैं ही अब तक उपद्रव का कारण था, मेरे प्रयास ही अब तक उपद्रव के कारण थे – फिर फल, फल ही उपलब्ध होता है।

ज्ञान साधन है; भक्ति साध्य है।

ज्ञान मार्ग है; भक्ति मंजिल है।

ज्ञानी को चलना पड़ता है, योगी को चलना पड़ता है; भक्त सिर्फ पहुँचता है, चलता नहीं।

भक्त सबसे बड़ा चमत्कार है।

इसलिए अगर महावीर को समझना हो, कोई अड़चन नहीं है। महावीर को समझना हो तो वैज्ञानिक व्यवस्था है। पतंजलि को समझना हो तो कोई दुर्बोध बात नहीं है, दुर्गम बात नहीं है, सीधा-साधा गणित है। लेकिन मीरा बेबूझ है। चैतन्य को पकड़ पाना सम्भव नहीं है। भक्त की कोई कथा साफ नहीं हो पाती।

तुम योगी से पूछ सकते हो, 'तुमने क्या किया? कैसे परमात्मा पाया?' तो वह अपनी कथा बता सकता है : 'यह-यह मैंने किया। इतने उपवास किये। इतना प्राणायाम किया। इस तरह अष्टांग योग साधे। इस तरह समाधि तक पहुँचा।' एक-एक कदम साफ है। सीढ़ी-दर-सीढ़ी उसकी यात्रा है। उसके रास्ते पर मील के पत्थर लगे हैं। रास्ता है। वह कुछ कह सकता है।

मीरा से पूछो, 'कैसे पाया,' मीरा ठिठकी खड़ी रह जाएगी। वह कहेगी, 'मैंने पाया, यह बात ही ठीक नहीं है – मिला।'

पाने वाले की कोई कथा नहीं है। पाने वाला शून्य है। सारी कथा परमात्मा की है। सब कथा भगवत्कथा है। भक्त की कोई कथा नहीं है।

भक्त बेबूझ है।

अगर मीरा और महावीर सामने खड़े हों तो महावीर से तो तुम राज़ी हो



जाओगे – तुम कहोगे, 'इन्होंने इतना किया, फिर आया। समझ में आता है। मीरा ने क्या किया? कौन-सी साधना की मीरा ने? कौन-से साधन किये? कौन-सा योग किया? कुछ भी तो नहीं किया।'

... अचानक पुच्छल तारे की तरह प्रगट होती है! अनायास! अकारण! फलरूपा है। एक दिन तक पता नहीं था, एक दिन अचानक उसका नृत्य शुरू हो जाता है, उसके घूँघर बज उठते हैं। एक क्षण पहले तक किसी को खबर न थी, घर के लोगों को भी खबर न थी, पति को भी खबर न थी।

इसलिए भक्त पागल लगता है, क्योंकि गणित में बैठता नहीं।

... अनायास है, अकारण है! एक दिन अचानक मीरा नाच उठी! किसी ने न जाना, कैसे यह नाच पैदा हुआ! इस नाच के पीछे कोई कार्य-कारण की श्रृंखला नहीं है। यह पुच्छल तारे की तरह प्रगट होता है। इसकी कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती और अतीत में लौट कर इसका कोई निर्वचन नहीं हो सकता – समय की धारा में, समय के बाहर से कोई उतरता है! फलरूपा है!

तुम वृक्ष के नीचे विश्राम करते थे और फल गिर गया तुम्हारे ऊपर; न तुमने बीज बोये थे, न तुमने वृक्ष सँभाला था, न तुम्हें पता है कि वृक्ष है – तुम्हें बस फल मिल गया!

एक दिन मीरा नाच उठती है! इस नाच के आगे-पीछे कोई हिसाब नहीं है। इसलिए मीरा को समझना बिलकुल ही कठिन हो जाता है। समझ के लिए कार्य-कारण की श्रृंखला का पता होना चाहिए।

महावीर ने बारह वर्ष तपश्चर्या की। बुद्ध ने छह वर्ष तपश्चर्या की और जन्मों-जन्मों तक खोज की। मीरा ने क्या किया?

नारद का यह सूत्र बड़ा अद्‌भुत है : 'भक्ति फलरूपा है।'

साधन नहीं है भक्ति, साध्य है। यहाँ मार्ग है ही नहीं, बस मंजिल है। आँख खुलने की बात है।

'लायी हयात आये, कज़ा ले चली चले
अपनी खुशी से आये न अपनी खुशी चले।'

जिसको यह समझ में आ गया कि लाया परमात्मा, आये; ले चला, चले; श्वास चलायीं, चलीं; श्वास रोकीं, रुक गयीं।

'न अपनी खुशी से आये न अपनी खुशी चले!'

जिसने ऐसा अनुभव कर लिया ... और तुम ज़रा गौर से देखो तो अनुभव करने में देर न लगेगी। किसी ने पूछा था तुमसे जन्म के पहले कि जन्म लेना चाहते हो?

'लायी हयात आये ...!'

किसी ने पूछा था, कहाँ जन्म लेना चाहते हो? स्त्री होना चाहते हो, पुरुष? गोरे होना चाहते हो, काले? हिन्दू होना चाहते हो, ईसाई? किसी ने तो न पूछा था। अकारण हो तुम। तुम्हारे होने के पीछे तुम्हारी मंशा तो नहीं है, तुम्हारी आकांक्षा तो नहीं है। श्वास चलती है जब तक चलती है; जिस दिन नहीं चलेगी, क्या करोगे तुम? गयी श्वास बाहर और न लौटी तो क्या करोगे तुम? गयी तो गयी!

'लायी हयात आये, कज़ा ले चली चले
अपनी खुशी से आये न अपनी खुशी चले।'

ऐसा जिस दिन तुम्हें जीवन का सार दिखायी पड़ जाएगा, उस दिन भक्ति की शुरुआत हुई; उस दिन तुम करीब आने लगे प्रसाद के। और जिस दिन ऐसा अनुभव तुम्हें हो जाएगा कि तुम नहीं हो, कोई और हाथ तुम्हें लाया, कोई और हाथ ने तुम्हें चलाया, कोई और ही सारी कथा को सम्हाले हुए है — उस दिन क्या बोझ, कैसी चिंता!

'मुझे सहल हो गयीं मंजिलें वो हवा के रुख भी बदल गये
तेरा हाथ हाथ में आ गया कि चिराग राह में जल गये।'

तुम जब तक हो तब तक अँधेरा है; तुम मिटे कि चिराग जले! तुमने जिस दिन वह भ्रांति छोड़ी कि मैं चल रहा हूँ, उसी दिन तुम पाओगे : उसका हाथ सदा से तुम्हें चला रहा है, उसका हाथ तुम्हारे हाथ में है।

परमात्मा को हमने कभी खोया थोड़े ही है; खो देते तो फिर मिलने का कोई उपाय नहीं था। जो खो जाए वह परमात्मा नहीं है। जिसे हम खो सकें वह हमारा स्वभाव नहीं है। उसे हमने कभी खोया नहीं है, विस्मरण किया है, भूल गये हैं घड़ी-भर को, झपकी लग गयी है, याद उतर गयी है। हाथ तो अब भी उसका हमारे हाथ में है। कुछ करना नहीं है उस हाथ को पाने को, सिर्फ अपनी भ्रांति छोड़नी है।

भक्ति फलरूपा है।

ज्ञान कहता है : कुछ करना है, अज्ञान को मिटाना है, ज्ञान को लाना है। बड़ा उपक्रम है।

इसलिए ज्ञानी में अकड़ होती है; उसने किया है इतना, अकड़ स्वाभाविक है। वह कहता है, 'तुमने क्या किया? हम वर्षों ज्ञान इकट्ठा किये।'

योगी वर्षों तक साधता है, इसलिए योगी की अकड़ स्वाभाविक है। पुण्यात्मा महात्मा हो जाता है : कितना करता है! कितनी सेवा! कितने पुण्यकर्म! अकड़ स्वाभाविक है। भक्त में अकड़ नहीं हो सकती, क्योंकि भक्त की बुनियाद ही यही है कि हमने किया ही नहीं कुछ; तूने जो करवाया वही हुआ!



भक्त की बड़ी अनूठी दुनिया है! अलग ही उसका लोक है—गणित का नहीं, विज्ञान का नहीं, तर्क का नहीं, प्रेम का, प्रार्थना का, परमात्मा का। वहाँ सभी कुछ उलटा है। वहाँ बीज के पहले फल है। वहाँ मार्ग के पहले मंजिल है। वहाँ तुम्हारे करने से कुछ भी नहीं होता—तुम्हारे न करने से सब हो जाता है।

इसलिए जिनको भी अकड़ना हो, भक्ति उनके लिए नहीं है; जिनको पिघलना हो, उनके लिए है। अकड़ना हो, योग खोजो, त्याग खोजो, व्रत-नियम खोजो। अकड़ना हो और दिखाना हो दुनिया को कि मैं कुछ हूँ तो भक्ति की राह को भूल ही जाओ, वह तुम्हारे लिए नहीं है। अभी देर है तुम्हें उस पर आने को। लेकिन अगर यह समझ में आना शुरू हो गया कि अपने किये कुछ भी न हुआ; चले बहुत, पहुँचे कहीं न; दौड़े बहुत, जब आँख खोली तो पाया वहीं खड़े हैं — जब तुम्हें ऐसी अनुभूति होने लगे, तब तुम भक्ति के लिए परिपक्व हुए।

'क्योंकि ईश्वर को भी अभिमान से द्वेष है और दैन्य से प्रियभाव है।'

यह सूत्र बड़ा कठिन है। इसे तुम अपनी तरह सोचोगे तो मुश्किल में पड़ जाओगे : ईश्वर को भी अभिमान से द्वेषभाव है! अगर तुम महावीर से पूछोगे तो वे कहेंगे कि 'ऐसा ईश्वर ही नहीं; यह ईश्वर कैसा जिसको द्वेषभाव है? यह तो हो ही नहीं सकता : ईश्वर और द्वेषभाव!' महावीर की परिभाषा में तो जब द्वेष मिट जाता है, तभी कोई ईश्वरत्व को उपलब्ध होता है।

'और दैन्य से प्रियभाव है।'

तो इसका तो अर्थ हुआ कि उसके भी पक्षपात हैं।

नहीं, अगर ऐसा देखा तो सूत्र से तुम चूक गये। सूत्र का मतलब कुछ और है। सूत्र का सम्बंध ईश्वर से नहीं है — सूत्र का सम्बंध तुमसे है।

ऐसा समझो कि कोई कहे कि जब वर्षा होती है तो वर्षा को गड्ढों से लगाव है, पहाड़ों और शिखरों से द्वेषभाव है, तो मतलब क्या होगा? मतलब इतना ही होगा कि जब वर्षा होती है तो गड्ढों में भरती है, पहाड़ खाली रह जाते हैं; क्योंकि पहाड़ पहले से ही भरे हैं, वहाँ जगह ही नहीं है। और जगह चाहिए। गड्ढे भर जाते हैं, झीलें भर जाती हैं। गिरती है वर्षा पहाड़ों पर, उतर आता है पानी गड्ढों में, झीलों में।

इस सूत्र का इतना ही अर्थ है कि अगर तुम अभिमान से भरे हो, तो परमात्मा तुम में न उतर सकेगा, चाहे लाख चेष्टा करे उतरने की। लाख चेष्टा कर रहा है, लेकिन तुम पहले से ही भरे हो, जगह नहीं है। रिक्त स्थान चाहिए थोड़ा। तुम्हारे अहंकार के कारण तुम्हारे सिंहासन पर जगह नहीं है, तुम ही बैठे हो। तुम उतरो सिंहासन से, तो परमात्मा बैठ सके।

'और दैन्य से प्रियभाव है'— इसका कुल अर्थ इतना ही है कि तुम झील-

गड्ढे की तरह हो जाओ, ताकि परमात्मा तुम्हें भर दे; तुम खाली हो जाओ ताकि तुम भर दिये जाओ।

'अब तू भी करम की इंतिहा कर देना
मैंने भी खता की इंतिहा कर दी थी।'

भक्त कहता है कि मैंने भी पाप करने में कोई कमी न की थी, मैंने भी भूल करने में कोई कमी न की थी; 'अब तू करम की इन्तिहा कर देना'–अब तू भी करुणा करने में कुछ कंजूसी मत करना, जैसे मैंने पाप करने में कोई कंजूसी न की थी।

'अब तू भी करम की इंतिहा कर देना
मैंने भी खता की इंतिहा कर दी थी।'

वह यह कहता है कि मैंने पाप-ही-पाप किये हैं, और पूरी तरह किये हैं; कोई कंजूसी नहीं की; आखिरी तक किये हैं; इंतिहा कर दी थी; पूर्णता कर दी थी–अब ध्यान रखना, अब तू भी अपनी अनुकंपा की, अपने प्रसाद की पूर्णता कर देना! तेरी करुणा में अब तू कमी मत करना, जैसे हमने पाप में कमी न की थी, जैसे हमने अहंकार को भरने में सारी चेष्टाएँ की थीं!

मगर जो यह कह रहा है, वह गड्ढा हो गया। क्योंकि पाप की घोषणा तुम्हें गड्ढा बना देगी। पुण्य की घोषणा तुम्हें अहंकार से भरती है।

भक्त कहता है, 'मैं पापी हूँ! मैं पात्र नहीं हूँ!'

ज्ञानी कहता है, 'मैं पात्र हूँ, तैयार हूँ; देर क्यों हो रही है?'

योगी कहता है, 'मैं शुद्ध हूँ, बिलकुल तैयार हूँ; अब तेरी तरफ से देर हो रही है।'

भक्त कहता है, 'मैं बिलकुल तैयार नहीं हूँ। इसलिए मेरी तरफ से तो कोई माँग हो नहीं सकती। इतना ही कह सकता हूँ कि पाप करने में मैंने कोई कमी न की थी! मुझसे बुरा आदमी खोजे न मिलेगा। जैसे मैंने पाप करने में कमी न की–क्योंकि पाप ही मैं कर सकता था, और मैं कर क्या सकता था–अब तू करुणा में कमी मत करना, क्योंकि तू करुणा ही कर सकता है, और तू कर क्या सकेगा!'

भक्त अपने को अपात्र घोषित करता है–यही उसकी पात्रता है; असफल घोषित करता है–यही उसकी सफलता है; हारा हुआ घोषित करता है–यही उसकी विजय है।

भक्त कहे, ऐसा भी जरूरी नहीं है।

बायजीद प्रार्थना नहीं करता था जा के मस्जिद में। जीवन तो उसका अनूठा था, परमात्मा के प्रेम में पगा था! किसी ने पूछा कि प्रार्थना करने मस्जिद क्यों



नहीं जाते, तो वह रोने लगा। और उसने कहा, 'एक बार मैं एक शहर से गुज़रता था और एक सम्राट के द्वार पर मैंने एक भिखारी को खड़े देखा। सम्राट द्वार से बाहर आ रहा था, ठिठका, और उसने भिखारी से पूछा, 'क्या चाहते हो, बोलते क्यों नहीं?' उस भिखारी ने कहा, 'अगर मुझे देख कर तुम्हें दया नहीं आती तो मेरी बात सुन के भी क्या फर्क पड़ेगा!'

उसके फटे-पुराने कपड़े हैं, चीथड़े की तरह लटके हैं। शरीर ढका नहीं है उन कपड़ों से। उससे तो नंगा भी होता तो भी ज्यादा ढका होता। पेट सिकुड़ के पीठ से लग गया है, हड्डियाँ निकल आयी हैं। आँखें धंस गयी हैं।

तो बायजीद ने कहा, उसी दिन से मैंने प्रार्थना करनी बंद कर दी। क्या कहना है उससे? उस फकीर ने कहा, उस भिखमंगे ने कहा, अगर मुझे देख के तुझे दया नहीं आती तो बात खत्म हो गयी, अब कहना क्या है और! मेरी तरफ देख!'

बायजीद ने कहा, 'तब से मैंने प्रार्थना बंद कर दी। वह देख ही रहा है, अब कहना क्या है उससे? अब रोना क्या है?'

'लबे-इज़हार की जरूरत क्या
आप हूँ अपने दर्द की फरियाद।'

जरूरी नहीं है कि भक्त प्रार्थना करे। भक्त की तो एक भावदशा है: 'आप हूँ अपनी फरियाद।' उसके तो होने में ही उसकी दीनता समायी है।

नारद अनूठी बात कहते हैं: 'ईश्वर को अभिमान से द्वेष और दैन्य से प्रियभाव है।'

नहीं, ईश्वर को क्या द्वेष होगा और क्या प्रियभाव होगा! लेकिन भक्त की तरफ जब तक अहंकार है तब तक परमात्मा प्रवेश नहीं कर सकता। भक्त की तरफ जब दैन्यभाव आ जाता है–'आप हूँ अपनी फरियाद'–जब सब तरफ हारा हुआ भक्त खड़ा हो जाता है; जब उसके पूरे जीवन की एक ही भावदशा रह जाती है कि मैं पराजित हूँ, दीन हूँ, पतित हूँ, पापी हूँ, अपात्र हूँ; मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके कारण तेरी माँग करूँ; मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके कारण तेरे लिए दावेदार बनूँ; मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है कि तेरे लिए शिकायत करूँ–उसी क्षण, इस दैन्यभाव में परमात्मा उतर आता है।

जीसस का वचन है कि जो आत्मा से दरिद्र हैं, 'पुअर इन स्पिरिट', उन्हीं को परमात्मा का मिलन होता है।

सोचें, ध्यान करें इस पर: आत्मा से दरिद्र, 'पुअर इन स्पिरिट!' शरीर से दरिद्र होना बहुत आसान है। तुम घर छोड़ दो, मकान छोड़ दो, परिवार छोड़ दो, वस्त्र त्याग दो, नग्न खड़े हो जाओ; लेकिन जितना तुम बाहर छोड़ते जाओगे,

उतना ही भीतर अकड़ बड़ी होती जाएगी। तो बाहर से तो तुम दरिद्र हो जाओगे, भीतर बड़ी अकड़ हो जाएगी।

जैन मुनियों को देखो! जैन मुनि किसी को हाथ जोड़ के नमस्कार नहीं कर सकता; यह बात उसके नियम के विपरीत है। वह सिर्फ आशीर्वाद दे सकता है, नमस्कार नहीं कर सकता। क्यों? क्योंकि वह त्यागी है। त्यागी और नमस्कार करे, भोगियों को! असम्भव है! तो यह आत्मा की दरिद्रता न हुई। ऊपर से भला इसने दरिद्र का वेश पहन लिया हो, दो जोड़ी कपड़े रखता हो, कुछ और इसके पास न हो, भिक्षा माँग के जीता हो – लेकिन इसकी अकड़ तो देखो! यह भिखारी नहीं है। इसके भिखमंगेपन में बड़ा अहंकार है: 'मैंने इतना त्यागा है ...!'

तो अगर तुम जैन मुनि को नमस्कार करो तो वह आशीर्वाद दे देता है, हाथ नहीं जोड़ सकता तुम्हें।

जीसस ने कहा: आत्मा की दरिद्रता!

... तो यह तो बाहर का धन छोड़ के भीतर का धन पकड़ लिया; यह तो बाहर का अहंकार छोड़ के भीतर का अहंकार पकड़ लिया; यह तो पाना न हुआ, खोना हो गया उलटा; यह तो पहुँचना न हुआ, मंजिल से और दूरी हो गयी।

ध्यान रखना, पहले तुम बाहर की दुनिया में धनी होने की कोशिश करते हो; जब वहाँ हार जाते हो तो तुम भीतर की दुनिया में धनी होने की कोशिश करने लगते हो। तुम्हारा योग, तुम्हारा ज्ञान, तुम्हारा कर्म, फिर तुम्हें भीतर धनी बनाने लगते हैं। तो तुम चूकते ही चले जाते हो।

बाहर का धन इतना खतरनाक है तो भीतर का धन तो और भी खतरनाक होगा। बाहर की अकड़ इतनी बुरी है तो भीतर की अकड़ तो और भी बुरी होगी।

परमात्मा तुम्हारे परम दैन्यभाव में उतरता है।

इस सूत्र को गलत मत समझ लेना। परमात्मा को तुम्हारे दैन्यभाव से प्रेम नहीं है; लेकिन तुम्हारे दैन्यभाव में ही उतरना हो सकता है। जब तुम भरे ही हुए हो तो उतरने का कोई सवाल नहीं है। जब तुम ही अकड़े हुए हो और तुम सोचते हो, तुम ही सम्हाले हुए हो सब, तुम ही कर रहे हो और तुमने उसे इनकार ही कर दिया – तुमने उसके लिए द्वार ही बंद कर लिये।

"'जोश' बिसाते-शौक में मर्ग है अस्ल जिंदगी
बाजिए इश्क जीत ले बाजिए उम्र हार कर।'

एक ऐसा भी पड़ाव आता है, एक ऐसा दौर है, जहाँ मौत जिंदगी है और जहाँ हार जीतना है, जहाँ हमारे पुराने विचार के ढाँचे बिलकुल ही उलटे हो जाते हैं!

'बाजिए इश्क जीत ले' – अगर प्रेम को जीतना हो, 'बाजिए उम्र हार



कर' – उम्र की, जीवन की, ज़िंदगी की बाजी को हार कर प्रेम की बाजी जीती जाती है।

'दिल है तो उसी का है जिगर है, तो उसी का
अपने को रहे-इश्क में बरबाद जो कर दे।'

वह जो प्रेम की राह है, वहाँ जो अपने को बर्बाद कर दे, बस उसी के पास दिल है, उसी के पास जिगर है। उसी के पास आत्मा है, जो अपने को बर्बाद कर दे।

तो तुम कहीं संन्यस्त मत हो जाना गणित के हिसाब से। तुम कहीं लोभ के ही हिसाब में त्याग मत कर देना। कहीं तुम्हारा संन्यास, तुम्हारा धर्म तुम्हारी होशियारी ही न हो; अगर होशियारी हुई तो तुम चूक जाओगे। क्योंकि तब तुम पात्र बनने लगोगे। और जिसके मन में यह खयाल उठा कि मैं पात्र हूँ, वह दीन न रहा, उसने आत्मा की दरिद्रता खो दी।

दीन बनो!

मिटो!

हारे हुए जियो!

यह जीतने का वहम बहुत पाल लिया – छोड़ो यह बीमारी!

इधर तुम मिटे उधर परमात्मा तुम्हारी तरफ चला! जैसे-जैसे तुम मिटे, वैसे-वैसे वह तुम्हारी तरफ आता है। जिस दिन पूरे मिट जाते हो, अचानक पाते हो: वह सदा से वहाँ था; तुम्हारी मौजूदगी के कारण दिखायी नहीं पड़ता था।

तुम्हीं हो परदा तुम्हारी आँख पर।

आँख तो देखने में समर्थ है; तुम्हारे कारण देख नहीं पाती।

दृष्टि धुंधली है – तुम्हारे कारण; अंधी है – तुम्हारे कारण!

तुम ज़रा आँख से हट जाओ!

निर्मल होने दो आँख को!

खाली होने दो आँख को!

शून्य होने दो आँख को!

तब परमात्मा के सिवाय और कोई भी दिखायी नहीं पड़ता है।

'भक्ति का साधन ज्ञान है, ऐसा किन्हीं आचार्यों का मत है।'

गलत है मत। आचार्यों का होगा; जिन्होंने सोचा-विचारा है उनका होगा – जिन्होंने जाना है उनका नहीं है।

'भक्ति का साधन ज्ञान है...।' नहीं, ज्ञान से कभी कोई भक्त हुआ? जितना जानोगे उतने अभक्त होते जाओगे। ज्ञानी तो धीरे-धीरे परमात्मा को इनकार करने लगता है, हज़ार ढंगों से इनकार करता है।

ज्ञान साधन नहीं है भक्ति का, बाधा है।

'और किन्हीं दूसरे आचार्यों का मत है कि भक्ति और ज्ञान परस्पर एक-दूसरे के आश्रित हैं।'

वह भी गलत है।

भक्ति बात ही और है! उसका जानने से कोई सम्बंध नहीं है, अनुभव से सम्बंध है।

'सनतकुमार और नारद के मत से भक्ति स्वयं फलरूपा है।'

लेकिन नारद कहते हैं, ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं। न तो ज्ञान भक्ति का साधन है, और न भक्ति और ज्ञान एक-दूसरे पे आश्रित हैं। भक्ति स्वयं फलरूपा है, ज्ञान की कोई भी जरूरत नहीं है।

'राजगृह और भोजनादि में भी ऐसा ही देखा जाता है।'

'न उससे (जान लेने मात्र से) राजा की प्रसन्नता होगी, न क्षुधा मिटेगी।'

उदाहरण के लिए कहते हैं कि अगर कोई भोजन की चर्चा करे और भोजन के सम्बंध में बहुत जान ले, तो भी भूख तो न मिटेगी। पाकशास्त्र को जान लेने से कोई भूख तो नहीं मिटती। तुम पाकशास्त्र के ढेर लगा ले सकते हो। तुम पाकशास्त्रों का अध्ययन करते-करते उनमें लीन हो जा सकते हो। जितने प्रकार के भोजन दुनिया में बन सकते हैं, कभी बने हैं, या बनेंगे, उन सबकी जानकारी तुम्हें हो सकती है। लेकिन उससे तुम्हारे पेट की भूख न मिटेगी। पेट की भूख तो भोजन से मिटती है।

भक्ति भोजन है, ज्ञान नहीं।

भक्ति स्वाद है – जीवंत!

भक्ति परमात्मा के सम्बंध में कुछ जानना नहीं है – परमात्मा का भोजन है।

बड़ा ठीक उदाहरण लिया है।

जीसस जब विदा होने लगे अपने शिष्यों से, मरने की घड़ी करीब आयी, सूली लगने को हुई, तो उन्होंने रोटी के टुकड़े तोड़े और अपने शिष्यों के दिये, और कहा कि यह रोटी मैं हूँ; तुम रोटी नहीं खा रहे हो, मेरा भोजन कर रहे हो!

भक्ति परमातमा का भोजन है, परमात्मा का भोग है।

भूख तो भोग से मिटेगी। प्यास तो जल को पियोगे तो मिटेगी; जल को कितना ही जान लो, उससे न मिटेगी।

परमात्मा के सम्बंध में जानना परमात्मा को जानना नहीं है। परमात्मा को तो वे ही जानते हैं जो उसका भोग कर लेते हैं, जो उसे पचा लेते हैं; जिनके खून और जिनकी हड्डी में परमात्मा घूमने लगता है; जिनके रोएँ-रोएँ और श्वास में



समा जाता है; जिनके होने में परमात्मा की गंध हो जाती है; जिनका होना और परमात्मा का होना भिन्न नहीं रह जाता।

'उसके जान लेने मात्र से न तो प्रसन्नता होगी, न क्षुधा मिटेगी।'

इसलिए ज्ञान से तो भक्ति का कोई भी सम्बंध नहीं है। ज्ञान तो है परमात्मा के सम्बंध में जानना; और भक्ति है परमात्मा का सीधा साक्षात।

'अतएव संसार के बंधनों से मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिए।'

जो वस्तुतः 'मुमुक्षु' हैं...। इस शब्द को थोड़ा समझ लें।

कुछ लोग हैं जो केवल कुतूहली हैं, जो परमात्मा के सम्बंध में ऐसे ही पूछते हैं जैसे छोटे बच्चे पूछते हैं कि दुनिया को किसने बनाया। तुम कह दो, परमात्मा ने; तुम कह दो, कुछ भी, अ ब स – वे फिक्र नहीं करते; वे अपने भूल गये, बात खत्म हुई, खेल में लग गये। उन्होंने वस्तुतः जानने के लिए पूछा ही न था – एक खुजलाहट थी; एक कुतूहल उठा था: 'किसने बनाया!' न भी जवाब देते तो भी कुछ परेशान होने वाले न थे वे। उन्हें जवाब से कुछ लेना-देना भी न था। एक क्यूरिआसिटी थी, एक कुतूहल था।

सौ में से नब्बे लोग तो जो ईश्वर की बात करते हैं, कुतूहली होते हैं। वे कुछ जीवन दाँव पे लगाना नहीं चाहते – ऐसे ही अगर मुफ्त में कुछ जानकारी मिल जाए तो ठीक; कुछ बदलना न पड़े; कुछ करना न पड़े; कुछ होना न पड़े – ऐसे ही कुछ जानकारी मिलती हो तो क्या हर्ज है!

कुतूहल से कोई धार्मिक नहीं होता।

कुतूहल के बाद एक दूसरा वर्ग है जिज्ञासु का, वह जानना चाहता है, वस्तुतः जानना चाहता है – लेकिन बस जानना चाहता है।

कुतूहली तो जानने में भी बहुत उत्सुक नहीं है, ऐसे ही पूछ लिया था; सतह की बात थी; एक खयाल आ गया था। खयाल की कोई जड़ें नहीं हैं उसके भीतर।

जिज्ञासु के भीतर खयाल की जड़ें हैं – ऐसे ही खयाल नहीं आ गया; खयाल कई बार आता है। ऐसे आया-गया नहीं है; स्थायी निवास हो गया है! पूछता है, प्रयोजन है, जानना चाहता है – लेकिन बस जानना चाहता है! उससे आगे नहीं जाना चाहता।

उसके आगे मुमुक्षु है। मुमुक्षु का अर्थ है: जानना ही नहीं चाहता, जीना चाहता है। जानने से क्या होगा? अगर ईश्वर है तो अपने को बदलना चाहता है। अगर परलोक है तो अपने जीवन में क्रांति लाना चाहता है। अपने को दाँव पर लगाने को तत्पर है।

नारद कहते हैं : 'अतएव संसार के बंधनों से मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिए।'

– क्योंकि भक्ति भोजन है।

संस्कृत का सूत्र जब भी अनुवादित किया जाता है तो कुछ-न-कुछ चूक होती हैं। हिन्दी में अनुवाद है : 'अतएव संसार के बंधनों से मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को... ।' संस्कृत का सूत्र केवल इतना ही कहता है : 'बंधनों से मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को... ।' संसार की कोई बात नहीं है – बंधनों से मुक्त होने की है।

इसे थोड़ा समझें।

बंधन संसार है। स्मरण रखें : बंधन-मात्र संसार है। मोक्ष का भी बंधन हो तो संसार हो गया। पुण्य का भी बंधन हो तो संसार हो गया। कोई भी आकाँक्षा हो तो बंधन पैदा होगा। अगर परमात्मा को भी पाने की आकाँक्षा हो तो बंधन बनायेगी। क्योंकि जहाँ भी आकांक्षा होगी, वहीं स्वतंत्रता क्षीण हो जाएगी। जब कोई आकाँक्षा नहीं रह जाती तो बंधन समाप्त होते हैं। और ऐसी घड़ी तो तभी आती है जब परमात्मा से मिलन हो जाए। इसके पहले ऐसी कोई घड़ी नहीं आती।

तो जिन्हें सच में ही बंधनों के पार जाना है; जो ऊब गये हैं जीवन की जंजीरों से; जो इस जीवन के कारागृह से पीड़ित हो गये हैं; जिनकी समझ में आ गया है कि, ये बड़ी दीवालें जीवन की घर की दीवालें नहीं हैं, ये कारागृह हैं, और जिसको हम जिंदगी कहते हैं वह सिवाय बंधनों के और कुछ भी नहीं – उनके लिए भक्ति ही एकमात्र उपाय है।

'ऐ ताइरे-लाहूति ! उस रिज्क से मौत अच्छी
जिस रिज्क से आती हो परवाज़ में कोताही।'

उस ज़िंदगी से मौत अच्छी है...किस ज़िंदगी से ?– जिस ज़िंदगी से उड़ान में बाधा पड़ती हो, आकाश छोटा होता हो, 'जिस रिज्क से आती हो परवाज़ में कोताही' – उड़ने में रुकावट आती हो।

जहाँ-जहाँ रुकावट है, वहाँ-वहाँ गौर से देखना : तुम अपनी ही किसी वासना को खड़ा हुआ पाओगे। जहाँ भी तुम्हारे पंख अड़ते हैं, अटकते हैं, गौर से देखना : वहीं-वहीं तुम पाओगे, कोई आकाँक्षा, कोई अपेक्षा, कोई वासना, कोई माँग पंखों पर बंधन बन गयी है।

तुम्हारी जंजीरें तुम्हारी वासनाओं की जंजीरें हैं, किसी और ने ढाली नहीं, किसी और ने तुम्हें पहनाई नहीं हैं। और जिस दिन तुम्हें यह दिखायी पड़ जाए, उस दिन तुम्हारी जंजीरें ऐसे ही पिघल जाती हैं जैसे तेज धूप में बर्फ पिघल जाए,



सुबह के सूरज में ओस की बूंदें उड़ जाएँ – ऐसे ही तुम्हारी जंजीरें उड़ जाती हैं।

परमात्मा को, बिना कुछ और माँगे, बिना कुछ और चाहे, अपने को समर्पित कर देना। यह मत कहना कि मैं परमात्मा को भी चाहता हूँ। उतनी चाह भी तुम्हारे 'परवाज़ में कोताही' ले आएगी। तुम इतना ही कहना कि मैं अपने को परमात्मा में छोड़ने को तत्पर हूँ, माँग कुछ भी नहीं है – मिटाना है।

क्योंकि सब माँग अहंकार की माँग है। हर माँग अहंकार की माँग है। तुम यह भी मत कहना कि मैं परमात्मा को चाहता हूँ; क्योंकि उतनी चाह में भी तुम अपने को परमात्मा से ऊपर रख रहे हो, तो परमात्मा विषय-वस्तु हो गया। कभी तुम धन चाहते थे, अब परमात्मा चाहते हो – लेकिन चाहने वाला खड़ा रह जाएगा। तुम इतना ही कहना कि अब बहुत चाहत करके देख ली – अब अपने को छोड़ना है, मिटाना है।

इस मिटाने में ही भक्त एक अपरिसीम आनंद से भर जाता है, क्योंकि उसके परवाज़ में फिर कोई कोताही नहीं रह जाती; उसका पूरा आकाश उपलब्ध हो जाता है; पंख परिपूर्ण स्वतंत्रता से उड़ने लगते हैं ! और इस मिटाने में ही एक ऐसी बेहोशी उसे घेर लेती है, जिसे बेहोशी कहना भी ठीक नहीं – जिसमें बड़ा गहरा होश है; और एक ऐसा होश उस पे आ जाता है, जिसे होश कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि उसकी आँखों में बड़ी बेहोशी है, जैसे वह शराब पिये हो, जैसे अभी-अभी मधुशाला से लौटा हो !

और जब तक तुम्हारे लिए मंदिर मधुशाला नहीं बन जाता और जब तक प्रार्थना तुम्हारे लिए इतना गहन आत्म-विस्मरण नहीं बन जाती कि तुम उसमें डूब ही जाओ, तब तक तुम जो भी कर रहे हो, वह कुछ और होगा, भक्ति नहीं।

'मैं मयकदे की राह से हो कर निकल गया
वर्ना सफर हयात का काफी तवील था।'

जिंदगी का रास्ता बहुत कठिन है ! अगर मयकदे की राह से हो कर निकल गये, तब बात और। अगर जीवन की मधुशाला से गुज़र गये तो बात और ! वही परमात्मा है। अगर उसी मस्ती को थोड़ा चख लिया, अगर थोड़ा स्वाद पा लिया परमात्मा का, डगमगाने लगे पैर उसके आनंद में, नाच छा गया – तो ही; अन्यथा ज़िंदगी का रास्ता बहुत कठिन है, काँटे-ही-काँटे हैं।

फूल तो तभी खिलते हैं जब तुम मिटना शुरू होते हो; अन्यथा दुर्गंध-ही-दुर्गंध है। सुगंध तो तभी आती है जब तुम कपूर की तरह शून्य में खो जाते हो।

'मस्जिद में बुलाते हैं हमें जाहिदे-नाफहम
होता अगर कुछ होश तो मयखाने न जाते ?'

– विरक्त हमें मंदिर में बुला रहे हैं, मस्जिद में बुला रहे हैं; अगर कुछ थोड़ा होश होता तो मयखाने ही चले जाते ।

भक्त को न कोई मंदिर बचता, न कोई मस्जिद बचती । वह जहाँ है वहीं उसकी मधुशाला है । वह जहाँ है, वहीं उसका परमात्मा है ।

तुम्हारे मिट जाने में, तुम्हारी लीनता में, तुम्हारी तल्लीनता में – परमात्मा का आविर्भाव है ।

इसलिए भक्त में तुम एक बेहोशी भी पाओगे और एक होश भी ।

ज्ञानी में तुम्हें होश मिलेगा, बेहोशी न मिलेगी ।

शराबी में, पापी में, तुम्हें बेहोशी मिलेगी, होश न मिलेगा ।

योगी में तुम्हें होश मिलेगा, भोगी में बेहोशी मिलेगी – भक्त में तुम्हें दोनों मिलेंगे । भोगी भी उससे ईर्ष्या करेगा और योगी भी उससे ईर्ष्या करेगा । क्योंकि योगी देखेगा, ऐसी अपरिसीम होश की सम्भावना उसके भीतर भी नहीं है । और भोगी देखेगा, इतना भोग के भी ऐसी मस्ती उसके पास नहीं आयी ।

सब भोग तिक्त स्वाद छोड़ जाता है ।

ठीक कहते हैं नारद कि ज्ञान, कर्म, योग, भक्ति की ऊँचाई को नहीं पहुँचते ।

भक्ति में, परमात्मा उसकी समग्रता में स्वीकार है, उसका संसार भी समाहित है उस स्वीकार में । तो भक्त भागता नहीं संसार से; भोग से भी नहीं भागता – वह उसे भी परमात्मा का ही अनुग्रह मान के स्वीकार कर लेता है ।

त्याग भक्त की भाषा नहीं है; जो 'उसने' दिया है, उसे स्वीकार कर लेता है – अहोभाव से, धन्यभाग से !

तो भक्त के जीवन में एक अनूठा संवाद है : उसकी बेहोशी में होश है, उसके होश में बेहोशी है; उसके ध्यान में तल्लीनता है, उसकी तल्लीनता में ध्यान है ।

भक्त आखिरी समन्वय है, आखिरी सिंथीसिस !

'मस्जिद में बुलाते हैं हमें जाहिदे-नाफहम
होता अगर कुछ होश तो मयखाने न जाते ?'

... डूबता जाता है – परमात्मा के रस में ! खोता जाता है अपनी बूंद को उसके रस के सागर में ! और जब बूंद सागर हो जाती है, तो उसकी मस्ती का क्या कहना ! जब बूंद आकाश को छूती है तो उसकी मस्ती का क्या कहना !

भक्त में तुम रस पाओगे; योगी को सूखा पाओगे ।

भोगी में रस मिलता है, लेकिन दुर्गंधयुक्त !

भक्त में तुम रस पाओगे – और सुगंधयुक्त !



भोगी संसार को परमात्मा समझ लेता है, और परमात्मा को त्याग देता है । योगी परमात्मा को संसार के विपरीत समझता है, इसलिए संसार को त्याग देता है । भक्त परमात्मा और संसार को एक ही मानता है; स्रष्टा और सृष्टि एक है – इसलिए न कुछ त्यागता, न कहीं भागता । इस परम बोध में कि स्रष्टा अपनी सृष्टि के रोएँ-रोएँ में समाया है, भक्त में योग और भोग का मिलन हो जाता है । वह परम संगीत है । उससे ऊपर कोई संगीत नहीं ।

आज इतना ही ।

## आठवाँ प्रवचन

दिनांक १८ जनवरी, १९७६; श्री रजनीश आश्रम, पूना

# अनंत के आँगन में नृत्य है भक्ति

पहला प्रश्न : प्रेम भक्ति का जनक है या भक्ति प्रेम की जननी ? प्रेम कली है और भक्ति फूल ? अथवा प्रेम आदि है और भक्ति अंत ? या दोनों भिन्न हैं ?

कली और फूल एक भी हैं और भिन्न भी। आदि और अंत जुड़े भी हैं और अलग भी हैं । कली कली भी रह जा सकती है; फूल बनना सम्भव है, अनिवार्य नहीं ।

बीज बीज भी रह जा सकता है; वृक्ष हो सकता था, जरूरी नहीं है कि हो। बीज अलग भी है – उसका अपना भी अस्तित्व है – और वृक्ष की सम्भावना भी है। लेकिन वृक्ष तभी हो सकेगा जब बीज हो – पहली बात । और वृक्ष तभी हो सकेगा जब बीज मिटे – दूसरी बात । पहले हो, और फिर मिटे भी, तो ही वृक्ष हो सकेगा ।

प्रेम न हो तो भक्ति की कोई सम्भावना नहीं । और अगर प्रेम ही रह जाए, आगे न जाए, तो भी भक्ति की कोई संभावना नहीं। प्रेम प्रेम पर ठहर जाए तो भक्ति कभी पैदा न होगी । और अगर प्रेम हो ही न तो तो भक्ति के पैदा होने का सवाल ही नहीं है ।

इसलिए प्रश्न नाजुक है। और बड़ी भूलें मनुष्य की इतिहास में हुई हैं । किन्हीं ने सोचा कि प्रेम ही भक्ति है, तो भक्ति के नाम से प्रेम के ही गीत गाते रहे, और चूक हो गयी । और किन्हीं ने समझा कि प्रेम भक्ति नहीं है, प्रेम के पार जाना है, तो प्रेम के दुश्मन हो गये; प्रेम से पलायन किया, भागे, तो भी चूक गये ।

प्रेम से भागना नहीं है; प्रेम के पार जाना है। प्रेम को सीढ़ी बनाना है । प्रेम पर चढ़ना है । प्रेम का अतिक्रमण करना है । प्रेम का उपयोग करना है। प्रेम से दुश्मनी कर ली, तब तो फिर कभी भक्ति पैदा न होगी। यह तो बीज से दुश्मनी हो गयी। और जो बीज से डर गया, बीज का शत्रु हो गया, वह आशा रखे वृक्ष की, तो नासमझी है। कल्पना कर सकता है वृक्ष की, सपने देख सकता है – लेकिन वृक्ष कभी वास्तविक न हो पाएगा।

प्रेम के बीज को सम्हालना है — मगर जरूरत से ज्यादा मत सम्हालना; ऐसा न हो कि बीज में ही बंद रह जाओ; ऐसा न हो कि बीज ही सम्पदा हो जाए। बीज तो केवल सम्भावना है — उपयोग करना ! आगे जाना ! सीढ़ी बनाना ! तो बीज खिलेगा, कली खिलेगी, फूल बनेगा।

कामवासना से जन्म होता है प्रेम का, लेकिन कामवासना पर ही कोई रुक जाए तो प्रेम का कभी जन्म न होगा। कीचड़ से जन्म होता है कमल का। लेकिन कमल कीचड़ भी रह सकती है; कोई मजबूरी नहीं है कि कमल हो।

कामवासना से जन्म होता है प्रेम का। कामवासना है कीचड़। प्रेम का कमल खिलता है; जड़ें तो होती हैं कीचड़ में, लेकिन कीचड़ के पार उठ गया होता है। कीचड़ से निकलता है और कीचड़ से कितना भिन्न होता है ! कीचड़ से आता है लेकिन कीचड़ जैसा तो कमल में कुछ भी नहीं होता। अगर हमें पता ही न हो कि कमल कीचड़ से आया है, तो हम कभी कमल का सम्बंध कीचड़ से जोड़ ही न सकेंगे।

कहाँ कीचड़, कहाँ कमल ! दो अलग लोक ! दो अलग संसार ! कमल को देख के तुम्हें कीचड़ की याद भी आ सकती है ? कीचड़ को देख के कमल की याद आ सकती है ? कोई सम्बंध नहीं जुड़ता। लेकिन कीचड़ से ही कमल आता है। कामवासना से ही प्रेम का आविर्भाव होता है।

फिर कमल से सुगंध उठती है; वैसे ही प्रेम से भक्ति की गंध उठती है। कमल तो दृश्य है, सुगंध अदृश्य है। प्रेम दृश्य है, भक्ति अदृश्य है। भक्ति तो गंधमात्र है। तुम भक्ति को मुट्ठी में बाँध न पाओगे। प्रेम को भी बाँधोगे तो प्रेम ही मर जाएगा, तो भक्ति की तो बात ही छोड़ दो। कमल को भी मुट्ठी में बाँधोगे तो कमल मुरझा जाएगा।

कमल को भोगना। कमल से आनंदित होना। कमल का उत्सव मनाना। कमल के आसपास नाचना। कमल के मालिक मत बनना, मुट्ठी में मत बाँधना; नहीं तो प्रेम भी कुम्हला जाएगा।

अधिक लोगों के प्रेम मुट्ठी में बँध के ही तो कुम्हला जाते हैं, मर जाते हैं। जहाँ तुमने प्रेमी पर कब्जा किया, वहीं प्रेम की मृत्यु शुरू हो जाती है। जहाँ मालकियत आयी वहाँ प्रेम नहीं ठहर पाता। प्रेम कोई वस्तु नहीं है कि तुम मालिक हो सको। यह कोई सम्पदा नहीं है, जिसे तुम तिजोड़ी में रख सको। यह तो कमल का फूल है — इसे खुले आकाश में खिलने दो। डरो मत ! ऐसा भय मत पालो कि कोई और इस फूल के आनंद को उपलब्ध न हो जाए, कोई और इस फूल के सौंदर्य को न देख ले, किसी और की आँखों में फूल का सौंदर्य न भर जाए। ढाँको मत इस फूल को। क्योंकि ढाँक लोगे तुम, दूसरों की नजरों से



तो बच जाएगा, लेकिन तुम भी वंचित हो जाओगे। क्योंकि ढका हुआ फूल मर जाता है। खुला आकाश चाहिए, सूरज की किरणें चाहिए, मुक्त हवाएँ चाहिए, तो ही फूल जीवित रहेगा।

प्रेम मर गया है। पृथ्वी पर प्रेम की लाशें हैं, कुम्हलाये हुए फूल हैं, मरे हुए फूल हैं। प्रेम को ही मुट्ठी में बाँधना असम्भव है। जिन्होंने बाँधा, उन्होंने ही प्रेम की हत्या कर दी।

कभी भी प्रेम पर मालकियत मत जताना। प्रेम को ही तुम्हारा मालिक होने दो; तुम प्रेम के मालिक मत बनना।

प्रेम नाजुक है, मालकियत को न सह पाएगा। तो फिर भक्ति की तो बात बहुत दूर। भक्ति तो सुगंध है, अदृश्य है; उस पर कोई मुट्ठी बाँधी नहीं जा सकती। मुक्ति उसका स्वभाव है; दूर आकाशों को छुएगी; दूर हवाओं पर यात्रा करेगी।

जब प्रेम को पंख लग जाते हैं — तब भक्ति। जब प्रेम इतना सूक्ष्म हो जाता है कि दिखायी भी नहीं पड़ता, सिर्फ एहसास होता है — तब भक्ति।

प्रेम का नशा थोड़ा स्थूल है, भक्ति का नशा बड़ा सूक्ष्म है। प्रेम को तो तुम थोड़ा सुन पाओगे, उसकी पगध्वनि सुनायी पड़ती है — भक्ति की पगध्वनि भी सुनायी नहीं पड़ती। उसे तो तुम पहचान तभी पाओगे जब तुमने भी उस अदृश्य का थोड़ा अनुभव किया हो।

कामवासना से ऊपर उठो। ध्यान रखना, मैं कहता हूँ, 'ऊपर उठो'; दूर जाने की नहीं कह रहा हूँ, पार जाने की कह रहा हूँ। ऊपर उठने का अर्थ है : तुम्हारी बुनियाद में तो कामवासना बनी ही रहेगी, तुम ऊपर उठे : भवन उठा, बुनियाद से ऊपर चला, बुनियाद तो बनी ही रहेगी।

कामवासना से ऊपर उठो, तो प्रेम। प्रेम से भी ऊपर उठो, तो भक्ति।

कामवासना में क्षण-भर को दो शरीर करीब आते हैं — क्षण-भर को ही आ सकते हैं, क्योंकि शरीर बड़े स्थूल हैं। उनकी सीमाएँ बड़ी स्पष्ट हैं। करीब ही आ सकते हैं, एक तो नहीं हो सकते।

प्रेम में दो मन करीब आते हैं, क्षण-भर को एक भी हो जाते हैं — क्योंकि मन की सीमाएँ तरल हैं, ठोस नहीं। जब दो मन मिलते हैं तो दो मन नहीं रह जाते, क्षण-भर को एक ही मन रह जाता है।

भक्ति में दो आत्माएँ करीब आती हैं, दो चैतन्य करीब आते हैं — व्यक्ति का और समष्टि का, बूँद का और सागर का, कण का और विराट का — और सदा के लिए एक हो जाते हैं।

कामवासना में शरीर करीब आते हैं और दूर फिंक जाते हैं। इसलिए कामवासना में सदा ही विषाद है। मिलने का सुख तो बहुत थोड़ा है, दूर हट जाने की

पीड़ा बहुत गहन है। इसलिए ऐसा व्यक्ति खोजना कठिन है जो कामवासना के बाद पछताया न हो। पछतावा कामवासना का नहीं है। कामवासना पास ले आती है, लेकिन तत्क्षण दूर फेंक जाती है। जितने हम दूर पहले थे, उससे भी ज्यादा दूर हो जाते हैं। यह क्षण-भर पास आना दूरी को और प्रगाढ़ कर देता है, दूरी अनंत हो जाती है।

इसलिए हर कामवासना के पीछे पछतावा है, एक पश्चाताप है; जैसे कुछ खोया। चाहे तुम्हें साफ न हो कि क्या खोया, चाहे तुम्हें स्पष्ट न हो कि क्या खोया – लेकिन कुछ खोया, कुछ गँवाया, पाया नहीं।

प्रेम में खोना और पाना बराबर है। कामवासना में खोना ज्यादा है, पाना नाकुछ है। प्रेम में एक संतुलन है; खोना-पाना बराबर है; तराजू के दोनों पलड़े बराबर हैं। तो तुम प्रेमी में एक तरह की तृप्ति पाओगे जो कामी में न मिलेगी। कामी हमेशा अतृप्त मिलेगा; विषाद से भरा मिलेगा; पश्चाताप से भरा मिलेगा : 'कुछ खो रहा है, कुछ खो रहा है! जीवन में कहीं कोई चूक हो रही है, भूल हो रही है।

पश्चाताप कथा है कामवासना की।

प्रेमी में तुम एक तृप्ति पाओगे, एक संतुलन पाओगे, एक शांति पाओगे। खोना-पाना बराबर है – लेकिन इतना काफी नहीं है। खोना-पाना बराबर हो तो तृप्ति तो हो सकती है, महातृप्ति नहीं हो सकती। लगेगा : सब ठीक है। लेकिन इससे कोई उत्सव का क्षण करीब नहीं आता। इससे तुम अनंत के आँगन में नाच न सकोगे। इससे कुछ अहोभाव पैदा नहीं होता : जितना दिया उतना लिया, सब बराबर हुआ; हानि कुछ मालूम नहीं होती, लेकिन लाभ भी कुछ मालूम नहीं होता।

तो प्रेमी को तुम उलझा हुआ पाओगे। कामी को पछताता हुआ पाओगे। प्रेमी को उलझा हुआ पाओगे कि यह क्या हुआ, पाया-खोया सब बराबर हुआ! हाथ तो कुछ न लगा। हिसाब तो पूरा हो गया, लेकिन जीवन यूँ ही चला गया।

प्रेमी को तुम उलझा हुआ पाओगे। एक प्रश्न-चिह्न पाओगे प्रेमी की अन्तर्दशा में कि यह सब क्यों, प्रयोजन क्या!

फिर भक्त की दुनिया है : जहाँ पाना-ही-पाना है और खोना नहीं है। कामी की दुनिया है : जहाँ खोना-ही-खोना है, पाना नहीं है। और भक्त की दुनिया है – ठीक विपरीत, दूसरा छोर – जहाँ पाना-ही-पाना है, खोना नहीं है। तब अहोभाव पैदा होता है, तब मीरा पद घुंघरू बाँध नाचती है। तब नृत्य आता है। तब कोई उलझन नहीं है, तब कोई प्रश्न नहीं है। तब सब प्रश्न हल हुए। तब जीवन पहली बार अर्थवत्ता से भरा! और तब पहली बार धन्यवाद में सिर झुकता है।



पूछा है : प्रेम भक्ति का जनक है या भक्ति प्रेम की जननी?

प्रेम ही भक्ति का जनक है, भक्ति नहीं; क्योंकि भक्ति तो आखिरी शिखर है। भक्ति तो भगवान की जननी है, प्रेम की नहीं। जिसने भक्ति को पा लिया, उसने भगवान को जन्म दिया।

इसे भी थोड़ा समझ लेना। क्योंकि साधारणतः लोग सोचते हैं, भगवान कहीं बैठा है; खोजने की बात है, पता लगा दिया, पूछताछ कर ली, थोड़ी खोजबीन की, मिल जाएगा।

भगवान कहीं बैठा नहीं है – तुम्हें जन्म देना है। भगवान कोई वस्तु नहीं है – तुम्हारे भीतर का अविर्भाव है। और प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही भगवान पर पहुँचना है। दूसरे का भगवान तुम्हारे काम न आएगा। भगवान के जगत में गोद लेने से काम न चलेगा।

इस संसार में तुम धोखा दे लेते हो। किसी को बच्चे पैदा नहीं होते, गोद ले लेते हैं। जो बहुत होशियार हैं...।

मुल्ला नसरुद्दीन को बच्चे पैदा नहीं हुए तो उसने विज्ञापन निकाला अखबारों में कि मुझे किसी को गोद लेना है, लेकिन उम्र सत्तर-अस्सी साल के करीब होनी चाहिए। पूरा गाँव चकित हुआ कि पहले बहुत गोद लेने वाले देखे...!

एक बूढ़ा आया, लकड़ी टेकता हुआ, मुश्किल से चलता हुआ। उसने कहा कि मेरी अस्सी साल की उम्र हो गयी है। मैं तैयार हूँ, लेकिन मैं समझा नहीं। लोग बच्चों को गोद लेते हैं...।

नसरुद्दीन ने कहा कि बच्चों को गोद लेने से क्या फायदा। हम तो ऐसे आदमी को लेंगे जिसके नाती-पोते भी हों, ताकि तीन-चार पीढ़ियों में हमारे परिवार में किसी को फिर गोद न लेना पड़े।

तो जो बहुत होशियार हैं वे लम्बा इन्तज़ाम कर लेते हैं। लेकिन गोद लिया हुआ बच्चा, और तुमने जिसे जन्म दिया, उसमें ज़मीन-आसमान का भेद है। माँ ने जिसे गर्भ में रखा, नौ महीने जिसका बोझ झेला, जिसकी प्रतीक्षा की, जिसके आसपास सपने सँजोये, हज़ार-हज़ार आशाएँ बाँधी, अपने खून से जिसे सींचा, अपने हृदय की धड़कन दी, अपने प्राणों को बाँटा जिससे – उस बच्चे में, और फिर तुमने किसी को गोद ले लिया, कानूनी बच्चे में, बड़ा फर्क है।

तो इस संसार में तो तुम उधार भी ले लेते हो तो भी चल जाता है। यहाँ तो तुम अपने को धोखा दे लेते हो। बाँझ भी उधार ले के बच्चों को, जन्मदाता बन जाते हैं। लेकिन यह धोखा परमात्मा के जगत में न चलेगा। वहाँ तो तुम्हें माँ बनना पड़ेगा।

भक्त यानी माँ। भक्ति यानी तुम गर्भस्थ हुए : तुम्हारा ही चैतन्य, तुम्हारी

ही सारी जीवन-ऊर्जा को अपने में समा कर एक नयी धुन और एक नये गीत के साथ पैदा होता है; तुम्हारा ही चैतन्य एक नये आयाम में प्रवेश करता है – मृत्य से अमृत के आयाम में, सीमा से असीम में। बूंद वहाँ सागर होती है।

तो भगवान कोई बैठा हुआ, कहीं कोई व्यक्ति नहीं है, जिसे तुम गये और परदा उठा लिया और खोज लिया। इन बचकानी बातों में मत पड़ना। न ही कोई भगवान वस्तु है कि कोई तुम्हें दे देगा। तुम्हें जन्म देना होगा। तुम्हें अर्हनिश साधना होगा। तुम्हें जन्मों-जन्मों पुकारना होगा। तुम्हें उसके बोझ को ढोना होगा। प्रसव की पीड़ा झेलनी होगी। कभी तुम हँसोगे आनंद से, कभी रोओगे भी। आँसुओं में और मुस्कराहटों में उसे सींचना होगा, सँवारना होगा। और जब वह पैदा होगा तो वह तभी पैदा होगा, उसी क्षण पैदा होगा, जहाँ तुम्हारी मौत घट जाएगी।

बौद्धों में एक अनूठी कथा है। कथा ही है, लेकिन बड़ी प्रतीकात्मक है। बौद्ध शास्त्र कहते हैं कि जब किसी बुद्ध का जन्म होता है तो जन्म देने के साथ ही माँ मर जाती है। बुद्ध की माँ मर गयी, जन्म देने के साथ ही। सदियों से लोग पूछते रहे: 'ऐसा क्यों? कृष्ण की माँ भी तो नहीं मरी। जीसस की माँ नहीं मरी। महावीर की माँ नहीं मरी। यह बौद्ध शास्त्रों में एक नयी धारणा क्यों पाल रखी है कि जब बुद्ध का जन्म होता है तो उनकी माँ मर जाती है?'

यह धारणा बड़ी महत्त्वपूर्ण है। बुद्ध की माँ मरी हो न मरी हो – लेकिन जब भी तुम्हारे भीतर बुद्धत्व का जन्म होता है, तुम मर जाते हो। इतना ही सार है उस कथा में। बीज तो मरेगा ही, तभी वृक्ष हो पाएगा। साधारण जीवन में जब माँ जन्म देती है तो माँ मर नहीं जाती; पीड़ा झेलती है, बच जाती है। मरने की घड़ी आ जाती है, चिल्लाती है, चीखती है बच्चे को जन्म देते वक्त। ऐसा लगता है, मरी, मरी – मरती नहीं, बच जाती है। लेकिन बीज नहीं बचता; टूट जाता है, तभी तो वृक्ष होता है।

जब तुम्हारे भीतर परमात्मा का जन्म होगा तो तुम न बचोगे, तुम तो मिट जाओगे। तुम्हारी मृत्यु ही उसका जन्म है। तुम्हारा मिट जाना ही उसका होना है।

इस मृत्यु से बचने के लिए लोगों ने परमात्मा की न मालूम कितनी धारणाएँ कर ली हैं, जैसे वह कहीं बैठा है, और तुम्हें राह खोजनी है। वह कहीं बैठा नहीं है – उसे जन्म देना है। तुम्हें गर्भ खोजना है, राह नहीं।

काम से प्रेम पैदा होता है; प्रेम से भक्ति पैदा होती है; भक्ति से भगवान पैदा होता है। भक्ति भगवान की जननी है।

तो जब तक तुम्हारे भीतर भक्ति का आविर्भाव नहीं हुआ है, तुम भगवान को न देख पाओगे, न समझ पाओगे, न पहचान पाओगे। तुम्हारे पास आँख ही नहीं।



तुम अंधे हो। और प्रकाश के सम्बंध में बातें सुन-सुन के आँख न खुल जाएगी। आँख की चिकित्सा करनी होगी। अंधेपन को मिटा डालना होगा।

आँख खुलेगी तो तुम प्रकाश देखोगे; भक्ति खुलेगी तो तुम भगवान देखोगे। जब भक्ति की आँख खुलती है तो सब तरफ परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

दूसरा प्रश्न : इस कथन में क्या सच्चाई है कि भक्ति है द्वैत और ज्ञान है अद्वैत ?

जरा भी सच्चाई नहीं है। और यह कथन ज्ञानियों का है। ज्ञानी ऐसा कहते रहे हैं कि भक्ति द्वैत है और ज्ञान अद्वैत। भक्तों से पूछो, भक्ति के सम्बंध में जानना हो तो। तो ज्ञानियों से पूछना गलत जगह पूछना है।

भक्त कहते हैं, भक्ति भी अद्वैत है, ज्ञान भी अद्वैत है – लेकिन भक्ति रसपूर्ण अद्वैत है और ज्ञान सूखा अद्वैत है।

भक्ति है जैसे हरा-भरा उपवन! और ज्ञान है जैसा रेगिस्तान। रेगिस्तान में भी परमात्मा है – कोई इनकार नहीं करता। फिर कुछ हैं जिनको रेगिस्तान भी सुन्दर लगता है; उनको भी कोई इनकार नहीं करता। अपनी-अपनी मौज।

लेकिन हरियाली की बात ही कुछ और है! फूल खिलते हैं! वृक्षों की छाया है! झरनों का नाद है! पक्षियों के गीत हैं! हरियाली की कुछ बात ही और है!

मरुस्थल भी उसी का है। काँटे भी उसी के हैं, फूल भी उसी के हैं।

भक्ति रसपूर्ण अद्वैत है। दो तो मिट जाते हैं, लेकिन जो एक बचता है, वह रूखा-सूखा नहीं है। जो एक बचता है, वह प्रेम से भरपूर है, लबालब है। जो एक बचता है वह ज्ञानी की तरह, गणित की तरह रूखा-सूखा नहीं; काव्य की तरह है, मधुरता से भरा है।

ज्ञानी का परमात्मा तर्क की निष्पत्ति है। भक्त का परमात्मा प्रेम का आविर्भाव है। तर्क भी उसी का है, याद रखना। तर्क का कोई विरोध नहीं है, तर्क भी उसी का है। और किन्हीं को तर्क में ही स्वाद आता हो, तो वह मार्ग भी पहुँचा देता है।

लेकिन प्रेम की बात ही और है।

भक्तों ने अक्सर इस सम्बंध में बहुत कुछ कहा नहीं, क्योंकि भक्त कहते कम, जीते ज्यादा हैं। ज्ञानियों ने वक्तव्य दिये हैं तो ज्ञानियों के वक्तव्य प्रचलित हो गये हैं। और भक्त सुन लेते हैं और मुस्कराते हैं। वे इतनी भी झंझट नहीं लेते कि इनका खंडन करें, क्योंकि खंडन भी ज्ञानियों का ही धंधा है। खंडन-मण्डन दोनों

ही उन्हीं के हैं। भक्त उस उलझाव में पड़ता नहीं है। बजाय तर्क के जाल में पड़ने के, भक्त नाच लेता है। जब ऊर्जा का आविर्भाव होता है तो गीत गा लेता है, गुनगुना लेता है। तुम उसकी आँखों में उसके परमात्मा को पाओगे, उसके शब्दों में नहीं। शब्द के सम्बंध में भक्त थोड़ा गूँगा है। उसकी मधुशाला उसकी आँखों में है।

ज्ञानी की आँख तुम बंद पाओगे। शंकराचार्य बैठे होंगे या बुद्ध बैठे होंगे, तो आँख बंद होगी।

भक्त की आँख तुम परमात्मा की शराब से भरी हुई पाओगे। खुली हो या बंद, भक्त की आँख तुम्हें नशे में डुबा देगी।

भक्त एक मस्ती में जीता है। उसने बेहोशी में ही होश जाना है। उसने तल्लीनता में ही अपने होने को छुआ है। उसने मिट कर ही अपने अस्तित्व की पहचान की है।

लेकिन फर्क तुम देख सकते हो। भक्त भी अद्वैत को ही उपलब्ध होता है; लेकिन उसका अद्वैत ज्ञानी के अद्वैत से बड़ा भिन्न है। अद्वैत को उपलब्ध हो कर भी भक्त द्वैत की ही भाषा का उपयोग करता है।

इसे थोड़ा समझ लेना ज़रूरी है। इसलिए ज्ञानी का वक्तव्य ठीक भी मालूम पड़ता है कि भक्ति है द्वैत और ज्ञान है अद्वैत। लेकिन भक्त यह कहता है, भाषा तो जहाँ भी होगी, द्वैत की ही होगी। भाषा का अर्थ ही दो है। बोलने का अर्थ ही दूसरे को स्वीकार कर लेना है। बोले कि दूसरा आया। बोलने का मतलब ही संवाद है, दो की मौजूदगी है।

अगर तुमने यह भी कहा कि अद्वैत है, तो किससे कह रहे हो? तो कहने वाला और सुनने वाला तो दो हो गये। अगर तुमने यह भी सिद्ध करने की कोशिश की कि उसके सिवाय कुछ भी नहीं है, तो यह सिद्ध करने की कोशिश क्यों कर रहे हो? अगर उसके सिवाय कुछ भी नहीं है तो तुम बिलकुल पागल हो। जब है ही नहीं तो कोशिश क्या, प्रयास क्या है?

जो लोग सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि संसार माया है वे कम-से-कम इतना तो संसार को मानते ही हैं कि है, और माया सिद्ध करना है। अगर संसार माया ही है तो बात खत्म हो गयी, सिद्ध क्या करना है! सुबह उठ के तुम यह तो सिद्ध नहीं करते कि जो सपने देखे रात वे झूठ थे। इतना जानते ही कि सपने थे, बात खत्म हो गयी, कौन सिद्ध करता है! कौन झंझट में पड़ता है!

अगर सुबह उठ के कोई आदमी सिद्ध करने लगे कि रात मैंने जो सपना देखा वह झूठ था, तो एक बात पक्की है कि इस आदमी को अभी भी सपने पे थोड़ा भरोसा है, अन्यथा किससे सिद्ध कर रहा है? और लोग हँसेंगे, जग-हँसाई होगी कि



यह पागल देखो, कहता है सपना झूठ है! यह कहना भी व्यर्थ है। सपना इतना झूठ है कि उसे झूठ कहना भी उसे सच्चाई देना है। इसलिए तो कोई सुबह उठ के विवाद में नहीं पड़ता। कोई कहता ही नहीं किसी को कि सपना देखा, वह झूठ था।

भक्त कहता नहीं कि संसार माया है। भक्त जानता है। ज्ञानी कहता है। भक्त कहता नहीं कि परमात्मा एक है। किससे कहना है? किसको सुनाना है? एक ही हैं, इसलिए कहने की बात, सुनाने की बात व्यर्थ है। भक्त जीता है उस ऐक्य को।

लेकिन भक्त की भाषा द्वैत की है, क्योंकि वह कहता है, सारी भाषा द्वैत की है। फिर प्रेम की भाषा तो द्वैत की होगी ही। तो भक्त भगवान से बोलता है, बातें करता है। ज्ञानी को यही अखरता है।

मीरा खड़ी है कृष्ण के मंदिर में, बातें कर रही है, शिकायतें भी करती हैं, रूठ भी जाती है। ज्ञानी को ये बातें नहीं जँचतीं। ज्ञानी को लगता है, यह पागलपन हुआ। एक ही है। मीरा भी जानती है। लेकिन वह जो एक है, वह कोई मुर्दा इकाई नहीं है। उस एक में बड़ा जीवंत विरोधाभास है। वह जो एक है, वह ऐसा एक नहीं है कि जिसमें दो का उपाय न हो।

यह थोड़ा समझना पड़े।

वह ऐसा एक है जिसमें दो एक हो गये हैं। वह प्रेम की एकता है, गणित की एकता नहीं है।

अगर तुमने कभी किसी को प्रेम किया तो तुम एक अनूठे अनुभव में आते हो, वह अनूठा अनुभव तर्कातीत है।

जब तुम किसी को प्रेम करते हो तो एक अनूठी प्रतीति होनी शुरू होती है कि तुम दो भी हो और एक भी। स्वाभावतः दो हो, नहीं तो कौन किसको प्रेम करेगा? कौन किसके लिए आँसू बहायेगा? कौन किसके लिए नाचेगा? निश्चित ही दो हो। लेकिन फिर भी दो नहीं हो। कहीं द्वि-पन खो गया है। कहीं किनारे टूट गये हैं और धाराएँ एक-दूसरे में प्रवेश कर गईं हैं। कहीं किसी भीतर के जगत में एक भी हो। ऊपर-ऊपर दो हो, भीतर-भीतर एक हो। शायद हर घड़ी ऐसा न भी हो पाता हो; कभी-कभी ऐसी घड़ी आती हो, जब एक हो जाते हो, बाकी घड़ी दो रहते हो — लेकिन आती है ऐसी घड़ी जब विरोधाभास घटता है, दो के बीच एकता सधती है।

भक्त का अद्वैत जीवंत है। जीवंत का अर्थ है: एकरस नहीं है। एक तो तुम वीणा बजाओ और एक ही स्वर को गुंजाते रहो — बेरस हो जाएगा। बहुत-से स्वर उठाओ, लेकिन सारे स्वरों के बीच एक संवाद हो, एक संगीत हो — संगीत एक हो, स्वर बहुत हों; लयबद्धता एक हो, छंद एक हो — तब जीवंत, तब ऊब न आएगी।

भक्त परमात्मा को जीवंत – गणित की नहीं, संगीत की – एक लयबद्धता के रूप में देखता है। प्रेमी-प्रेयसी या प्रेयसी और प्रेमी दो भी बने रहते हैं और कहीं एक भी हो गये होते हैं। मीरा कृष्ण के सामने नाचती है, बोलती है, बात करती है : दो तो है और फिर भी एक है।

बोलने के लिए दो होना ज़रूरी है। और ध्यान रखो, अगर सच में ही बोलना हो तो एक होना भी ज़रूरी है।

इसलिए भक्त की बात बिलकुल तर्कातीत है। जो जियेगा वही जानेगा।

अद्वैतवादी की बात तो तुम शास्त्र से भी समझ सकते हो; भक्ति की बात केवल शास्त्र से समझ में न आएगी। अद्वैतवादी की बात तो तर्कनिष्ठ है; जिनके पास भी थोड़ी तर्क की क्षमता है, वे समझ लेंगे। लेकिन भक्त की बात अनुभव, अस्तित्वगत अनुभव से आती है।

तो मैं तुमसे कहता हूँ, भक्त भी अद्वैत की बात कर रहा है, लेकिन उसका अद्वैत की बात करने का ढंग प्रेम है। उसका लहजा अलग है। उसकी शैली अलग है।

और मैं तुमसे कहता हूँ, भक्त का अद्वैत ज्यादा बहुमूल्य है। उसमें प्राण धड़कते हैं, श्वास चलती है। ज्ञानी का अद्वैत बिलकुल मुर्दा है, मरी लाश की तरह। ज्ञानी का अद्वैत ऐसा है जैसे कोई नदी एक ही किनारे के सहारे बहने की चेष्टा करे। भक्त का अद्वैत ऐसा है जैसा सभी नदियाँ दो किनारे के सहारे बहती हैं।

लेकिन तुमने कभी गौर किया : नदी को दो किनारों के सहारे की ज़रूरत है, लेकिन दोनों किनारे नीचे नदी की गहराई में तो एक हो जाते हैं; ऊपर से दो दिखायी पड़ते हैं, अलग-अलग दिखायी पड़ते हैं। तुम्हें एक किनारे से दूसरे किनारे जाना हो तो नाव पर सवार होना पड़ता है। लेकिन नदी की गहराई में तो दोनों किनारे मिले हैं, एक ही है। एक है और फिर भी दो है। दो है और फिर भी एक है।

भक्ति के सम्बंध में कुछ जानना हो तो ज्ञानियों के द्वारा मत जानना। फिर भक्ति का ही स्वाद लेना पड़ेगा। यह बात उधार जानी जा सके, ऐसी नहीं। और ज्ञानी से जानना तो बिलकुल गलत जगह से जानना है। ज्ञानी को इसका कोई स्वाद ही नहीं है। भक्त से ही पूछना। और भक्त से पूछने का ढंग भी अलग होगा। पूछने का एक ही ढंग हो सकता है कि तुम भी थोड़ा अपने को रंगना उसी रंग में। भक्त की बात को तुम दूर खड़े रह-रह के न समझ पाओगे। उतरना। उसकी मस्ती में थोड़े डूबना। भक्त के साथ थोड़ा पागल होना पड़ेगा। भक्त के साथ थोड़ा भक्ति में डुबकी लगानी पड़ेगी।

भक्ति को समझना महँगा सौदा है। ज्ञान को समझने में कोई अड़चन नहीं



है : शास्त्र से समझ सकते हो, किनारे खड़े रह के समझ सकते हो। भक्त की चुनौती गहरी है।

एक मित्र ने पूछा है कि संन्यास के लिए गैरिक वस्त्र क्यों ज़रूरी हैं।

उतरना हो तो थोड़ा पागल होना ज़रूरी है। ये पागल होने के रास्ते हैं, और कुछ भी नहीं। ये तुम्हारी होशियारी को तोड़ने के रास्ते हैं, और कुछ भी नहीं। ये तुम्हारी समझदारी को पोंछने के रास्ते हैं, और कुछ भी नहीं।

गैरिक वस्त्र पहना दिये, बना दिया पागल ! अब जहाँ जाओगे, वहीं हँसाई होगी। जहाँ जाओगे, लोग वहीं चैन से न खड़ा रहने देंगे। सब आँखें तुम पे होंगी। हर कोई तुमसे पूछेगा : 'क्या हो गया ?' हर आँख तुम्हें कहती मालूम पड़ेगी : 'कुछ गड़बड़ हो गया। तो तुम भी इस उपद्रव में पड़ गये ? सम्मोहित हो गये ?'

गैरिक वस्त्रों का अपने-आप में कोई मूल्य नहीं है। कोई गैरिक वस्त्रों से तुम मोक्ष को न पा जाओगे।

गैरिक वस्त्रों का मूल्य इतना ही है कि तुमने एक घोषणा की कि तुम पागल होने को तैयार हो। तो फिर आगे और यात्रा हो सकती है। यहीं तुम डर गये तो आगे क्या यात्रा होगी ?

आज तुम्हें गैरिक वस्त्र पहना दिये, कल एकतारा भी पकड़ा देंगे। उंगली हाथ में आ गयी तो पहुँचा भी पकड़ लेंगे। यह तो पहचान के लिए है कि आदमी हिम्मतवर है या नहीं। हिम्मतवर है तो धीरे-धीरे और भी हिम्मत बढ़ा देंगे। आशा तो यही है कि कभी तुम सड़कों पे मीरा और चैतन्य की तरह नाच सकोगे।

आदमी ने हिम्मत ही खो दी है।

भीड़ के पीछे कब तक चलोगे ?

ये गैरिक वस्त्र तुम्हें भीड़ से अलग करने का उपाय है, तुम्हें व्यक्तित्व देने की व्यवस्था है – ताकि तुम भीड़ से भयभीत होना छोड़ दो; ताकि तुम अपना स्वर उठा सको, अपने पैर उठा सको, पगडंडी को चुन सको।

राजमार्गों से कोई कभी परमात्मा तक न पहुँचा है, न पहुँचेगा; पगडंडियों से पहुँचता है। और हम धीरे-धीरे इतने आदी हो गये हैं भीड़ के पीछे चलने के कि ज़रा-सा भी भीड़ से अलग होने में डर लगता है।

जिन मित्र ने पूछा है, किसी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं, बुद्धिमान हैं, सुशिक्षित हैं – फिर विश्वविद्यालय में गैरिक वस्त्र पहन के जाएँगे, तो अड़चन मैं समझता हूँ। वैसे ही अध्यापक मुसीबत में हैं; गैरिक वस्त्र – पूरी फजीहत हुई रखी है !

प्रश्न पूछा है तो जानता हूँ कि मन में आकांक्षा भी जगी है, नहीं तो पूछते क्यों। अब सवाल है : हिम्मत से चुनेंगे कि फिर हिम्मत छोड़ देंगे, साहस खो देंगे ? कठिन तो होगा। कठिन हो, यही तो पूरी व्यवस्था है।

पूछा है कि माला वस्त्रों के ऊपर ही पहननी क्यों ज़रूरी है। इच्छा पहनने की साफ है, मगर कपड़ों के भीतर पहनने की इच्छा है। नहीं, भीतर पहनने से न चलेगा; वह तो न पहनने के बराबर हो गया। वह बाहर पहनाने के लिए कारण है। कारण यही है कि तुम्हें किसी तरह भी भीड़ के भय से मुक्त करवाना है– किसी भी तरह। किसी भी भाँति तुम्हारे जीवन से यह चिंता चली जाए कि दूसरे क्या कहते हैं, तो ही आगे कदम उठ सकते हैं। अगर परमात्मा का होना है तो समाज से थोड़ा दूर होना ही पड़ेगा। क्योंकि समाज तो बिलकुल ही परमात्मा का नहीं है। समाज के ढाँचे से थोड़ा मुक्त होना पड़ेगा।

न तो माला का कोई मूल्य है, न गैरिक वस्त्रों का कोई मूल्य है; अपने-आप में कोई मूल्य नहीं है– मूल्य किसी और कारण से है। अगर यह सारा मुल्क ही गैरिक वस्त्र पहनता हो तो मैं तुम्हें गैरिक वस्त्र न पहनाऊँगा; तो मैं कुछ और चुन लूंगा : काले वस्त्र, नीले वस्त्र। अगर यह सारा मुल्क ही माला पहनता हो तो मैं तुम्हें माला न पहनाऊँगा; कुछ और उपाय चुन लेंगे।

बहुत उपाय लोगों ने चुने। बुद्ध ने सिर घोंट दिया भिक्षुओं का : उपाय है। अलग कर दिया। महावीर ने नग्न खड़ा कर दिया लोगों को : उपाय है।

थोड़ा सोचो, जिन लोगों ने हिम्मत की होगी महावीर के साथ जाने की और नग्न खड़े हुए होंगे, ज़रा उनके साहस की खबर करो। ज़रा विचारो। उस साहस में ही सत्य ने उनके द्वार पर आ के दस्तक दे दी होगी।

बुद्ध ने राजपुत्रों को, सम्पत्तिशालियों को भिखारी बना दिया द्वार-द्वार का, भिक्षापात्र हाथ में दे दिये। जिनके पास कोई कमी न थी, उन्हें भिखारी बनाने का क्या प्रयोजन रहा होगा ? अगर भिखारी होने से परमात्मा मिलता है तो भिखमंगों को कभी का मिल गया होता। नहीं, भिखारी होने का सवाल न था– उन्हें उतार के लाना था वहाँ, जहाँ वे निपट पागल सिद्ध हो जाएँ। उन्हें तर्क की दुनिया के बाहर खींच लाना था। उन्हें हिसाब-किताब की दुनिया के बाहर खींच लाना था। जो साहसी थे, उन्होंने चुनौती स्वीकार कर ली। जो कायर थे, उन्होंने अपने भीतर तर्क खोज लिये; उन्होंने कहा, 'क्या होगा सिर घुटाने से ? क्या होगा नग्न होने से ? क्या होगा गैरिक वस्त्र पहनने से ?'

यह असली सवाल नहीं है– असली सवाल यह है : 'तुम में हिम्मत है ?' पूछो यह बात कि क्या होगा हिम्मत से। हिम्मत से सब कुछ होता है। साहस के अतिरिक्त और कोई उपाय आदमी के पास नहीं है। दुस्साहस चाहिए !



लोग हँसेंगे। लोग मखौल उड़ाएँगे। और तुम निश्चित अपने मार्ग पर चलते जाना। तुम उनकी हँसी की फिक्र न करना। तुम उनकी हँसी से डाँवाँ-डोल न होना। तुम उनकी हँसी से व्यथित मत होना। और तुम पाओगे, उनकी हँसी भी सहारा हो गयी; और उनकी हँसी ने भी तुम्हारे ध्यान को व्यवस्थित किया; और उनकी हँसी ने भी तुम्हारे भीतर से क्रोध को व्यवस्थित किया; और उनकी हँसी ने भी तुम्हारे जीवन में करुणा लायी।

...समाज के दायरे से मुक्त करने की व्यवस्था है। जिसको मुक्त होना हो और जिसे थोड़ी हिम्मत हो अपने भीतर, भरोसा हो थोड़ा अपने पर; अगर तुम बिलकुल ही बिक नहीं गये हो समाज के हाथों; और अगर तुमने अपनी सारी आत्मा गिरवी नहीं रख दी है– तो चुनौती स्वीकार करने जैसी है।

सत्य कमज़ोरों के लिए नहीं है, साहसियों के लिए है।

तीसरा प्रश्न : सुरक्षा के लिए मुझे जो नाटक करना पड़ता है, उसे करूँ या छोड़ दूँ ? और अब तो नाटक भी साथ छोड़ रहा है। मुझे सही मार्ग बताने की कृपा करें।

सारा जीवन ही एक नाटक है–सम्बंधों का, बाज़ार का, घर-गृहस्थी का। सारा जीवन ही अभिनय है। छोड़ कर कहाँ जाओगे ? भाग कर कहाँ जाओगे ? जहाँ जाओगे, वहीं फिर कोई नाटक करना पड़ेगा।

इसलिए भगोड़ेपन के मैं पक्ष में नहीं हूँ।

कुशल अभिनेता बनो। भागो मत। जान के अभिनय करो, बेहोशी में मत करो, होशपूर्वक करो। होश सधना चाहिए। हज़ार काम करने पड़ेंगे। और शायद उनका करना ज़रूरी भी है। पर होशपूर्वक करना ज़रूरी है। धीरे-धीरे तुम पाओगे कि यह जीवन जीवन न रहा, बिलकुल नाटक हो गया, तुम अभिनेता हो गये।

अभिनेता होने का अर्थ है कि तुम जो कर रहे हो, उससे तुम्हारी एक बड़ी दूरी हो गयी। जैसे कि कोई राम का अभिनय करता है रामलीला में, तो अभिनय तो पूरा करता है, राम से बेहतर करता है; क्योंकि राम को कोई रिहर्सल का मौका न मिला होगा। पहली दफा करना पड़ा था, उसके पहले कोई किया न था कभी। तो जो कई दफे कर चुका है, और बहुत बार तैयारी कर चुका है, वह राम से बेहतर करेगा। रोएगा जब सीता चोरी जाएगी। वृक्षों से पूछेगा, 'मेरी सीता कहाँ है ?' आँख से आँसुओं की धारें बहेंगी। और फिर भी भीतर पार रहेगा। भीतर जानता है कि कुछ लेना-देना नहीं है। मंच के पीछे उतर गये, खत्म हो गयी बात। मंच के पीछे राम और रावण साथ बैठ के चाय पीते हैं, मंच के बाहर

धनुष-बाण ले के खड़े हो जाते हैं। मंच पर दुश्मनी है; मंच के पार कैसी दुश्मनी!

मैं तुमसे कहता हूँ कि असली राम की भी यही अवस्था थी। इसलिए तो हम उनके जीवन को रामलीला कहते हैं– लीला! वह नाटक ही था। कृष्णलीला! वह नाटक ही था। असली राम के लिए भी नाटक ही था।

नाटक का अर्थ होता है : जो तुम कर रहे हो, उसके साथ तादात्म्य नहीं है; उसके साथ एक नहीं हो गये हो; दूर खड़े हो; हजारों मील का फासला है– तुम्हारे कृत्य में और तुम में। तुम कर्ता नहीं हो, साक्षी हो–नाटक का इतना ही अर्थ है – तुम देखने वाले हो। वे जो मंच के सामने बैठे हुए दर्शक हैं, उनमें कहीं तुम भी छिपे बैठे हो; मंच पर काम भी कर रहे हो और दर्शकों में छिपे भी बैठे हो, वहाँ से देख भी रहे हो। भीतर बैठ कर तुम देख रहे जो हो रहा है, खो नहीं गये हो, भूल नहीं गये हो। यह भ्रांति तुम्हें नहीं हो गयी है कि मैं कर्ता हूँ। तुम जानते हो : एक नाटक है, उसे तुम पूरा कर रहे हो।

तो मैं तुमसे न कहूँगा कि भागो। भाग कर कहाँ जाओगे? मैं तुमसे यह कहूँगा कि भागना भी नाटक है। जहाँ तुम जाओगे, वहाँ भी नाटक है। तुम संन्यासी भी हो जाओ, तो भी मैं तुमसे कहूँगा : संन्यास भी नाटक है, अभिनय है। वस्त्र ऊपर ही ओढ़ना– आत्मा पे न पड़ जाएँ। यह रंग ऊपर-ही-ऊपर रहे, भीतर न हो जाए। भीतर तो तुम पार ही रहना। सफेद कपड़े पहनो कि गेरुआ पहनो कि काले पहनो, वस्त्र बाहर ही रहें, भीतर न आ जाएँ। तुम्हारी आत्मा निर्वस्त्र रहे, नग्न रहे। तुम्हारे चैतन्य पर कोई आवरण न हो। वहाँ तो तुम मुक्त ही रहो – सब वस्त्रों से, सब आकारों से।

तुम्हारा कोई नाम-धाम है, उसे तुम छोड़ के भाग आओगे; मैं तुम्हें एक नया नाम दे दूँगा, उस नाम से भी दूरी रहे, उस नाम से भी तादात्म्य मत कर लेना। पुराना नाम भी तुम्हारा नहीं था, यह भी तुम्हारा नहीं है – तुम अनाम हो। पुराने से छुड़ाया, क्योंकि उससे तुम्हारे एक होने की आदत बन गयी थी; नया दिया, इसलिए नहीं कि अब इसे तुम आदत बना लो, अन्यथा यह भी व्यर्थ हो जाएगा।

अपने को दूर रखने की कला संन्यास है।
अभिनेता होने की कला संन्यास है।
जहाँ तुम कर्ता हुए, वहीं गृहस्थ हो गये।
जहाँ तुम द्रष्टा रहे, वहीं संन्यस्त हो गये।
तो कहीं से भागना नहीं है।
कहीं जाना नहीं है।
जहाँ हो वहीं जागना है।



'आता है जज्बे दिल को वह अन्दाजे मैकशी
रिन्दों में रिन्द भी रहें, दामन भी तर न हो।'

पीने वालों में पीने वाले भी बन गये, और दामन भी तर न हो। पियक्कड़ों में पियक्कड़ जैसे हो गये, लेकिन बेहोशी न पकड़े, दाग न लगे, जागरण बना रहे। तो संसार में जो चल रहा है – घर है, गृहस्थी है, बच्चे हैं, पत्नी है, पति है – ठीक है। भाग के भी क्या होगा? कहाँ जाओगे? जहाँ जाओगे, वहीं संसार है। फिर तुम अगर बिना बदले वहाँ जाओगे, तो तुम वहीं संसार खड़ा कर लोगे।

संसार से भागने का एक ही रास्ता है, वह जागना है। तो जहाँ हो, वहीं जाग जाओ। और इस तरह करने लगो जैसे यह सब नाटक है। अगर कोई व्यक्ति इतनी ही याद रख सके कि सब नाटक है, तो और कुछ करने को नहीं बचता। इतना ही करने जैसा है :

'आशियाँ में न कोई जहमत न कफस में तकलीफ
सब बराबर है तबीयत अगर आज़ाद रहे।'

फिर कोई फर्क नहीं पड़ता, घर में कि बाहर, घर में कि कैद में। तबीयत अगर आज़ाद रहे। और तबीयत की आज़ादी क्या है?

साक्षी-भाव तबीयत की आज़ादी है। साक्षी पर कोई बंधन नहीं है।

साक्षी ही एकमात्र मुक्ति है। जहाँ तुम कर्ता बने कि तुमने जंजीरें ढालीं। जहाँ तुमने कहा, मैं कर्ता हूँ, बस वहीं तुम कैद में पड़े। अगर तुम देखते ही रहे, अगर तुमने देखने का सातत्य रखा, अविच्छिन्न धारा रही द्रष्टा की, फिर कोई तुम पर बंधन नहीं है। चैतन्य को न कोई बाँधने का उपाय है, न कोई जंजीरें हैं, न कोई दीवाल है।

'सब बराबर है, तबीयत अगर आज़ाद रहे।'

चौथा प्रश्न : आपने कहा कि ज्ञान भक्ति के लिए बाधा है, फिर महातार्किक और महापंडित चैतन्य एकदम से भक्त कैसे हो गये?

– क्योंकि वे महातार्किक थे और महापंडित थे। छोटे-मोटे पंडित होते तो न हो पाते। इतने बड़े तार्किक थे कि उनको अपने तर्क की व्यर्थता भी दिखायी पड़ गयी। इतने बड़े पंडित थे कि अपना पांडित्य भी कचरा मालूम पड़ा। छोटे पंडित पांडित्य में अटके रह जाते हैं। छोटे तार्किक तर्क से ऊपर नहीं उठ पाते।

अगर तुम सच में ही विचार करने में कुशल हो तो आज नहीं कल तुम्हें विचार की व्यर्थता दिखायी पड़ जाएगी। वह विचार की आखिरी निष्पत्ति है। विचार के प्रति जाग जाना कि विचार व्यर्थ है – विचार का आखिरी निष्कर्ष है।

जैसे काँटे से हम काँटा निकाल लेते हैं, ऐसा महातर्क से तर्क निकल जाता है और महाविचार से विचार निकल जाता है।

चैतन्य महापंडित थे। छोटे-मोटे पंडित होते तो डूब जाते। वे छोटे-मोटे पंडित नहीं थे, नहीं तो अकड़ जाते, भूल ही जाते अपने पांडित्य में। सच में ही पंडित थे।

पंडित शब्द बड़ा अर्थपूर्ण है। खो गया उसका अर्थ। गलत हो गया उसका अर्थ। लेकिन शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। आता है प्रज्ञा से – प्रज्ञावान! जागा हुआ!

पांडित्य से पांडित्य का कोई सम्बंध नहीं है – प्रज्ञा से है! कितना तुम जानते हो, इससे सम्बंध नहीं है – कितने तुम जागे हुए हो ...।

तो चैतन्य ने देखा : इतना जान लिया, कुछ भी तो हाथ न आया; सब शास्त्र देख डाले, भिखारी के भिखारी रहे; तर्क बहुत कर लिया, बहुतों को तर्क में पराजित किया, लेकिन भीतर कोई सम्पत्ति तो हाथ न लगी, भीतर का अँधेरा तो अब भी वैसा का वैसा है। तर्कजाल से ज्योति न जली, भीतर का प्रकाश न मिला। महापंडित थे, बात समझ में आ गयी। फेंक दी पोथी, फेंक दिये तर्कजाल। बात ही छोड़ दी विचार की। एक क्षण में यह क्रांति घटी।

अगर तुम अभी भी उलझे हो पांडित्य में, अगर तुम अभी भी बुद्धिमानी में उलझे हो, तो समझना कि बुद्धिमानी तुम्हारी बहुत बड़ी नहीं है, छोटी-मोटी है। अधकचरे पंडित ही पंडित रह जाते हैं। वास्तविक पंडित तो मुक्त हो जाते हैं।

तो मैं तुमसे कहता हूँ, अगर तुम तर्क में अभी भी रस लेते हो, थोड़ा और रस लेना। जल्दी नहीं है कोई, अनंत काल शेष है, कोई घबड़ाहट नहीं है। और थोड़ा रस लेना। तर्क में और थोड़ी प्रगाढ़ता पाओ। और थोड़े प्रवीण हो जाओ। और थोड़ी गहरी सूक्ष्मता में जाओ। एक दिन तुम अचानक पाओगे : तुम्हारा तर्क ही तुम्हें उस जगह ले आया, जहाँ दर्शन हो जाते हैं कि तर्क व्यर्थ है। शास्त्र ही वहाँ ले आते हैं, जहाँ शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं। और इसके पहले भागना मत। इसके पहले भागोगे, तो तुम्हारा पांडित्य अटका ही रहेगा। तुम फिर चाहे गीत गाने लगो, भक्ति करने लगो, पूजा करने लगो – तब तुम पूजा के पंडित हो जाओगे; तब तुम भक्ति के पंडित हो जाओगे – लेकिन तब पंडित तुम रहोगे ही; तुम निर्विकार न हो पाओगे।

उस निर्विकार को पाना हो तो विचार को उसकी आखिरी घड़ी तक खींच के ले जाना।

सब चीजें उम्र पा के मर जाती हैं। हर बच्चा अगर बीच में ही न मर जाए तो बूढ़ा होगा ही। हर जवानी बुढ़ापे पे पहुँच जाती है। जैसे चीज़ें बढ़ती हैं,



ढलती हैं। सुबह हुई, साँझ होने लगी। सुबह हुई, साँझ होने लगी! विचार किया, निर्विचार करीब आने लगा।

घबड़ाओ मत। थोड़े बढ़े चलो!

मैं तुमसे जल्दी करने को नहीं कहता। यह मेरी सतत अभिलाषा है, और सतत इस पे मेरा ज़ोर है कि तुम जल्दी मत करना – पकना। परिपक्व हुए बिना कुछ भी नहीं होता। परिपक्वता सब कुछ है।

तो मेरी बातें सुन के तुम तर्क मत छोड़ देना। मैंने भी उसे पूरा करके ही छोड़ा। और मैं जानता हूँ, जो जल्दी करके छोड़ देगा, अधूरे में छोड़ देगा, वह अधूरा रह जाएगा। चीज़ों को पहुँचने दो उनकी आखिरी ऊँचाई तक; वे अपने से ही ढल जाती हैं। तुम इतना ही कर सकते हो कि सहारा दो, पहुँचने दो उन्हें उनकी आखिरी ऊँचाई तक – वे अपने से ही गिर जाती हैं।

सुबह अपने-आप साँझ हो जाती है। तुम्हें भर-दुपहरी में आँख बंद करके साँझ बनाने की कोई ज़रूरत नहीं। भर-दुपहरी में साँझ को विश्वास कर लेने की कोई ज़रूरत नहीं है। और ऐसी साँझ झूठ होगी। झूठ से कहीं कोई परमात्मा तक पहुँचा है?

अधिक लोगों की अस्तिकता झूठ है। उनके भजन-कीर्तन झूठ हैं। अभी उन्होंने तर्क की कसौटी भी पूरी न की थी। अभी नास्तिक भी न हुए थे और आस्तिक हो गये। अभी इनकार भी न किया था और हाँ भर दी। अभी लड़े भी न थे और समर्पण कर दिया। टक्कर देनी थी ठीक, लड़ना था ठीक, जूझना था। जल्दी क्या है समर्पण की?

कच्चा समर्पण काम न आएगा।

तो मैं नास्तिकता सिखाता हूँ, ताकि तुम किसी दिन आस्तिक हो सको। और मैं तुमसे कहता हूँ, तर्क करना। मैं उन कमजोर लोगों में नहीं हूँ जो तुमसे कहते हैं, तर्क छोड़ो। मैं तुमसे कहता हूँ, तर्क छूट जाएगा, तुम कर तो लो। मैंने करके देखा और छूट गया। और मैं उनको भी जानता हूँ, जिन्होंने बिना किये छोड़ा और अब तक नहीं छूटा, कभी न छूटेगा।

जीवन अनुभव से आता है।

तुम नास्तिक हो जाओ। घबड़ाओ मत। इतना डर क्या है? परमात्मा है। नास्तिक होने में इतनी कोई घबड़ाने की जरूरत नहीं है। तुम्हारे नास्तिक होने से वह नाराज़ न हो जाएगा।

जीसस ने कहा है, एक बाप ने अपने बेटे को कहा कि तू जा, बगीचे में काम कर, फसल पक गयी है। और उस बेटे ने कहा, 'अभी जाता हूँ। यह गया!' लेकिन गया नहीं। दूसरे बेटे से कहा कि तू जा। उसने कहा कि नहीं, मैं न

जाऊँगा, और हजार काम हैं। लेकिन बाद में पछताया और गया।

तो जीसस ने अपने शिष्यों से पूछा, 'इन दोनों बेटों में कौन बाप का प्यारा होगा – जिसने हाँ कही और नहीं गया, या जिसने नहीं की और गया ?' जिसने नहीं की, और गया, वही प्यारा होगा।

तुम जरा गौर करना। अगर तुमने 'नहीं' ही नहीं की, तो तुम्हारी 'हाँ' नंपुसक होगी। उसमें जान ही न होगी। तुमने उपचार से कह दिया। पिता कहते हैं, इसलिए कह दिया कि अच्छा जाते हैं। टालने को कह दिया।

घर के लोग मानते हैं कि ईश्वर है, तुमने मान लिया। परिवार, समाज मानता है, तुमने मान लिया। यह तुम्हारी मान्यता न हुई; यह सामाजिक शिष्टाचार हुआ। शिष्टाचार से तुम मस्जिद गये, मंदिर गये, गुरुद्वारा गये, झुके – यह तुम मंदिर-मस्जिद में न झुके; यह तुम समाज के सामने झुके; यह तुम भय से झुके कि लोग क्या कहेंगे !

लेकिन तुमने इनकार किया। तुमने कहा कि जब तक मैं न समझ लूं, कैसे मानूं, तो तुमने कम-से-कम प्रमाणिकता तो घोषित की; तुमने कम-से-कम यह तो कहा कि मैं बेईमानी यहाँ न करूँगा – बाज़ार में कर लेता हूँ ठीक, चलती है; मंदिर में तो बेइमानी न करूँगा। यहाँ तो प्रमाणिक रहूँगा। यहाँ तो जब हाँ आएगी, तभी कहूँगा। और जब तक भीतर से न उठती हो, मेरे हृदय से न आती हो, तब तक रुकूंगा, तब तक यह गर्दन न झुकेगी।

और मैं तुमसे कहता हूँ, परमात्मा तुमसे नाराज़ न होगा।

तुम्हारी 'नहीं' 'हाँ' की तरफ पहला कदम है। तुम चल पड़े। तुमने कम-से-कम प्रमाणिक होने का पहला कदम तो उठाया। और जिसने ठीक से 'नहीं' कही, वह एक-न-एक दिन 'हाँ' कहेगा, क्योंकि कौन 'नहीं' में जी सकता है, कब तक जी सकता है ! नकार में जीने का कोई उपाय नहीं। 'नहीं' से किसी का भी पेट नहीं भरता और 'नहीं' से न खून बनता है, और न आत्मा में प्राण आते हैं, न श्वासें चलती हैं।

'हाँ' चाहिए ! परम आस्था चाहिए, तभी जीवन का फूल खिलता है। 'नहीं' तुम कहो : आज नहीं कल, तुम खुद ही अपनी 'नहीं' स घबड़ा जाओगे; आज नहीं कल, तुम्हारी 'नहीं' तुम्हें ही काटने लगेगी, सालने लगेगी। तभी ठीक क्षण आया उसे गिराने का।

चैतन्य महापंडित थे, महातार्किक थे – इसीलिए एक दिन भक्त हो सके।

भक्ति कोई सस्ती बात नहीं है। वह तर्क के आगे का कदम है। वह तर्क के आगे की मंजिल है। काव्य कोई छोटी बात नहीं; वह गणित से पार की समझ



है। वह आखिरी मंजिल है, फिर उसके आगे कोई मंजिल ही नहीं। और सब मंजिलें उसके पहले ही पूरी हो जाती हैं।

तो अगर तुम्हारा मन अभी भी तर्कजाल में उलझा हो, पांडित्य में उलझा हो, शास्त्र में उलझा हो, तो यही समझना कि पंडित तुम अधकचरे हो, ज्ञान बचकाना है। थोड़ा और बढ़ाओ इसे। प्रौढ़ होते ही ज्ञान वैसे ही गिर जाता है, जैसे पका हुआ फल वृक्ष से।

पाँचवाँ प्रश्न : सैकड़ों बार भ्रम के टूटने पर भी भरोसा नहीं आता। क्या करूँ ? कैसे भरोसा वापस लौटे ?

सैकड़ों बार भ्रम टूटा है – यह प्रतीति भ्रामक मालूम होती है। सच में न टूटा होगा। तुमने बिना टूटे मान लिया होगा कि टूटा। भ्रम न टूटा होगा। तुमने जल्दी कर ली होगी। कुछ और टूटा होगा और तुमने सोचा, भ्रम टूटा।

समझो : एक स्त्री के प्रेम में तुम पड़े और दुख पाया। तुम सोचते हो भ्रम टूटा ? गलत बात है। इस स्त्री से सम्बंध टूटा, भ्रम नहीं टूटा; क्योंकि भ्रम का इस स्त्री से कोई सम्बंध नहीं है। अब तुम्हारा मन किसी दूसरी स्त्री की तलाश कर रहा है। भ्रम जारी है। दूसरी स्त्री से सम्बंध बन गया, फिर दुख पाया – तुम सोचते हो, भ्रम टूटा ? गलती हुई है, भ्रम नहीं टूटा। मन अब तीसरी स्त्री की तलाश कर रहा है। मन कहे जाता है कि जब तक ठीक स्त्री न मिलेगी, तब तक खोजे चले जाओ, इस बड़ी पृथ्वी पर जरूर कहीं-न-कहीं कोई ठीक स्त्री होगी जो तुम्हें सुख देगी। भ्रम वह है।

एक स्त्री, दो स्त्री, तीन नहीं, लाखों स्त्रियों से तुम लाखों जन्मों में सम्बंध बना चुके और टूट चुके; लाखों पुरुषों से संबंध बन चुके, टूट चुके – भ्रम नहीं टूटा है। इस स्त्री से टूटा – स्त्री से नहीं टूटा है। इस पुरुष से टूटा – पुरुष से नहीं टूटा है। और जब तक पुरुष से न टूटे; स्त्री से न टूटे, तब तक भ्रम कायम है, भ्रम जारी है।

तुमने दस हज़ार रुपये कमाने की आशा बाँधी थी, कमा लिये; सोचा था, सब मिल जाएगा – कुछ भी न मिला। अब तुम सोचते हो, बीस हज़ार होने चाहिए।

तुम कहते हो, भ्रम टूटा ? भ्रम नहीं टटा। भ्रम कायम है। आगे सरक गया है। दस से बीस पे पहुँच गया। एक से दूसरे पे हट गया। एक आकाँक्षा से दूसरी आकाँक्षा पे सरक गया। लेकिन भ्रम जिंदा है।

ऐसा भी हो जाता है कि तुम्हारा सारी संसार की इच्छाओं से मन ऊब गया, तब तुम स्वर्ग की इच्छा करने लगते हो। अब भी भ्रम नहीं टूटा। अब

तुमने स्वर्ग में प्रक्षेपण किया सारी आकाँक्षाओं का। जो तुम्हें यहाँ नहीं मिला, अब तुम वहाँ माँगने लगे।

भ्रम टूट जाए तो सैकड़ों बार नहीं टूटता, एक ही बार टूट जाए तो बस समाप्त हो जाता है। जो सैकड़ों बार भी टूट के और नहीं टूटता, समझना कि भूल हो रही है।

'रेगजारों में बगूलों के सिवा कुछ भी नहीं।'
—रेगिस्तानों में आँधी और बगूलों के सिवा कुछ भी नहीं है।
'रेगजारों में बगूलों के सिवा कुछ भी नहीं
साया-ए-अब्रे-गुरेजां से मुझे क्या लेना!'

— और ज्यादा-से-ज्यादा जो छाया मिल सकती है रेगिस्तान में, वह आकाश में भागती हुई बदलियों की छाया है।

अगर यह समझ में आ गया कि आकाश में भागती बदलियों की छाया में कितनी देर टिकोगे, तो फिर तुम जागोगे।

यहाँ सभी छायाए आकाश में भागती बदलियों की छायाएँ हैं। और जहाँ तुमने मरूद्यान समझे हैं, वहाँ भी रेगिस्तान हैं। और जहाँ तुमने वसंत समझे हैं वहाँ भी पतझड़ छिपे हैं। जहाँ तुमने जीवन समझा है, वह केवल मौत का एक ढंग है।

'ऐ दिल तुझे रोना है तो जी खोल कर रो ले
दुनिया से बढ़ कर न कोई वीराना मिलेगा।'

पर भ्रम अभी टूटे नहीं है।

भ्रम के भी टूटने का भ्रम होता है। वही हुआ है।

तो क्या करो?

अब दुबारा इस भ्रम में मत आना कि भ्रम टूट गया। इतना तो करो, शेष अपने से होगा। जब तक भ्रम न टूटे, तब तक यह भ्रम मत पालना कि भ्रम टूट गया है।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, 'क्रोध करके देख लिया है, कोई सार न पाया। फिर क्रोध जाता नहीं।' तो मैं उनसे कहता हूँ, 'जरूर कुछ सार पाया होगा। झूठ कहते हो। नहीं तो चला जाता। यह जो तुम कहते हो कि कुछ सार न पाया, यह बुद्धिमानी बता रहे हो। लेकिन अगर कुछ सार न पाया हो तो रेत से कौन तेल निकालता रहता है? कोई भी नहीं निकालता। दीवाल से कौन निकलने की कोशिश करता है? कोई भी नहीं करता। एकाध बार करे भी तो सिर टकरा जाता है, रास्ते पे आ जाती है अक्ल, दरवाजे से निकलने लगता है।'

लोग कहते हैं, कामवासना से कुछ भी न पाया, लेकिन फिर भी मन छूटता नहीं। जरूर पाया होगा।



इस भ्रम को छोड़ो।

उधार बुद्धिमानी काम न आएगी। जीवन के अनुभव से जो मिले वही सच है। इस उधार बुद्धिमानी के कारण असली बुद्धिमानी पैदा नहीं हो पाती।

तुमसे मैं कहता हूँ, क्रोध ठीक से करो, पूरी तरह करो, होशपूर्वक करो, देखते हुए करो कि क्या मिल रहा है, मिल रहा है कुछ या नहीं। अगर कुछ भी न पाओगे तो क्रोध समाप्त हो जाएगा, तुम्हें समाप्त करना न पड़ेगा।

कामवासना में उतरो — पूरे होशपूर्वक! देखो : कुछ मिल रहा है? जाग के, स्मरणपूर्वक! शास्त्रों की मत सुनो। साधुओं की बकवास में मत पड़ो। तुम्हारा अनुभव ही तुम्हारे काम आएगा।

उधार ज्ञान बाधा बन जाता है। उससे वास्तविक ज्ञान के जन्म में असुविधा होती है। उधार ज्ञान हटा दो। कामवासना बुरी है — ऐसा भी मत सोचो। जब तक तुम्हारे लिए बुरी नहीं है, तब तक कैसे बुरी है? व्यर्थ है — ऐसा भी मत सोचो। जब तक तुम्हारे अनुभव में व्यर्थ नहीं, तब तक कैसे व्यर्थ है? कौन जाने, ठीक ही हो!

निष्पक्ष मन से, कोरे और खाली मन से जाओ, धारणाएँ लेकर नहीं — और तब तुम अचानक हैरान होओगे : जो शास्त्रों ने कहा है, वह जीवन तुमसे कह देता है। और जब जीवन का शास्त्र तुमसे कहता है, तभी क्रांति घटित होती है, उसके पहले नहीं।

**आखिरी प्रश्न : आपने कहा था कि भक्त कण-कण में भगवान को देखता है। लेकिन जिसे सिर्फ आपका पता है, कण में बसने वाले भगवान का नहीं, उसके लिए क्या साधना होगी?**

'तलाशो-जुस्तजू की सरहदें अब खत्म होती हैं
खुदा मुझको नजर आने लगा इंसाने-कामिल में।'

अगर तुम्हें एक आदमी की पूर्णता में भी परमात्मा नजर आने लगे तो खोज समाप्त हो गयी। अगर तुम्हें मुझमें भी नजर आने लगे तो बात समाप्त हो गयी। फिर मैं खिड़की बन जाऊँगा। तुम फिर मेरे पार देखने में समर्थ हो जाओगे।

नहीं, मैं तुमसे कहता हूँ, तुम्हें मुझ में भी नजर न आया होगा। तुमने मान लिया होगा। तुमने स्वीकार कर लिया होगा। नजर न आया होगा। तुम्हारे भीतर अब भी कहीं संदेह खड़ा होगा। वही संदेह तुम्हारी आँख पे परदा बना रहेगा।

अगर तुम्हें एक में नजर आ गया, तो बात खत्म हो गयी, फिर सब में नजर आने लगेगा।

यह तो ऐसे ही है, जिसने सागर का एक चुल्लू पानी चख लिया, उसे पता चल गया कि सारा सागर खारा है।

तुमने अगर मुझ में परमात्मा चख लिया तो तुमने सारे परमात्मा के सागर को चख लिया। फिर असम्भव है। यह तो कसौटी है, अगर तुम्हें एक में नज़र आया तो सब में नज़र आने लगेगा। अगर सब में नज़र न आ रहा हो तो जिस एक में तुम्हें नज़र आया, वह भी तुमने मान लिया होगा, भीतर संदेह को दबा दिया होगा; लेकिन भीतर तुम्हारी बुद्धि कहे जा रही होगी : परमात्मा, भगवान, भरोसा नहीं आता !

तो फिर से गौर से देखो। मुझ में उतना देखने का सवाल नहीं है; असली परदा तुम्हारे भीतर है। तुम्हारी आँख पर संदेह का परदा है, तो वृक्षों में नहीं दिखायी पड़ता, चाँद-तारों में नहीं दिखायी पड़ता। सब तरफ वही मौजूद है, पत्ती-पत्ती में ! उसके बिना जीवन हो नहीं सकता। जीवन उसका ही नाम है। या जीवन का परमात्मा नाम है। तुम 'परमात्मा' शब्द छोड़ दो भी तो हर्जा नहीं, 'जीवन' शब्द याद रखो। जहाँ जीवन दिखायी पड़े वहीं झुको।

जीवन को ज़रा देखो ! एक बीज से फूटती हुई कोंपलों को देखो ! बहते हुए झरने को देखो ! रात के सन्नाटे, चाँद-तारों को देखो ! किसी बच्चे की आँख में झाँको ! सब तरफ वही है !

परदा तुम्हारे भीतर है। परदा तुम हो।

'तू-ही-तू हो, जिस तरफ देखें उठा कर आँख हम
तेरे जल्वे के सिवा पेशे-नज़र कुछ भी न हो।'

मगर यह परमात्मा के हाथ में नहीं है। अगर यह उसके हाथ में होता तो परदा कभी का उठा दिया गया होता। यह तुम्हारे हाथ में है। यह परदा तुम हो। और तुम जब तक न उठाओ अपना परदा तब तक तुम्हें कहीं भी दिखायी न पड़ेगा।

और मैं तुमसे कहता हूँ, एक जगह दिखायी पड़ जाए तो सब जगह दिखायी पड़ गया। जिसे मंदिर में दिखा उसको मस्जिद में भी दिख गया। देखने की आँख आ गयी, बात समाप्त हो गयी। जिसको एक दीये में रोशनी दिख गयी, क्या उसे सूरज की रोशनी न दिखेगी ?

लेकिन अंधा आदमी ! वह कहता है, दीये में तो दिखती है, लेकिन सूरज की नहीं दिखती। तो हम क्या कहेंगे ? हम कहेंगे, तूने दीये की मान ली। तूने अपने को समझा-बुझा लिया। तू फिर से देख। इस धोखे में मत पड़।

तो मैं तुमसे कहता हूँ, फिर से मेरी आँखों में देखो, फिर से मेरे शून्य में झाँको ! अगर संदेह के बिना देखा, अगर भरोसे से देखा, तो एक झलक काफी है। फिर उस झलक के सहारे तुम सब जगह खोज लोगे। फिर तुम्हारे हाथ में कीमिया पड़ गयी, तुम्हारे हाथ में कुंजी आ गयी।

इतना ही अर्थ है गुरु का कि उससे तुम्हें पहली झलक मिल जाए कि कुंजी हाथ आ जाए, फिर सब ताले उस कुंजी से खुल जाते हैं।

आज इतना ही।

## नौवाँ प्रवचन

दिनांक १९ जनवरी, १९७६; श्री रजनीश आश्रम, पूना

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्यः ॥ ३४ ॥
तत्तु विषयत्यागात् संगत्यागाच्च ॥ ३५ ॥
अव्यावृतभजनात् ॥ ३६ ॥
लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ॥ ३७ ॥
मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ ३८ ॥
महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ ३९ ॥
लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥ ४० ॥
तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥ ४१ ॥
तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ ४२ ॥

## हृदय का आन्दोलन है भक्ति

पहला सूत्र : 'तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः।'

जितने भी हिन्दी में अनुवाद हैं, वे सभी कहते हैं : 'आचार्यगण उस भक्ति के साधन बतलाते हैं।' मूल सूत्र कहता है : आचार्यगण उस भक्ति के साधन गाते हैं। और भेद थोड़ा नहीं है। बतलाना बतलाना ही है– गाना बात और! गाने में कुछ खूबी छिपी है।

भक्ति बोलती नहीं–गाती है।
भक्ति बोलती नहीं–नाचती है।
नृत्य में और गीत में ही उसकी अभिव्यक्ति है।
वेदांत बोलता है; भक्ति गाती है।

गाने का अर्थ हुआ : भक्ति का सम्बंध तर्क से नहीं, विचार से नहीं–हृदय और प्रेम से है। भक्ति का सम्बंध कुछ कहने से कम, कहने के ढंग से ज्यादा है।

भक्ति कोई गणित की व्यवस्था नहीं है–हृदय का आंदोलन है। गीत में प्रगट हो सकती है।

भाषा तो वैसे ही कमजोर है। फिर भाषा में ही चुनना हो तो भक्ति गद्य को नहीं चुनती, पद्य को चुनती है। ऐसे तो पद्य से भी कहाँ कहा जा सकेगा– लेकिन शब्दों के बीच में लय को समाया जा सकता है। शब्द से न कहा जा सके, लेकिन शब्दों के बीच समाहित धुन से शायद कहा जा सके।

तो भक्त के जब शब्द सुनो तो शब्दों पर बहुत ध्यान मत देना। भक्त के शब्दों में उतना अर्थ नहीं है जितना शब्दों की धुन में है, शब्दों के संगीत में है। शब्द अपने-आप में तो अर्थहीन हैं। जिस रंग में और जिस रस में लपेट कर शब्दों को भक्त ने पेश किया है, उस रंग और रस का स्वाद लेना।

लेकिन अक्सर अनुवाद में मूल खो जाता है, और कभी-कभी तो इतनी सरलता से खो जाता है कि खयाल में भी नहीं आता। क्योंकि हम सोचते हैं कि इससे क्या फर्क पड़ता है कि आचार्यों ने गाया कि आचार्यों ने कहा, बात तो एक ही है।

बात ज़रा भी एक ही नहीं है—बात बड़ी भिन्न है। आचार्यों ने गाया, भक्ति के आचार्यों ने गाया—कहा नहीं। और ज़ोर धुन पर है, संगीत पर है। ज़ोर शब्द पर नहीं, शब्द के अर्थ पर नहीं, शब्द की तर्कनिष्ठा पर नहीं।

पक्षियों के गीत जैसे हैं भक्तों के शब्द! तुम उन्हें सुन के आनंदित होते हो। कोई अर्थ पूछे तो न बता सकोगे। लेकिन अर्थ की चिंता ही कौन करता है, जिसे आनंद मिलता हो! आनंद अर्थ है!

अँगरेज़ी के महाकवि 'शैली' से किसी ने पूछा कि तुम्हारे एक गीत को मैं पढ़ रहा हूँ, समझ में नहीं आता, मुझे अर्थ समझा दो। शैली ने कंधे बिचकाये, कहा, 'मुश्किल! जब लिखा था तब दो आदमी जानते थे, अब एक ही जानता है।'

उसने पूछा, 'वे कौन दो आदमी थे?... तो मैं दूसरे से पूछ लूं, अगर तुम भूल गये हो। लेकिन तुमने ही लिखा है तो तुम अर्थ कैसे भूल गये।'

शैली ने कहा, 'जब लिखा, तब मैं और परमात्मा जानते थे; अब सिर्फ परमात्मा ही जानता है। मैं तुम्हें न बता सकूंगा। मुझे ही याद नहीं। जैसे एक ख्वाब देखा था! भनक रह गयी है कान में। रस भी रह गया है कहीं गूंजता, लेकिन अर्थ खो गये हैं।'

फिर शैली ने कहा, 'अर्थ का करोगे भी क्या? गुनगुनाओ!'

गीत गाने के लिए है। जो गीत में अर्थ देखने लगा, वह वैसा ही नासमझ है, जो जा के फूल से पूछे कि तेरा अर्थ क्या। फूल का रस देखो! रंग देखो! फूल की गंध देखो! अर्थ पूछते हो?

परमात्मा अर्थातीत है। इसलिए भक्तों ने कहा नहीं—गाया। क्योंकि कहने में अर्थ ज़रा ज़रूरत से ज्यादा हो जाता है। गाने में अर्थ गौण हो जाता है, रस प्रमुख हो जाता है।

भक्ति है रस। भक्ति कोई ज्ञान नहीं; कहने-सुनने की बात नहीं – डूबने, मिटने की बात है।

इसलिए मैं अनुवाद करूँगा: 'आचार्यगण उस भक्ति के साधन गाते हैं।' गाने में ही साधन को बतलाते हैं। अगर तुमने गाने को समझ लिया, अगर उनके गीत के रस को पकड़ लिया, तो उन्होंने सब बता दिया। क्योंकि फिर वे जो साधन बतलाते हैं, वे साधन भी क्या हैं? वे साधन हैं: भजन, कीर्तन, उसकी कथा में रस, श्रवण। वे सब उसी रस के विस्तार हैं।

'वह भक्ति विषय-त्याग और संग-त्याग से सम्पन्न होती है।'

इस सूत्र को बारीकी से समझना, क्योंकि योग भी यही कहता है। तो फिर योग और भक्ति में भेद कहाँ होगा? योग भी कहता है: विषय-त्याग और संग-त्याग से। विषयों को छोड़ना है। विषयों की आसक्ति छोड़नी है। त्यागी भी



यही कहता है और भक्त भी यही कहता है। दोनों के अर्थ तो एक नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों के आयाम अलग हैं। शब्द एक होंगे, अर्थ तो अलग हैं।

तो थोड़ा समझें।

त्याग दो तरह के हो सकते हैं। एक तो त्याग होता है: बिना भूमिका बदले भाग जाना। एक आदमी घर में है, गृहस्थ है। वह अपनी चेतना को तो नहीं बदलता, घर छोड़ देता है, पत्नी-बच्चे छोड़ देता है, जंगल की तरफ चला जाता है। भूमिका नहीं बदली, चेतना का तल नहीं बदला – स्थान बदल लिये। स्थिति नहीं बदली – स्थान बदल लिया। मन:स्थिति नहीं बदली – आसपास की जगह बदल ली। वह जा के जंगल में बैठ जाए, जल्दी ही वहाँ फिर गृहस्थी खड़ी हो जाएगी। क्योंकि गृहस्थी का जो 'ब्लू प्रिंट' है, वह उसकी चैतन्य की दशा में है, वह उसे साथ ले आया। वहाँ भी गृहस्थी इसी ने बनायी थी। वह कुछ आकस्मिक आकाश से न उतर आयी थी। किसी शून्य से उसका आविर्भाव न हुआ था। इसके ही चैतन्य में, इसकी ही चेतना के भीतर छिपे बीज थे – वे प्रगट हुए थे।

पत्नी आकाश से नहीं आती – पति के भीतर छिपे राग से खिंचती है। पति आकाश से नहीं आता – पत्नी के भीतर छिपे राग से आता है। तुम उसी को अपने पास बुला लेते हो जिसकी गहन आकाँक्षा तुम्हारे भीतर छिपी है। वही तुम्हें मिल जाता है जो तुम चाहते हो। चाहे तुम्हें पता न हो, चेतन हो अचेतन हो, होश में माँगा हो बेहोशी में मांगा हो – तुम्हें वही मिलता है जो तुमने माँगा है। तुम्हारे पास वही सरक के चला आता है जो तुमने चाहा है।

तुम चुंबक हो। और तुम्हारा चुंबक तुम्हारी चेतना की स्थिति में है। अब अगर एक चुंबक लोहे के कणों को खींच लेता हो, फिर लोहे के कणों से परेशान हो जाए, भाग जाए जंगल – क्या फर्क पड़ेगा? चुंबक चुंबक रहेगा। वहाँ भी लोह-कणों को खींचेगा। यह भी हो सकता है कि लोह-कण पास न हों, तो चुंबक कुछ भी न खींच पाये, लेकिन इससे क्या चुंबक चुंबक न हो जाएगा? चुंबक चुंबक ही रहेगा। लोह-कण होंगे तो खींच लेगा, न होंगे तो न खींचेगा, लेकिन इससे कोई चुंबक के जीवन में क्रांति न हो जाएगी।

तो एक तो त्याग है जो पलायनवादी का है, भगोड़े का है। भक्त को उस त्याग में कोई रस नहीं है। वह त्याग ही नहीं है। उसको त्याग ही कहना पहले तो गलत है। वह छोड़ना है, त्याग नहीं; भागना है, मुक्ति नहीं है।

फिर एक त्याग है चेतना के तल को बदलने से: तुम जैसे हो अभी उससे ऊपर उठते हो। जैसे ही ऊपर उठते हो, तुम्हारे आसपास का सारा संसार वैसा ही बना रहे, कोई फर्क नहीं पड़ता – तुम वैसे ही नहीं रह गये। संसार में रहो तो भी संसार अब तुम में नहीं है। तुम चुंबक न रहे। तुमने चुंबकत्व छोड़ दिया।

अब लोहे के टुकड़े पास ही पड़े रहें, पुराने समय में खींचे थे जब तुम चुंबक थे; अब भी पास पड़े रहेंगे, लेकिन अब तुम चुंबक नहीं हो – अब तुम में खींच न रही, आकर्षण न रहा। इसका नाम ही संग-त्याग है। पास तो हैं, लेकिन तुम बड़े दूर हो गये। घर में ही हो, लेकिन घर में न रहे। दुकान पर बैठे हो, दुकान में न रहे।

संसार से भागना एक बात है – वह त्याग नहीं है। संसार से उठना दूसरी बात है – वह त्याग है।

ऊपर उठो। भूमिका बदलो।

इसलिए भक्तों ने भागने का आग्रह नहीं किया।

जीवन को न तोड़ना है, न मिटाना है, न बदलना है – चैतन्य के रूप को नया करना है। तुम्हारे भीतर की ज्योति को थोड़ा बड़ा करना है : तुम थोड़े ऊपर खड़े हो कर देख सको; तुम्हारी दृष्टि का विस्तार थोड़ा बड़ा हो जाए।

तो चेतना के एक-एक तल से दूसरे तल पर जाना ! चेतना के एक सोपान से दूसरे सोपान पर जाना ! वही त्याग है।

'वह भक्ति विषय-त्याग और संग-त्याग से सम्पन्न होती है।' – तो तुम भक्त हो।

इसे हम ऐसा समझें कि तुम जहाँ खड़े हो, वहाँ संसार है। अगर तुम स्थान को बदल लो, तुम संसार में ही कहीं दूसरी जगह खड़े हो जाओगे। परमात्मा से तुम्हारी दूरी उतनी ही रहेगी जितनी पहले थी। हिमालय परमात्मा से उतना ही दूर है जितना तुम्हारी दुकान और बाज़ार की जगह। हिमालय परमात्मा के ज़रा भी पास नहीं।

लेकिन अगर तुम अपनी चेतना के तल को बदलो तो तुम संसार से दूर होने लगते हो और परमात्मा के पास होने लगते हो।

एक हिमालय तुम्हें चढ़ना है ज़रूर – लेकिन वह हिमालय तुम्हारे भीतर की शीतलता का है, वह तुम्हारे भीतर की शांति का है, वह तुम्हारे भीतर के मौन का है। एक गौरीशंकर की यात्रा करनी है ज़रूर – लेकिन वह गौरीशंकर बाहर नहीं है; वह तुम्हारी अन्तरात्मा का शिखर है। भीतर ऊपर उठना है। बाहर तो जहाँ हो, ठीक हो। बाहर से कुछ भी भेद नहीं पड़ता।

'विषय-त्याग और संग-त्याग से भक्ति उत्पन्न होती है, भक्ति सधती है।'

भक्ति का अर्थ है : परमात्मा और तुम्हारे बीच की दूरी कम हो जाए। भक्ति तुम्हारे और परमात्मा के बीच की दूरी के कम होने का नाम है। दूरी कम होती जाए, तो भक्ति सघन होती जाती है। एक दिन दूरी पूरी मिट जाती है, अनन्यता हो जाती है, तो भक्त भगवान हो जाता है, भगवान भक्त हो जाता है। तब 'द्वि' नहीं रह जाती। तब दोनों किनारे खो जाते हैं एक में ही।



इसलिए भक्त के त्याग की सूक्ष्मता को खयाल में रखना। साधारण त्यागी का त्याग सीधा-साफ है; भक्त का त्याग बड़ा सूक्ष्म है। साधारण त्यागी भागता है; भक्त रूपान्तरित होता है। इसलिए भक्त को शायद तुम पहचान भी न पाओ – साधारण त्यागी को कोई भी पहचान लेगा। उसकी पहचान बड़ी ऊपरी है : घर-द्वार छोड़ दिया, काम-धंधा छोड़ा। जिसे तुम संसार कहते थे, उसे छोड़ दिया, जंगल में चला गया। इसे पहचानने में अड़चन न आएगी। भक्त जहाँ है वहीं है। चैतन्य बदलता है। रूपान्तरण बड़ा सूक्ष्म है और भीतरी है। ऊपर से तो वैसा ही रहता है, कानोंकान किसी को खबर नहीं होती। लेकिन भीतर एक हीरे का जन्म होने लगता है। भीतर एक निखार आता है। चेतना की लौ थमती है, अकंप जलती है। इसे देखने के लिए तुम्हें भी थोड़ा-सा भीतर झाँकना पड़े...।

और जब तक ऐसा न हो पाए तब तक तुम्हारी ज़िंदगी कहने को ही ज़िंदगी है, नाममात्र की ज़िंदगी है। ज़रा भी मूल्य नहीं उसका–दो कौड़ी भी मूल्य नहीं। चाहे तुम्हारी ज़िंदगी सिकंदर की ज़िंदगी ही क्यों न हो, फिर भी दो कौड़ी मूल्य नहीं। क्योंकि मूल्य तो अन्तरात्मा का होता है। तुमने बाहर क्या किया, इससे कुछ मूल्य का सम्बंध नहीं–तुम भीतर क्या हुए...।

'भटक के रह गयीं नज़रें खला की वुसअत में
हरीमे-शाहिदे-रअना का कुछ पता न मिला
तबील राहगुज़र खत्म हो गयी, लेकिन
हनोज अपनी मुसाफत का मुन्तहा न मिला।'

–जैसे शून्य की विशालता में आँखें भटक जाएँ...।

'भटक के रह गयीं नज़रें खला की वुसअत में !'

शून्य ने तुम्हें घेरा है। विराट है शून्य। रिक्तता है एक। उसमें आँखें खो के रह गयी हैं।

'हरीमे-शाहिदे-रअना का कुछ पता न मिला।'

प्रेमी के घर का, प्रेयसी के घर का कुछ भी पता नहीं चलता, कहाँ है। एक रगिस्तान में–रिक्तता के–खो गये हो।

'तबील राहगुज़र खत्म हो गयी... !'

कठिन थी राह ज़िंदगी की, वह भी खत्म हो गयी...

'लेकिन, हनोज अपनी मुसाफत का मुन्तहा न मिला।'

लेकिन आज तक यह ठीक से पता न चला कि हम यात्रा क्यों कर रहे थे। यात्रा खत्म भी हो गयी, कठिन भी बहुत थी; लेकिन अब तक यह भी साफ न हो सका कि मुद्दा क्या था, मंजिल क्या थी, जाते कहाँ थे। प्रेयसी के या प्रेमी के घर की कोई झलक भी न मिली।

जब तक तुम्हारे चैतन्य की भूमिका न बदले, तब तक यही कथा है सभी की : एक रिक्तता में खो जाते हैं; जैसे कोई भूली-भटकी नदी है और रेगिस्तान में समा जाए, और सागर का कोई रास्ता न मिले; तपती धूप में, जलती आग में, बूंद-बूंद करके, तड़फ-तड़फ के उड़ जाए, भाप बन जाए :

'हरीमे-शाहिदे-रअना का कुछ पता न मिला !'

—सागर में मिलने का, सागर के साथ मिलन का, सागर के साथ एक हो जाने का कोई पता न मिले— ऐसी ही साधारण ज़िंदगी है।

जिसे तुम भोगी की ज़िंदगी कहते हो, उसे भोगी की ज़िंदगी कहना ठीक नहीं; भोग जैसा वहाँ कुछ भी नहीं है। भक्त भोगता है; भोगी क्या भोगेगा ? जिसको तुम भोगी कहते हो, वह तो भोग के नाम पर सिर्फ धक्के खाता है। भोग की सोचता है, माना; भोगता कभी नहीं। भोग तो उसी के लिए है जिसे भगवान के हाथ का सहारा मिला। भोग सिर्फ भगवान का है। जिसने उस स्वाद को न जाना, वह केवल बिखरने और मिटने और रोज़ मरने को ही ज़िंदगी समझ रहा है।

नहीं, ऐसी जिंदगी में न तो किसी अर्थ का पता चलेगा। ऐसी ज़िंदगी में मंजिल की कोई खबर न मिलेगी। चले थे क्यों, जाते थे कहाँ, थे क्या—सब धुंधला-धुंधला, सब अँधेरा-अँधेरा रहेगा। पर ज़िंदगी की राह बड़ी कठिन है और परिणाम कुछ भी हाथ न आएगा।

जिसे तुम भोगी कहते हो, उसे वस्तुतः त्यागी कहना चाहिए। किसी दिन अगर भाषा का फिर से संशोधन हो तो जिसको तुम भोगी कहते हो, उसको त्यागी कहना चाहिए, और जिसको त्यागी कहते हैं, उसको भोगी कहना चाहिए। क्योंकि त्यागी ही जानता है कि भोग क्या है। और भोगी तो सिर्फ तड़फता है, सिर्फ सोचता है, सपने बनाता है, बड़े इन्द्रधनुषी सपने बनाता है, बड़े रंगीन— मगर पकड़ो तो हाथ में राख भी हाथ नहीं आती; खाली हाथ खाली के खाली रह जाते हैं।

'अपने सीने से लगाये हुए उम्मीद की लाश
मुद्दतें जीस्त को नाशाद किया है मैंने।'

बस एक लाश लगाये हुए हैं उम्मीद की छाती से—वह भी लाश है आशा की कि मिलेगा कुछ, मिलेगा कुछ !

'अपने सीने से लगाये हुए उम्मीद की लाश... !'

सब आशा मुर्दा है; कभी कुछ मिलता नहीं—बस मिलने का खयाल है, भरोसा है : आज नहीं मिला, कल ! कल भी यही होगा। और तुम्हारी आशा फिर आगे कल के लिए स्थगित हो जाएगी। पीछे कल भी यही हुआ था। तब तुमने आज पर छोड़ दिया था; आज भी वही हो रहा है। ऐसे क्षण-क्षण करके जीवन रिक्त होता चला जाता है, और तुम उम्मीद की लाश को लिये ढोते फिरते हो।



तुमने कभी देखा, बंदरों में अक्सर हो जाता है : छोटा बच्चा मर जाता है तो बंदरिया उसकी लाश को लिये सप्ताहों तक छाती से चिपटाये घूमती रहती है ! तुम्हें देख के उसे, हँसी आयेगी। और जिस दिन तुम अपनी तरफ देखोगे, उस दिन तो तुम्हें भरोसा ही न आएगा कि उम्मीद की लाश तो तुम मुद्दतों से, ज़िंदगियों से...। वह बंदरिया का बच्चा तो कभी ज़िंदा भी था; उम्मीद कभी भी ज़िंदा न थी। वह सदा से ही लाश है। लाश होना उसका स्वभाव है।

'अपने सीने से लगाये हुए उम्मीद की लाश
मुद्दतें जीस्त को नाशाद किया है मैंने।'

—और इस उम्मीद की लाश के कारण न मालूम कितने काल से ज़िंदगी को व्यर्थ ही खिन्न करता रहा हूँ।

आशा बनाते हो, आशा फिर बिखरती है, टूटती है— दुख पाते हो। फिर आशा बनाते हो, फिर बनाते हो ताश के पत्तों का घर— फिर हवा का एक झोंका, और सब गिर जाता है। फिर बहाते हो कागज़ की एक नाव— फिर ज़रा-सी लहर, और नाव डूब जाती है। लाश को ढोते हो, उसका वजन भी, उसकी दुर्गंध भी, उसका बोझ भी— और फिर, उसके कारण ज़िंदगी रोज़-रोज़ खिन्न होती है, उदास होती है।

तुम निराश क्यों होते हो बार-बार ?

—आशा के कारण।

धन्यभागी हैं वे जिन्होंने आशा छोड़ दी; फिर उन्हें कोई निराश न कर सकेगा ! जिन्होंने आशा ही छोड़ दी, उनके निराश होने की बात ही समाप्त हो गयी।

भोगी आशा में जीता है। आशा मुर्दा है। उससे न कभी कुछ पैदा हुआ न कभी कुछ पैदा होगा— आशा बाँझ है, उसकी कोई संतान नहीं।

तो क्या तुम सोचते हो, भक्त कहते हैं कि निराशा में जियो ? नहीं, भक्त कहते हैं कि आशा और निराशा तो एक ही सिक्के के पहलू हैं — तुम परमात्मा में जियो !

परमात्मा अभी और यहाँ है; आशा, कल और वहाँ, कहीं और। अगर ठीक से समझो तो आशा का नाम ही संसार है। संसार सदा वहाँ, कहीं और; परमात्मा अभी और यहाँ, इस क्षण ! इस क्षण उसने तुम्हें घेरा है। इस क्षण सब तरफ से उसने तुम्हें घेरा है। हवाओं के झोंकों में, सूरज की किरणों में, वृक्षों के सायों में— उसने ही तुम्हें घेरा है।

तुम्हारे चारों तरफ जो लोग बैठे हैं, वे भी परमात्मा के रूप हैं, उन्होंने तुम्हें घेरा है। वही तुम्हें पुकार रहा है। वही तुम्हारे भीतर श्वास बन के चल रहा है।

परमात्मा अभी है, परमात्मा कभी उधार नहीं।

स्वामी राम कहते थे : परमात्मा नगद है। वह अभी और यहां है। संसार उधार है; वह कल और वहाँ है। कल और वहाँ को भोगोगे कैसे? भविष्य को कोई कैसे भोग सकता है, कहो। भविष्य को भोगने का उपाय कहाँ है? भविष्य है नहीं अभी; तुम उसे भोगोगे कैसे? केवल वर्तमान भोगा जा सकता है।

संसार के त्याग का अर्थ है : भविष्य का त्याग। संसार के त्याग का अर्थ है : भविष्य के नाम पर जिस भोग को हम स्थगित करते जाते थे, उसका त्याग। संसार के त्याग का अर्थ है : इस क्षण में – इस जीवंत क्षण में – जागना। वहीं से भोग शुरू होता है।

भक्त भगवान को भोगता है। संसारी केवल भोगने की सोचता है। तुम सोचने के भ्रम में मत आ जाना। वस्तुतः सोचता वही है जो भोग नहीं पाता है। विचार वही करता है जो भोग नहीं पाता है। योजना वही बनाता है जो भोग नहीं पाता है। कल की कल्पना वही सँजोता है जो भोग नहीं पाता है। जो अभी भोग रहा हो, वह कल की बात ही क्यों करे?

तुमने कभी देखा, तुम जितने दुखी होते हो, उतनी भविष्य की ज्यादा विचारणा करते हो! जितने सुखी होते हो, उतना ही भविष्य छोटा हो जाता है, वर्तमान बड़ा हो जाता है। अगर कभी-कभी एक क्षण को तुम आनंदित हो जाते हो तो भविष्य खो जाता है, वर्तमान ही रह जाता है।

संसार दुख का फैलाव है; परमात्मा, आनंद की अनुभूति।

जो व्यक्ति दुख में जी रहा है, वह कहीं से भी सुख पाने की चेष्टा करता है, टटोलता है – विषयों में, वासनाओं में, धन में, संपदा में, शरीर में। वह जगह-जगह टटोलता है। दुखी है! कहीं से भी सुख का झरना हाथ आ जाए! और जितनी देर लगती जाती है, उतना व्याकुल होता जाता है। जितना व्याकुल होता है, बेचैन होता है – उतना ही होश खोता चला जाता है, उतना बेहोशी से टटोलता है। कभी यह पूछता ही नहीं अपने से कि 'जहाँ मैं टटोल रहा हूँ, वहीं मैंने खोया है; पहले यह तो पूछ लूँ कि मैंने खोया कहाँ; पहले यह तो ठीक से पूछ लूँ कि मेरा आनंद कहाँ भटक गया है।'

कोई धन में खोज रहा है, बिना पूछे। धन में खोया है आनंद को? अगर धन में खोया नहीं तो धन से पा कैसे सकोगे? कोई पद में खोज रहा है, बिना पूछे। पद में खोया है? अगर पद में खोया नहीं तो पा कैसे सकोगे?

और इसके पहले कि दुनिया की बड़ी यात्रा पर जाओ, अपने भीतर तो खोज लो। इसके पहले कि तुम पड़ोसियों के घर में खोजने लगो कोई चीज जो खो गयी है, अपने घर में तो खोज लो। बुद्धिमानी यही कहेगी : पहले अपने घर में खोज लो।



यहाँ न मिले तो फिर पड़ोसियों के घर में खोजना, फिर चाँद-सितारों पे खोजने जाना। कहीं ऐसा न हो कि तुम चाँद-सितारों पे खोजते रहो और जिसे खोया था, वह घर में पड़ा रहे।

निकट से खोज शुरू करो। निकटतम से खोज शुरू करो। निकटतम तुम हो! और जिसने भी स्वयं पर हाथ रखा, उसका हाथ परमात्मा पे पड़ गया। जिसने गौर से अपनी धड़कन सुनी, उसने परमात्मा की धड़कन सुनी। जो भीतर गया, वह मंदिर में पहुँच गया।

'वह भक्ति विषय-त्याग, संग-त्याग से सम्पन्न होती है।'

क्या मतलब हुआ विषय-त्याग, संग-त्याग से? इतना ही मतलब हुआ कि विषय में मत खोजो, वासना में मत खोजो। पहले अपने में खोज लो। और जिसने भी अपने में खोजा, फिर कहीं और खोजने न गया – मिल ही गया! इससे अपवाद कभी हुआ नहीं। यह शाश्वत नियम है। 'एस धम्मो सनतंनो', कि जिसने अपने में खोजा, पा ही लिया। हाँ, अगर खोजने में ही रस हो तो भूल के अपने में मत खोजना। अगर खोजी ही बने रहने में रस हो तो भूल के अपने में मत खोजना; क्योंकि वहाँ खोज समाप्त हो जाती है। वहाँ मिल ही जाता है। अगर खोजने में ही रस हो तो बाहर भटकते रहना। अगर पाना हो तो बाहर जाना व्यर्थ है। जो खोज रहा है, जो चैतन्य यात्रा पर निकला है, उसी चैतन्य में मंजिल छिपी है।

...'विषय-त्याग और संग-त्याग से सम्पन्न होती है' – इसलिए कि वहाँ जब यात्रा बंद हो जाती है तो तुम अपने पर लौटने लगते हो। जो व्यक्ति बाहर नहीं खोजता, वह कहाँ जाएगा? वह अपने घर आ जाएगा।

कोलम्बस अमरीका की खोज पर गया। तीन महीने का उसके पास सामान था, वह चुक गया। केवल तीन दिन का सामान बचा, और अभी तक कोई अमरीका की झलक नहीं, किनारों का कोई पता नहीं; ज़मीन कितनी दूर है, कुछ अनुमान भी नहीं बैठता। साथी घबड़ा गये। रोज़ सुबह पता लगाने के लिए वे कबूतर छोड़ते थे, क्योंकि अगर कबूतरों को कहीं भूमि मिल जाए तो वे वापस न लौटेंगे। लेकिन वे कबूतर थोड़ी-बहुत दूर चक्कर काट कर वापस जहाज पे लौट आते, कहीं भूमि न मिलती। पानी में तो ठहर नहीं सकते। उनका लौट आना इस बात की खबर होता कि उन्हें कोई जगह न मिली।

जिस दिन तीन दिन का भोजन रह गया, उस दिन कबूतर छोड़े – बड़ी उदासी में थे, डरते थे कि कहीं लौट न आएँ, क्योंकि अब खात्मा है। अगर तीन दिन के भीतर ज़मीन नहीं मिलती तो गये। लौट भी नहीं सकते, क्योंकि तीन महीने का रास्ता पार कर आये। लौट के भी तीन महीने लगेंगे पहुँचने में। तो पीछे जाने का तो कोई अर्थ नहीं है, आगे शून्य मालूम पड़ता है।

लेकिन उस दिन कबूतर वापस नहीं लौटे। नाच उठे आनंद से! कबूतरों को भूमि मिल गयी!

वासनाएँ तुम्हारे भीतर से बाहर जाती हैं। विषय और संग-त्याग का इतना ही अर्थ है: वहाँ से भूमि हटा लो, ताकि उनको बाहर ठहरने की कोई जगह न मिले – तुम्हारा चैतन्य तुम्हीं पर वापस लौट आये। कहीं बाहर ठहरने की जगह मत दो। अगर बाहर ठहरने की जगह दी ... तो यही तो तुम करते रहे हो अब तक, यही भटकाव हो गया है, यही संसार है।

विषय से कोई विरोध नहीं है। धन से क्या विरोध? पद से क्या विरोध? कोई निंदा नहीं है। सिर्फ इतनी ही बात है कि वहाँ अगर चेतना का पक्षी बैठ जाए तो फिर वह स्वयं पर नहीं लौटता। और तुम बाहर जितने उलझते जाते हो, उतना ही अपने पे आना कठिन होता जाता है।

इसलिए भक्ति की बड़ी ठीक व्याख्या की है: 'विषय-त्याग और संग-त्याग से भक्ति सम्पन्न होती है।' पक्षियों को बैठने की जगह नहीं रह जाती – चैतन्य के पक्षी अपने पर ही लौट आते हैं।

अगर वासना न हो तो विचार क्या करोगे?

लोग मेरे पास आते हैं, वे कहते हैं, 'विचारों से बड़े पीड़ित हैं। विचारों को बंद करना है।' मैं उनसे पूछता हूँ, 'विचारों से पीड़ित हो, यह बात ठीक नहीं – वासना से पीड़ित होओगे।'

किस बात के विचार आते हैं? तो कोई कहता है, धन के विचार आते हैं; कोई कहता है, कामवासना के विचार आते हैं। तो विचार थोड़े ही असली सवाल है। विचार तो वासना का अनुषंगी है, छाया की तरह है। जब तक तुम्हारी कामवासना में रस भरा हुआ है, जब तक तुम्हारी आशा की लाश छाती से लगी हुई है, जब तक तुम कहते हो कि कामवासना से सुख मिलने वाला है – तब तक कामवासना के विचार आते रहेंगे। जिस दिन तुम कहोगे कि कामवासना में कोई सुख न रहा, उसी दिन कामवासना के विचार आने बंद हो जाएँगे।

विचारों को थोड़े ही हटाना पड़ता है। विचारों को तो हटा-हटा के भी तुम न हटा पाओगे; क्योंकि अगर मूल मौजूद रहा, जड़ मौजूद रही, तो पत्ते तुम काटते रहो, शाखाएँ काटते रहो – नयी निकल आएँगी।

वासना की जड़ कट जाए तो विचार के पत्ते अपने-आप आने बंद हो जाते हैं।

'अखंड भजन से भी भक्ति सम्पन्न होती है।'

विषय-त्याग, संग-त्याग से – फिर अखंड भजन से ...।

अखंड भजन का अर्थ वैसा नहीं है जैसा तुमने समझ रखा है कि लोग



लाउडस्पीकर लगा के बैठ जाते हैं चौबीस घंटे, मोहल्ले-भर के लोगों को परेशान कर देते हैं: अखंड भजन कर रहे हैं! अखंड उपद्रव है यह, अखंड भजन नहीं है। और पड़ोसियों ने क्या बिगाड़ा है? तुम्हें भजन करना हो करो, दूसरों को क्यों परेशान किये हो? सोना भी मुश्किल कर देते हो।

और यह तो धार्मिक देश है, इसमें अगर कोई अखंड भजन-कीर्तन करे और कोई पड़ोसी एतराज करे तो उसको लोग अधार्मिक समझते हैं। वे तो तुम पे कृपा करके माइक लगाये हुए हैं ताकि तुम्हारे कानों में भी भजन-कीर्तन का उच्चार पड़ जाए, तो शायद तुम्हारी भी मुक्ति हो जाए।

अखंड भजन का क्या अर्थ है?

अखंड भजन का अर्थ है: तुम्हारे भीतर परमात्मा की स्मृति अविच्छिन्न हो, विच्छिन्नता न आए। कोई राम-राम, राम-राम जपने का सवाल नहीं है। क्योंकि अगर तुम राम-राम भी जपो, कितने ही जोर से जपो, तो भी दो राम के बीच में खण्ड तो आ ही जाएगा। इसलिए वह अखंड तो नहीं होगा। वह तो कोई रास्ता न हुआ। तुम राम-राम कितनी ही तेज़ी से जपो, एक राम और दूसरे राम के बीच में जगह खाली छूट जाएगी, उतनी देर को परमात्मा का स्मरण न हुआ। इसलिए राम-राम जपने से अखंड भजन का कोई सम्बंध नहीं हो सकता।

अखंड भजन का अर्थ तो, अगर अखंड होना है भजन को, तो विचार से नहीं सध सकता यह काम, निर्विचार से सधेगा। अगर अखंड होना है तो विचार का काम न रहा, क्योंकि विचार तो खंडित है। एक विचार और दूसरे विचार के बीच में जगह है, अविच्छिन्न धारा नहीं है। अविच्छिन्न धारा तो स्मरण की हो सकती है। स्मरण का शब्द से कोई सम्बंध नहीं है।

जैसे माँ भोजन बनाती है, बच्चा आसपास खेलता रहता है, लेकिन उसे स्मरण बना रहता है: वह कहीं बाहर तो नहीं निकल गया, आंगन के बाहर तो नहीं उतर गया, सड़क पे तो नहीं चला गया! ऐसा वह बीच-बीच में देखती रहती है। अपना काम भी करती रहती है और भीतर एक सातत्य स्मृति का बना रहता है।

कबीर ने कहा है, जैसे कि पनघट से स्त्रियाँ पानी भर के घर लौटती हैं, आपस में बात करती हैं, हँसती हैं, मजाक करती हैं – घड़े उनके सिर पे सम्हले रहते हैं, उनको हाथ भी नहीं लगातीं, स्मरण बना रहता है कि उन्हें सम्हाले हैं। बात चलती है, चर्चा होती है, हँसी-मजाक होती है – लेकिन भीतर एक सतत स्मृति बनी रहती है घड़े को सम्हालने की।

जनक के दरबार में एक संन्यासी आया और उसने जनक को कहा कि मैंने सुना है कि तुम परम ज्ञान को उपलब्ध हो गये हो। लेकिन मुझे शक है, इस

घन-दौलत में, इस सुख-सुविधा में, इन सुन्दर स्त्रियों और नर्तकियों के बीच में, इस सब राजनीति के जाल में, तुम कैसे उसका अखंड स्मरण रखते होओगे।

जनक ने कहा, 'आज साँझ उत्तर मिल जाएगा।'

साँझ एक बड़ा जलसा था और देश की सबसे बड़ी नर्तकी नाचने आयी थी। सम्राट ने संन्यासी को बुलाया। चार नंगी तलवारें लिये हुए सिपाही उसके चारों तरफ कर दिये। वह थोड़ा घबड़ाया। उसने कहा, 'क्या मतलब ? यह क्या हो रहा है ?'

जनक ने कहा, 'घबड़ाओ मत। यह तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है।'

और हाथ में उसको तेल से लबालब भरा हुआ पात्र दे दिया कि ज़रा हिल जाए तो तेल नीचे गिर जाए; एक बूँद और न जा सके, इतना भरा हुआ। और उसने कहा कि नर्तकी का नृत्य चलेगा, तुम्हें सात चक्कर उस पूरे स्थान के लगाने हैं। बड़ी भीड़ होगी। हज़ारों लोग इकट्ठे होंगे। अगर एक बूँद भी तेल नीचे गिरा तो ये चार तलवारें नंगी तुम्हारे चारों तरफ हैं, ये फौरन तुम्हें टुकड़े-टुकड़े कर देंगी।

उस संन्यासी ने कहा, 'बाबा माफ करो ! प्रश्न अपना वापस ले लेते हैं। हम तो सत्संग करने आये थे, जिज्ञासा ले के आये थे, कोई जान नहीं गँवाने आये हैं। तुम जानो, तुम्हारा ज्ञान जाने। हो गये होओगे तुम उपलब्ध ज्ञान को, हमें कुछ सन्देह भी नहीं है। पर हमें छोड़ो।'

पर जनक ने कहा, 'अब यह न हो सकेगा। प्रश्न जब पूछ ही लिया तो उत्तर ज़रूरी है।'

सम्राट था, संन्यासी के भागने का कोई उपाय न था। सुन्दर नर्तकी नाचती थी। हजार बार संन्यासी के मन में भी हुआ कि एक तरफ आँख उठा के देख लूँ; लेकिन एक बूंद तेल गिर जाए तो वे चारों तलवारें उसे काट के टुकड़े-टुकड़े कर देंगी। उसने सात चक्कर लगा लिये, एक बूंद तेल न गिरा। आँखें उसकी तेल पर ही सधी रहीं।

पूछा जनक ने, 'उत्तर मिला ?'

उसने कहा, 'उत्तर मिल गया। और ऐसा उत्तर मिला कि मेरा पूरा जीवन बदल गया। पहली दफा कोई चीज़ इतनी देर तक सतत रही, अखंड रही— एक स्मृति कि बूँद तेल न गिर जाए।'

सम्राट ने कहा, 'तेरे तरफ चार तलवारें थीं, मेरे पास कितनी तलवारें हैं, मेरे चारों तरफ – तुझे पता नहीं। तेरी ज़िंदगी तो थोड़े से ही खतरे में थी; मेरी ज़िंदगी बड़े खतरे में है। और फिर इससे भी क्या फर्क पड़ता है कि तलवार है या नहीं, मौत तो सबको घेरे हुए है। जिसको मौत का स्मरण आ गया, उसे सातत्य भी समझ में आ जाएगा।'



अखंड भजन का अर्थ होता है : अविच्छिन्न धारा रहे; परमात्मा के स्मरण में एक क्षण को भी व्याघात न हो; तुम उससे विमुख न होओ; तुम्हारी आँखें उस पर ही लगी रहें; तुम्हारा हृदय उसकी ही तरफ दौड़ता रहे; तुम्हारे चैतन्य की धारा उसकी तरफ ही प्रवाहित रहे – जैसे गंगा सागर की तरफ अविच्छिन्न बह रही है, एक क्षण को भी व्याघात नहीं है, एक क्षण को भी बाधा नहीं है, अवरोध नहीं है।

'अव्यावृतभजनात्।'

कोई भी व्याघात न पड़े, तो भजन। इसका अर्थ हुआ कि तुम्हारे जीवन के साधारण कृत्य ही जब तक परमात्मा के स्मरण की व्यवस्था न बन जाएँ –

उठो तो उसमें उठो !<br>
बैठो तो उसमें बैठो !<br>
सोओ तो उसमें सोओ !<br>
जागो तो उसमें जागो !

– जब तक ऐसा न हो जाए, तब तक तो व्याघात होता ही रहेगा।

तो ध्यान रखना : परमात्मा का स्मरण तुम्हारे और कृत्यों में एक कृत्य न हो, नहीं तो व्याघात पड़ेगा। जब तुम दूसरे कृत्यों में उलझोगे, तो परमात्मा भूल जाएगा। यह तुम्हारे जीवन का कोई एक हिस्सा न हो परमात्मा; यह तुम्हारे पूरे जीवन को घेर ले; यह तुम्हारे सारे जीवन पे छा जाए। मंदिर में जाओ तो परमात्मा की याद और दुकान पर जाओ तो परमात्मा की याद; नहीं तो फिर अखंड न हो सकेगा स्मरण। मंदिर में जाओ या दुकान पर, मित्र से मिलो कि शत्रु से – इससे उसकी याद में कोई फर्क न पड़े, उसकी याद तुम्हें घेरे रहे, उसकी याद तुम्हारे चारों तरफ एक माहौल बन जाए, तुम्हारी श्वास-श्वास में समा जाए।

'जाहिद शराब पीने दे मस्जिद में बैठ कर<br>
या वोह जगह बता जहाँ पर खुदा न हो।'

फिर तुम शराब भी पियो तो उसी में, मस्जिद में बैठ कर। फिर तुम्हारे सारे कृत्य उसी में लपेटे हुए हों। फिर तुम्हारा कोई कृत्य ऐसा न रह जाए जो उसके बाहर हो। क्योंकि जो कृत्य उसके बाहर होगा, वही व्याघात बन जाएगा।

तो परमात्मा और स्मृतियों में एक स्मृति नहीं है – परमात्मा महास्मृति है। वह और चीजों में एक चीज नहीं है – परमात्मा आकाश की तरह सभी चीजों को घेरता है। शराब की बोतल रखो तो भी आकाश ने उसे घेरा। भगवान की मूर्ति रखो तो उसे भी आकाश ने घेरा। परमात्मा तुम्हारा सब कुछ घेर ले। बुरा-भला सब तुम उसी पर छोड़ दो। बुरा भी उसका, भला भी उसका – तुम

बीच से हट जाओ। क्योंकि तुम जब तक बीच में रहोगे, व्याघात पड़ेगा। तुम ही व्याघात हो। तुम्हारी मौजूदगी अखंड न होने देगी।

तो अखंड भजन का अर्थ हुआ: तुम मिट जाओ और परमात्मा रहे। तो यह कोई शोरगुल मचाने की बात नहीं है। यह तो बड़ी सूक्ष्म प्रक्रिया है। यह कोई बैंड-बाजे बजाने की बात नहीं है। यह कोई चौबीस घंटे का अखंड कीर्तन कर दिया, इतना सस्ता नहीं है मामला। क्योंकि चौबीस घंटा तो दूर, अगर चौबीस पल भी अखंड कीर्तन हो जाए तो तुम मुक्त हो गये।

महावीर ने कहा है, अड़तालीस सैकंड अगर कोई व्यक्ति अविच्छिन्न ध्यान में रह जाए तो मुक्त हो गया। अड़तालीस सैकंड अविच्छिन्न ध्यान में रह जाए तो मुक्त हो गया! अविच्छिन्न ध्यान का अर्थ है: इस समय में, न एक विचार उठे, न एक वासना जगे – कोरा रह जाए। तुम्हें परमात्मा ऐसा घेर ले जैसा आकाश ने तुम्हें घेरा है। चुनाव न रहे। तुम्हारे सारे कृत्य उसी के समर्पण बन जाएँ।

नानक सो गये थे, मक्का के पवित्र पत्थर की तरफ़ पैर करके, पुजारी नाराज़ हुए थे। कहा, 'हटाओ पैर यहाँ से। कहीं और पैर करो। इतनी भी समझ नहीं है साधु हो कर?'

तो नानक ने कहा, 'तुम हमारे पैर वहाँ कर दो जहाँ परमात्मा न हो।'

कहानी कहती है कि पुजारियों ने उनके पैर सब दिशाओं में किये, जहाँ भी पैर किये, काबा का पत्थर वहीं हट के पहुँच गया। कहानी सच हो न हो, पर कहानी में बड़ा सार है।

'जाहिद शराब पीने दे मस्जिद में बैठ कर
या वोह जगह बता जहाँ पर खुदा न हो।'

सार इतना ही है कि पुजारी ऐसी कोई जगह न बता सके जहाँ परमात्मा न हो।

तुम्हारा जीवन ऐसा भर जाए उससे कि ऐसी कोई जगह न बचे जहाँ वह न हो! इसलिए बुरे-भले का हिसाब मत रखना। अच्छा-अच्छा उसे मत दिखाना, अपना बुरा भी उसके लिए खोल देना। तुम्हारे क्रोध में भी उसकी ही याद हो – और तुम्हारे प्रेम में भी उसकी ही याद हो – और तुम तब हैरान होओगे कि तुम्हारा क्रोध क्रोध न रहा, तुम्हारे क्रोध में भी उसकी सुगंध आ गयी; और तुम्हारा प्रेम तुम्हारा प्रेम न रहा, तुम्हारे प्रेम में भी उसकी ही प्रार्थना बरसने लगी।

तुम जिस चीज़ से परमात्मा को जोड़ दोगे, वही रूपान्तरित हो जाती है। तुम अपना सब जोड़ दो – तुम्हारा सब रूपान्तरित हो जाएगा।

'अखंड भजन से सम्पन्न होता है।'



'उम्र-भर रेंगते रहने से कहीं बेहतर है
एक लम्हा जो तेरी रूह में वुसअत भर दे...'

– एक छोटा-सा क्षण भी जो तेरे प्राणों में विशालता को भर दे, विराट को भर दे!

'उम्र-भर रेंगते रहने से कहीं बेहतर है
एक लम्हा जो तेरी रूह में वुसअत भर दे
एक लम्हा जो तेरे गीत को शोखी दे दे
एक लम्हा जो तेरी लै में मसर्रत भर दे।'

एक क्षण भी काफी है परमात्मा के स्मरण का – 'जो तेरी रूह में वुसअत भर दे' – जो विराट को तेरे आँगन में बुला ले, तेरी बूंद में सागर को बुला ले। सीमाएँ टूट जाएँ, ऐसा एक क्षण पर्याप्त है जी लेने का।

'उम्र-भर रेंगते रहने से कहीं बेहतर है।'

फिर अखंड कीर्तन की तो बात ही क्या, अगर एक लम्हा, अगर एक क्षण विशालता का इतना अद्भुत है, तो अखंड कीर्तन की तो बात ही क्या! सतत भजन की तो बात ही क्या! ओंठ भी हिलते नहीं सतत भजन में! भीतर परमात्मा का नाम भी स्मरण नहीं किया जाता। जो किया जाता है, जो होता है, सभी में उसकी याद होती है। भोजन करो, स्नान करो, तो स्नान में भी जलधार उसी की है। जल गिरे तो परमात्मा ही गिरे तुम्हारे ऊपर!

मेरे गाँव में बड़ी सुन्दर नदी बहती है और गाँव के लिए वही स्नान की जगह है। सर्दियों के दिन में लोग, जैसा सदा जाते हैं, सर्दियों के दिन में भी जाते हैं। मैं बचपन से ही चकित रहा कि गर्मियों में कोई भजन-कीर्तन करता नहीं दिखायी पड़ता। सर्दियों में लोग जब स्नान करते हैं नदी में तो जोर-जोर से भगवान का नाम लेते हैं: 'भोलेशंकर! भोलेशंकर!' तो मैंने पूछा कुछ लोगों से कि गरमी में कोई भोलेशंकर का नाम नहीं लेता, भूल जाते हैं लोग क्या। तो पता चला कि सर्दियों में इसलिए नाम लेते हैं कि वह नदी की ठंढक, और उनके बीच भोलेशंकर की आवाज़ परदे का काम करती है। वे 'भोलेशंकर' चिल्लाने में लग जाते हैं; उतनी देर डुबकी मार लेते हैं-ठंढ भूल गयी!

लोग नदी से बचने को भगवान का नाम ले रहे हैं। और तब मुझे लगा कि ऐसा पूरी जिंदगी में हो रहा है: भगवान सब तरफ से तुम्हें घेरे हुए है, तुम उससे घिरना नहीं चाहते। तुम्हारे भगवान का नाम भी तुम्हारा बचाव है। परमात्मा का स्मरण करना हो तो नदी को बहने दो, वह उसी की है। वही उसमें बहा है, बह रहा है। तुम डुबकी ले लो। इतना बोध भर रहे कि परमात्मा ने घेरा। ऊपर उठो तो परमात्मा के सूरज ने घेरा। डुबकी लो तो पानी ने, परमात्मा के

जल ने घेरा। भूखे रहे तो परमात्मा की भूख ने घेरा और भोजन लो तो परमात्मा की तृप्ति ने घेरा।

और यह कोई शब्दों की बात नहीं है कि ऐसा तुम सोचो, क्योंकि तुम सोचोगे तो वही बाधा हो जाएगी। ऐसा तुम जानो। ऐसा तुम सोचो नहीं। ऐसा तुम दोहराओ नहीं। ऐसा तुम्हारा बोध हो। ऐसा तुम्हारा सतत स्मरण हो।

'लोकसमाज में भी भगवद्गुण-श्रवण और कीर्तन से भक्ति सम्पन्न होती है।'

'भगवद्गुण-श्रवण'...! भगवान के गुणों का श्रवण, और भगवान के गुणों का कीर्तन; उसके गुणों को सुनना और उसके गुणों को गाना।

सुनने से...अगर तुमने ठीक-ठीक सुना, अगर तुमने हृदय के पट खोल कर सुना, अगर तुमने कान से ही न सुना, प्राणों से सुना, तो तुम्हारे भीतर, भगवान के गुणों को सुनते-सुनते, उसके स्मरण का सातत्य बनने लगेगा। क्योंकि हम जो सुनते हैं, वही हमारा बोध हो जाता है। जो हम सुनते हैं, वह धीरे-धीरे हम में रसता जाता है। जो हम सुनते हैं, वह धीरे-धीरे हमारे रोएँ-रोएँ में व्याप्त हो जाता है। जो हम सुनते हैं सतत, वह धीरे-धीरे हमें घेर लेता है, हम उसमें डूब जाते हैं।

तो उसका श्रवण भी करो और उसके गुणों का कीर्तन भी करो। सुनने से ही कुछ न होगा। क्योंकि सुनना तो निष्क्रिय है और कीर्तन सक्रिय है। निष्क्रियता में सुनो, सक्रियता में अभिव्यक्त करो। अगर बोलो तो उसके गुणों की ही बात बोलो।

तुम कितनी व्यर्थ की बातें बोल रहे हो! कितनी व्यर्थ की चर्चाएँ कर रहे हो! अच्छा हो उसके सौंदर्य की बात करो। अच्छा हो उसके विराट अस्तित्व की थोड़ी चर्चा करो। उस चर्चा में तुम्हें भी याद आएगा; जिससे तुम चर्चा करोगे उसे भी याद आएगा। क्योंकि परमात्मा को हमने खोया नहीं है, केवल भूला है। इसलिए श्रवण का और कीर्तन का उपयोग है। अगर खो दिया हो तो क्या होने वाला है? जैसे कि तुम्हारे घर में खजाना हो और तुम भूल गये हो कि कहाँ दबाया था; तुम्हारे खीसे में हीरा रखा हो, और तुम भूल गये हो, तो अगर हीरे की कोई बात करे तो तुम्हें याद आ जाए।

तुमने कभी खयाल किया, घर से तुम चले थे, चिट्ठी डालनी थी, कोई मित्र मिल गया, तुम भूल ही गये थे दिन-भर, फिर उसने कुछ बात की और उसने कहा कि पत्नी का पत्र आया है— तत्क्षण तुम्हें याद आ गया कि तुम्हें पत्र डालना है। सुन के भूली बात स्मरण हो आयी। जो तुम्हारे भीतर पड़ा था, वह चैतन्य में उठ आया।

'भगवदगुण-श्रवण और कीर्तन से..।'

और फिर जो तुम सुनो, उसे सुन लेना ही काफी नहीं है, क्योंकि तुम फिर-फिर



भूल जाओगे। तुम्हारी नींद का कोई अंत नहीं है। उसे गाओ भी, गुनगुनाओ भी। रात जब सोने जाओ तो उसके ही गीत को गुनगुनाते सो जाओ, ताकि गुन-गुनाहट तुम्हारी रात-भर तुम्हारे सपनों में घेरे रहे; ताकि गुनगुनाहट रात-भर तुम्हें ऊभा देती रहे; ताकि गुनगुनाहट रात-भर तुम्हारे चारों तरफ पहरा देती रहे; ताकि तुम्हारी नींद में भी, तुम्हारी गहरी नींद में भी उसकी याद का सातत्य बना रहे।

खयाल किया तुमने, जो बात तुम रात को आखिरी सोचते हुए सोते हो, वही बात तुम्हें सुबह पहली याद आती है! न खयाल किया हो तो कोशिश करना। जो बात तुम्हारे चित्त में आखिरी होती है रात सोते वक्त, वही पहली होती है सुबह उठते वक्त; क्योंकि रात-भर वह बात तुम्हारी चेतना के द्वार पर खड़ी रहती है। अगर तुम परमात्मा का स्मरण करते ही सो जाओ तो सुबह तुम पाओगे: आँख खुलते ही उसके स्मरण के साथ उठे हो।

सारी दुनिया के धर्मों ने रात और सुबह, सोते वक्त और जागते वक्त, परमात्मा के स्मरण पर बहुत जोर दिया है, क्योंकि उस समय चेतना की भूमिका बदलती है: जागने से नींद, तो चेतना का गेयर बदलता है; फिर सुबह नींद से जागना, फिर चेतना की भूमिका बदलती है। इन संध्या के क्षणों में, इन बदलाहट के, क्रान्ति के क्षणों में, अगर परमात्मा का स्मरण तुम में व्याप्त होता जाए, तो तुम पाओगे: धीरे-धीरे तुम्हारे खून के कतरे-कतरे में परमात्मा की छाप लग गयी। तुम्हारा पूरा अस्तित्व उसे गुनगुनाने लगेगा।

'परन्तु भक्ति-साधन मुख्यतया महापुरुषों की कृपा से अथवा भगवद्कृपा के लेशमात्र से होता है।'

नारद कहते हैं, यह सब ठीक, यह साधन ठीक— लेकिन इतने से ही न हो जाएगा। वस्तुतः तो महापुरुष की कृपा या भगवत्कृपा से, उसके लेशमात्र से हो जाता है। ये तुम्हारे उपाय हैं जरूरी, पर इतने को ही काफी मत समझ लेना। यहीं भक्ति का अन्य साधनों से भेद है। अन्य साधन कहते हैं: अगर ठीक से किया तो परमात्मा उपलब्ध हो जाएगा; भक्ति कहती है: यह तो सिर्फ तैयारी है, इससे नहीं हो जाएगा, अन्ततः तो वह कृपा से ही उपलब्ध होगा— महापुरुषों की, और भगवत्कृपा से।

'परन्तु महापुरुषों का संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

सद्गुरु को खोजना बड़ा कठिन है।

संग—दुर्लभ, अगम्य और अमोघ!

दुर्लभ है, क्योंकि पहले तो जिन्होंने पा लिया सत्य को, ऐसे लोग बहुत कम। फिर जिन्होंने पा लिया, उनको तुम पहचान सको, ऐसी पहचानने वाली आँखे

बहुत कम । फिर तुम पहचान भी लो, दुर्लभता समाप्त हो जाए, तुम पहचान लो किसी को, तो अगम्य । फिर पहचान के बाद सद्गुरु तुम्हें ऐसे जगत में ले चलता है जो तुम्हारा पहचाना हुआ नहीं है, अगम्य है, समझ में नहीं आता है । तुम्हारी समझ डगमगाती है, तुम्हारे पैर डगमगाते हैं, तुम घबड़ाते हो । यह अपरिचित लोक है; नाव ऐसी तरफ ले जाता है, जहाँ तुम कभी गये नहीं, नक्शे भी तैयार नहीं, खतरा ही खतरा है ।

तो पहले तो मिलना कठिन, मिल जाए तो पहचानना कठिन, पहचान में भी आ जाए तो उसके साथ जाना कठिन – अगम्य है । लेकिन अगर तुम साथ चले जाओ तो अमोघ है, फिर वह रामबाण है; फिर उसकी ज़रा-सी भी कृपा पर्याप्त है ।

'यूं अचानक तेरी आवाज़ कहीं से आयी
जैसे परबत का ज़िगर चीर के झरना फूटे
या ज़मीनों की मुहब्बत में तड़प कर नागाह
आसमानों से कोई शोख सितारा टूटे ।'
'शहद-सा घुल गया तल्खावा-ए-तन्हाई में
रंग-सा फैल गया दिल के सियाहखाने में
देर तक यूं तेरी मस्ताना सदाएँ गूंजी
जिस तरह फूल चमकने लगें वीरानों में ।
यूं अचानक तेरी आवाज़ कहीं से आयी !'

सद्गुरु का मिलना अचानक है । खोजते रहो, खोजते-खोजते अचानक ... । क्योंकि कोई बँधे हुए नक्शे नहीं हैं, कोई पता-ठिकाना नहीं है । इसलिए अचानक...। कहाँ मिलेगा, इसको बताया नहीं जा सकता ।

सद्गुरु कोई जड़वस्तु नहीं है – चैतन्य का प्रवाह है; ठहरा हुआ नहीं है – गत्यात्मक है, गतिमान है ।

एक सूफी फकीर एक वृक्ष के नीचे बैठा था, एक युवक ने आ के पूछा कि 'मैं सद्गुरु की तलाश में हूँ, मुझे कुछ कसौटी बताएँगे कि मैं सद्गुरु को कैसे पहचानूं ?' तो उस फकीर ने उसे कसौटी बतायी कि ऐसे-ऐसे वृक्ष के नीचे अगर बैठा हुआ मिल जाए, तो समझना ... ।

वह युवक गया । उसने बहुत खोजा; कहते हैं, तीस साल ... । लेकिन वैसा वृक्ष कहीं न मिला, और न वैसे वृक्ष के नीचे बैठा हुआ कोई सद्गुरु मिला । कसौटी पूरी न हुई । बहुत लोग मिले लेकिन कसौटी पूरी न हुई, वह वापस लौट आया । जब वह वापस आया तो वह हैरान हुआ कि यह तो बूढ़ा उसी वृक्ष के नीचे बैठा था । इसने कहा कि महानुभाव, पहले ही क्यों न बता दिया कि यही वह वृक्ष है । उसने कहा, 'मैंने तो बताया था, तुम्हारे पास आँख न थी । तुमने वृक्ष देखा ही



नहीं । मैं तब व्याख्या ही कर रहा था वृक्ष की, तब तुम सुने और भागे । यही वृक्ष है, और मैं ही वह आदमी हूँ । और तुम्हारी झंझट तो ठीक, मेरी झंझट सोचो कि तीस साल मुझे बैठा रहना पड़ा, कि तुम एक-न-एक दिन आओगे ।

'यूं अचानक तेरी आवाज़ कहीं से आयी
जैसे परबत का ज़िगर चीर के झरना फूटे
या ज़मीनों की मुहब्बत में तड़प कर नागाह
आसमानों से कोई शोख सितारा टूटे ।'

–ज़मीन की मुहब्बत में तड़प कर ... ।
शिष्य तो ज़मीन जैसा है; गुरु आकाश जैसा है ।

'या ज़मीनों की मुहब्बत में तड़प कर नागाह
आसमानों से कोई शोख सितारा टूटे ।
शहद-सा घुल गया तल्खावा-ए-तन्हाई में ।'

वह जो पीड़ा से भरी हुई तन्हाई थी, अकेलापन था ...शहद-सा घुल गया !

'शहद-सा घुल गया तल्खावा-ए-तन्हाई में
रंग-सा फैल गया दिल के सियाहखाने में ।'

अँधेरी रात थी जैसे दिल में, वहाँ एक नया रंग उगा, एक नयी सुबह हुई ।

'देर तक यूं तेरी मस्ताना सदाएँ गूंजी
जिस तरह फूल चमकने लगें वीरानों में ।'

–जैसे अचानक मरुस्थलों में फूल खिल गये हों ! इतना ही आश्चर्यजनक है सद्गुरु का मिल जाना, जैसे मरुस्थल में अचानक फूल खिल जाएँ, जैसे पत्थर से टूट के अचानक झरना फूट पड़े, जैसे आसमान से कोई तारा ज़मीन की मुहब्बत में नीचे उतर आये !

संग दुर्लभ है । लेकिन जो खोजते हैं, उन्हें मिलता है । खोजने वाले चाहिए। कितना ही दुर्लभ हो, खोजने वालों को सदा मिला है । इसलिए तुम थक मत जाना और हार मत जाना । प्यास हो तो तुम्हें जल का झरना मिल ही जाएगा । असल में परमात्मा प्यास बनाने के पहले जल का झरना बनाता है; भूख देने के पहले भोजन तैयार करता है । प्यास तो बाद में बनायी जाती है, झरने पहले बनाये जाते हैं । आदमी ज़मीन पे बहुत बाद में आया, झील और झरने बहुत पहले आये । आदमी बहुत बाद में आया, वृक्षों में लगे फल बहुत पहले आये ।

ध्यान रखना, जिस बात की भी तुम्हारे भीतर खोज है, वह खजाना कहीं-न-कहीं तैयार ही होगा, अन्यथा खोज की आकांक्षा ही नहीं हो सकती थी । महा-पुरुषों का संग दुर्लभ है माना, मगर निराश मत होना । दुर्लभ इसलिए सूत्र कह रहा है ताकि खोजने में जल्दी मत करना, धीरज रखना । और कोई मतलब नहीं

है दुर्लभ का। दुर्लभ का यह मतलब नहीं है कि मिलेगा ही नहीं। मिलेगा, धीरज रखना। धैर्य से खोजना।

अगम्य है। और जब सद्गुरु तुम्हें अगम्य के मार्ग पर ले जाने लगे, जिसे तुम्हारी बुद्धि न समझ पाये – समझ ही न पाएगी, क्योंकि मार्ग प्रेम का है, अगम्य ही होगा, तर्कातीत होगा – तो घबड़ाना मत। इतनी हिम्मत रखना और साहस रखना। पागल होने का साहस रखना। दीवाने होने की हिम्मत रखना। भरोसा रखना।

इसी को श्रद्धा कहा है। श्रद्धा की जरूरत इसीलिए है, क्योंकि जहाँ अगम्य का द्वार खुलेगा, वहाँ तुम क्या करोगे, अगर श्रद्धा न हुई, वहाँ अगर तुमने कहा, पहले हम समझेंगे तब भीतर चलेंगे, तो रुकावट हो जाएगी; क्योंकि समझ तो तभी आ सकती है जब तुम भीतर पहुँच जाओ। और तुमने अगर यह शर्त रखी कि हम पहले समझेंगे, फिर भीतर चलेंगे ...।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, 'संन्यास तो लेना है, लेकिन पहले समझ लें कि संन्यास क्या है।' मैं उनको कहता हूँ, 'स्वाद लिये बिना तुम कैसे समझोगे? हुए बिना कैसे समझोगे। हो जाओ, समझ लेना पीछे।'

वे कहते हैं, 'यह कैसी बात? पहले समझ लें, सोच लें, विचार लें, फिर हो जाएँगे।' वे कभी भी न हो पाएँगे। यह मार्ग अगम्य का है, अनजान का है, अज्ञेय का है।

लेकिन सूत्र बड़ी अमूल्य बात कह रहा है: 'दुर्लभ है, अगम्य है, पर अमोघ है।' एक बार हाथ हाथ में आ गया तो चूक नहीं है, रामबाण है। फिर तीर लग ही जाएगा। फिर तीर छिद ही जाएगा आर-पार।

'उस भगवान की कृपा से ही महापुरुषों का संग भी मिलता है।'

यह संग भी, नारद कहते हैं, परमात्मा की कृपा से ही मिलता है। क्योंकि भक्त की सारी धारणा ही कृपा पर खड़ी है, प्रसाद पर। तुम्हें सद्गुरु भी मिलता है तो भी उसकी ही कृपा से मिलता है, तुम्हारी खोज से नहीं; जैसे सद्गुरु के द्वारा वही तुम्हारे पास आता है; जैसे सद्गुरु में वही तुम्हें मिलता है। तुम अभी इतने तैयार न थे कि सीधा-सीधा मिल सके, तो थोड़े परदे की ओटा से मिलता है। हाथ तो उसी का है – दस्ताने में है। हाथ तो उसी का है। सद्गुरु के भीतर भी आवाज उसी की है। लेकिन कोरे आकाश से अगर आवाज़ आये तो तुम समझ न पाओगे, घबड़ा जाओगे।

समझो कि यहाँ यह खाली कुर्सी हो और आवाज़ आये तो अभी तुम भाग खड़े हो जाते हो, फिर तो कहना ही क्या, फिर तो तुम लौट के भी न देखोगे। आवाज़ अभी भी शून्य से ही आ रही है।



सद्गुरु के द्वारा भी वही पुकारता है, वही बुलाता है, उसके ही हाथ तुम्हारी तरफ आते हैं – लेकिन हाथ तुम्हारे जैसे होते हैं, तुम भरोसा कर लेते हो; तुम हाथ हाथ में दे देते हो। देने पे पता चलेगा कि हाथ तुम्हारे जैसे नहीं थे; दिखाई पड़ते थे, धोखा हुआ।

सद्गुरु परमात्मा ही है। इसलिए सूत्र कहता है: 'वह भी उसकी ही कृपा से मिलता है।'

'जो कुछ है वोह, है अपनी ही रफ्तोर-अमल से
बुत है जो बुलाऊँ, जो खुद आये तो खुदा है।'

तुम्हारे बुलाने से भी आता है, ऐसा भी नहीं – 'जो खुद आये खुदा है'। मूर्तियाँ हैं जिन्हें तुम बुलाते हो।

'बुत है जो बुलाऊँ, जो खुद आये तो खुदा है।'

वह आता है अपने ही कारण। तुम जब भी तैयार हो जाते हो, तभी आ जाता है। ठीक से समझो तो ऐसा कहना चाहिए कि आता तो पहले भी रहा था, तुम पहचान न पाए। तुम जब सम्हले तो तुमने पहचाना; आता तो पहले भी रहा था; बुलाता तो पहले भी रहा था; तुमने न सुना, तुम्हारे कान तैयार न थे, तुम कुछ और सुनने में लगे थे।

'क्योंकि भगवान में और उसके भक्त में भेद का अभाव है।' इसलिए सद्गुरु में भी वही आता है।

'क्योंकि भगवान में और उसके भक्त में भेद का अभाव है।'

'दिले हर कतरा है साज़े अनलबहर
हम उसके हैं, हमारा पूछना क्या!'

हर बूंद का एक साज है और साज से निरंतर एक ध्वनि निकलती है कि मैं सागर हूँ। हर बूंद का एक साज है, एक गीत है। और हर बूंद निरंतर गाती रहती है कि मैं एक सागर हूँ।

'दिले हर कतरा है साज़े अनलबहर
हम उसके हैं, हमारा पूछना क्या!'

अब हमारी तो बात ही क्या कहनी! हम उसके हैं!

तुम भी अगर अपने भीतर झाँकोगे तो तुम एक ही आवाज पाओगे; तुम्हारे भी परमात्मा होने की आवाज़ पाओगे – जैसे हर बूंद में सागर होने की आवाज है। हर बूंद का साज़ है कि मैं सागर हूँ, और हर चैतन्य का साज़ है कि मैं परमात्मा हूँ। जिसने पहचान लिया, वह सद्गुरु। जिसने अपनी ही ध्वनि को पहचान लिया, वह सद्गुरु। जिसने अभी नहीं पहचाना है, खोजना है – लेकिन फर्क कुछ भी नहीं है।

'उस भगवान की कृपा से ही सत्पुरुषों का संग मिलता है, क्योंकि भगवान में और उसके भक्त में भेद का अभाव है।'

'उस सत्संग की ही साधना करो।'

'तदेव साध्यातां, तदेव साध्यताम् !'

उसकी ही साधना करो !

सत्संग की ही साधना करो।

सदगुरु की खोज करो !

किन्हीं हाथों पे भरोसा करो और हाथ हाथ में दे दो ! ऐसे ही तुम परमात्मा के हाथ में अपने को सौंप पाओगे। और ऐसे ही परमात्मा तुम्हारे हाथ को अपने हाथ में ले पाएगा।

तो भक्ति की साधना क्या हुई? सत्संग की साधना हुई। सार क्या हुआ? – कि ऐसे किसी व्यक्ति के साथ हो जाना है जिसने पा लिया हो। क्योंकि है तो तुम्हारे भीतर भी, लेकिन तुम्हारा साज़ सोया हुआ है। किसी ऐसी वीणा के पास पहुँच जाना है, जिसका साज़ बज उठा हो, ताकि उसकी प्रतिध्वनि में तुम्हारे तार भी कँपने लगें।

संगीतज्ञ कहते हैं कि अगर कोई कुशल संगीतज्ञ एक वीणा पर बजाए और दूसरी वीणा कमरे में चुपचाप रखी हो तो धीरे-धीरे उसके तार भी झंकृत होने लगते हैं। तरंगें जागी वीणा की, सोयी वीणा को भी जगाने लगती हैं : ध्वनि की चोट सोयी वीणा को भी खबर देती है कि मैं भी वीणा हूँ। उसके भीतर भी कोई जागने लगता है। उसके तार भी कँपने लगते हैं। रोमाँच हो आता है उसे भी। दूर की खबर आती है ! अपने अस्तित्व का बोध आता है।

सत्संग भक्त की साधना है।

मीरा मिल जाए तो उसके साथ हो लो। चैतन्य मिल जाएँ, उनके साथ हो लो। तुम्हें अपनी याद नहीं है, उन्हें अपनी याद आ गयी है – उनके साथ तुम्हें भी धीरे-धीरे तुम्हें अपनी याद आ जाएगी। कुछ और करना नहीं है।

सद्गुरु तो दर्पण है – उसमें तुम्हें अपना चेहरा धीरे-धीरे दिखायी पड़ने लगेगा; भूली-बिसरी याद आ जाएगी।

'उजाले अपनी यादों के हमारे पास रहने दो
न जाने किस गली में ज़िंदगी की शाम हो जाए।'

तो भक्त इतना ही कहता है अपने गुरु से –

'उजाले अपनी यादों के हमारे पास रहने दो
न जाने किस गली में ज़िंदगी की शाम हो जाए।'

–न मालूम किस दिन अंधकार घेर ले। बस तुम्हारा उजाला हमारे पास हो



तो काफी। याद भी तुम्हारे उजाले की हमारे पास हो तो काफी, क्योंकि तब हम भी उजाले हो गये। फिर कितना ही घना अँधेरा हो, अमावस की रात हो, कितना ही घेर ले, फिर भी हम उजाले ही रहेंगे।'

बुद्धों के पास तुम्हें अपने उजाले की याद आयी !

तो भक्त की साधना इतनी ही है कि वह सत्संग खोज ले।

भक्ति संक्रामक है।

तदेव साध्यतां, तदेव साध्यताम् !

आज इतना ही।

## दसवाँ प्रवचन

दिनांक २० जनवरी, १९७६; श्री रजनीश आश्रम, पूना

# परम मुक्ति है भक्ति

पहला प्रश्न : मुझे कभी लगता है कि मैंने आपसे बहुत-बहुत पाया और कभी यह भी कि मैं आपसे बहुत चूक रहा हूँ। ऐसा क्यों है ?

जितना ज्यादा पाओगे उतना ही लगेगा कि चूक रहे हो। जितनी होगी तृप्ति, उतनी ही और बड़ी तृप्ति की आकाँक्षा जगेगी।

प्यासे को जब पहली घूंट जल की, गले से उतरती है तो पहली दफा प्यास का पूरा-पूरा पता चलता है। प्यास का पता चलने के लिए भी जल की थोड़ी ज़रूरत है।

और परमात्मा की खोज तो ऐसी है कि शुरू होती है, पूरी नहीं होती। पूरी हो जाए तो परमात्मा सीमित हो गया, असीम न रहा। पूरी हो जाए तो परमात्मा का भी अंत आ गया, परिधि आ गयी, सीमांत आ गया।

इसीलिए तो परमात्मा निराकार है, तुम उसे चुका न पाओगे। तुम चुक जाओगे, परमात्मा न चुकेगा। उतरोगे सागर में ज़रूर, दूसरा किनारा कभी न आयेगा। दूसरा किनारा है ही नहीं। यही तो अर्थ है विराट का। अगर तुम दूसरा किनारा भी छू लो, थाह पा लो, फिर विराट कैसा विराट रहा! जो तुम्हारी मुट्ठी में आ जाए वह तो तुमसे भी छोटा हो जाएगा। जो तुम्हारे गले में तृप्ति बन जाए, उसकी सामर्थ्य तुम्हारे गले की सामर्थ्य से ज्यादा न रह जाएगी।

तो ये दोनों घटनाएँ साथ-साथ घटेंगी। तृप्ति भी मालूम होगी, गहन तृप्ति मालूम होगी और अतृप्ति मिटेगी नहीं। यही तो खोजी की व्याकुलता है : सरोवर के तट पर खड़ा है, डुबकियाँ लेता है, जलधार बरसती है; प्यास बुझती भी लगती है, बुझती भी नहीं; प्यास बुझती भी है और बढ़ती भी है। साथ-साथ ऐसा विरोधाभास घटता है।

तुम्हारी अड़चन मैं समझता हूँ। अगर प्यास ही रहे और तुम्हें मुझसे कुछ भी न मिले तो भी तर्क को समझ में आ जाए, बात खत्म हो गयी। यह मंदिर तुम्हारे लिए नहीं फिर, कहीं और खोजना होगा। यह द्वार तुम्हारे लिए नहीं फिर,

कहीं और खोजना होगा। यह सरोवर तुम्हारे कंठ से मेल नहीं खाता, कहीं और खोजना होगा। तो बात साफ हो जाती है।

या, तृप्ति हो जाए, प्यास बिलकुल खो जाए, तो भी हल हो जाता है। हल इतना आसान नहीं है। और हल ऐसा हो तो दुर्भाग्य है, सौभाग्य नहीं है। क्योंकि अगर तुम्हारी प्यास बिलकुल ही मिट जाए तो तुम्हारे जीवन का अर्थ भी खो गया। फिर जीवन में सार क्या होगा ? फिर जीवन में गीत के अंकुरण कैसे होंगे ? फिर नाचोगे कैसे ?

ध्यान रखना, न तो अतृप्त नाच सकता है, क्योंकि नाचने का कोई कारण नहीं। अतृप्त रो सकता है, शिकायत कर सकता है; नाचेगा कैसे ? तृप्त भी नहीं नाच सकता, क्योंकि फिर नाचने का कोई कारण न रहा। अतृप्ति और तृप्ति के बीच में एक पड़ाव है; वहाँ नृत्य है; वहाँ आनंद का आविर्भाव है।

और जब तुम समझोगे धीरे-धीरे, तो तुम जल के लिए ही परमात्मा को धन्यवाद न दोगे, प्यास के लिए भी धन्यवाद दोगे। तब तुम प्रार्थना करोगे कि जल भी बरसाते जाना और प्यास भी बढ़ाते जाना।

इन दोनों के मध्य में जीवन है। इन दोनों के मध्य में जीवन का संतुलन है, जीवन की ऊँचाइयाँ हैं, गहराइयाँ हैं।

अगर जीवन में विरोधाभास न हो तो जीवन मुर्दा हो जाता है : इस किनारे या उस किनारे। धार तो जीवन की मध्य में है : न इस किनारे न उस किनारे। तो इस किनारे से तो तुम्हारी नाव छुड़ा लूंगा। इसलिए थोड़ी तृप्ति होती मालूम पड़ेगी। अतृप्ति का किनारा दूर हटता जाएगा और तृप्ति का किनारा पास नहीं आएगा। मँझधार में पड़ जाओगे। और जिसने मँझधार में जीना सीखा, उसी ने परमात्मा में जीने की कला जानी।

किनारे का मोह भय के कारण है। तृप्ति की आकाँक्षा भी मुर्दादिली का हिस्सा है। वह कोई जिंदादिलों की बात नहीं है। जिंदादिल आग चाहते हैं, वर्षा भी चाहते हैं – वर्षा ऐसी चाहते हैं कि कैसी भी आग हो तो मिट जाए; और आग ऐसी चाहते हैं कि कैसी भी वर्षा हो तो न बुझ पाये। इन दोनों के बीच में जिसने जीना सीखा उसी ने जीना जाना।

ठीक पूछते हो। कभी लगेगा, बहुत कुछ पाया और कभी लगेगा, सब चूके जा रहे हो। और इन दोनों में विरोध मत देखना। ये दोनों बातें मैं एक साथ ही कर रहा हूँ। ये दोनों बातें एक साथ ही होनी चाहिए।

तुम्हारी अड़चन भी मैं समझता हूँ, क्योंकि तुम चाहते हो : निपटारा हो, इस पार कि उस पार। या तो सिद्ध हो जाए कि तृप्ति होती ही नहीं, अतृप्ति ही भाग्य है, अतृप्ति ही नियति है, तो ठीक है, उससे ही राज़ी हो जाएँ, सांत्वना कर लें, अपने



घर बैठ जाएँ, फिर किसी यात्रा पर जाना नहीं, जड़ हो जाएँ; और या फिर पक्का हो जाए कि तृप्ति पूरी हो जाती है – तो या तो अतृप्ति पर ठहर जाएँ या तृप्ति पर ठहर जाएँ !

ठहर जाने का तुम्हारा मन है। और परमात्मा चाहता है : तुम चलते ही रहो, चलते ही रहो, क्योंकि चलना जीवन है !

कब तुम्हें दिखायी पड़ेगा चलने का सौंदर्य – चलते जाने का सौंदर्य ?
रोज नये-नये अभियान उठें !
रोज नये शिखरों का दर्शन हो !
हाँ, पैर में बल मिलता जाए !
यात्रा से थकान न मिले !
पैर में बल मिलता जाए और नये शिखर उभरते चले आएँ !

जिन्होंने भी परमात्मा को जाना, वे मुर्दा नहीं हो गये हैं। उनके जीवन में पहली दफा वास्तविक जीवन की ऊर्जा का आविर्भाव हुआ है।

पर तुम इसे न समझ पाओगे, क्योंकि तुम्हारे गणित में बड़ी छोटी-छोटी बातें हैं। तुम्हारा गणित ही बड़ा छोटा है। तुम हिसाब ही कौड़ियों का कर रहे हो और यहाँ हीरे बरस रहे हैं। तुम हिसाब कौड़ियों का कर रहे हो और तुम्हें कौड़ियाँ दिखायी नहीं पड़तीं, तुम बड़ी मुश्किल में पड़ जाते हो। परमात्मा को क्या लेना-देना कौड़ियों से ?

सिक्के मत माँगो – तृप्ति के या अतृप्ति के !
जीवन की क्रांति माँगो !
जीवन की चुनौती माँगो !
जीवन का अभियान माँगो !
हाँ, शक्ति दे और नये शिखर दे !
पैरों में बल दे और कभी ऐसी घड़ी न आये कि चलने को कोई स्थान न रह जाए !
नये तल चैतन्य के छूते चलो !
आगे ही आगे जाना है !

तुम कहोगे, हम तो यही सोचते थे कि जल्दी ही पड़ाव आ जाएगा, कहीं रुक जाएँगे।

तुम्हारी रुकने की इतनी आकाँक्षा क्यों है ?
तुम्हारी रुकने की आकाँक्षा में ही ईश्वर का विरोध छिपा है !
ईश्वर अब तक नहीं रुका, तुम रुकना चाहते हो !
ईश्वर अभी भी बीज में अंकुर तोड़ेगा, वृक्षों में फूल लगायेगा।

अभी भी तारे बनाये चला जाता है नये !
अभी भी झरने बहाये चला जाता है !
अभी भी मेघ बनेंगे और बरसेंगे !
ईश्वर थका नहीं, चलता चला जाता है !

जो सदा चलता चला जाता है – सदा, सदैव – उसी को तो हम ईश्वर कहते हैं। जो थक जाता है, चुक जाता है, जिसकी सीमा आ जाती है – वही तो मन है; जो जल्दी ही बैठ जाना चाहता है, जो कहता है बस बहुत हो गया ... !

इस सीमा को तोड़ो !

परमात्मा के साथ चलना हो तो अनंत की यात्रा है। और जिस दिन तुम्हें यह समझ में आएगा, उस दिन तुम पाओगे : मंजिल नहीं है; यात्रा ही मंजिल है; हर कदम मंजिल है। तब तुम आनंद से नाचोगे भी, अहोभाव से गीत भी गाओगे; लेकिन बैठ के मुर्दा चट्टान की तरह न हो जाओगे, चलते ही रहोगे।

और-और नये फूल लगने हैं तुम में अभी !

तुम्हें अपनी ही सम्भावनाओं का कुछ पता नहीं। तुम्हें अपने ही होने का कुछ पता नहीं कि तुम कितने हो सकते हो !

'एक मौज मचल जाए तो तूफां बन जाए !'

–एक छोटी-सी लहर भी, अगर मचल जाए ...

'एक मौज मचल जाए तो तूफां बन जाएं' ... क्योंकि छोटी-सी लहर में सागर भी छिपा है।

'एक फूल अगर चाहे गुलिस्तां बन जाए !'

एक छोटा-सा फूल सारी पृथ्वी को फूलों से भर सकता है।

एक बीज सारी पृथ्वी को हरा कर सकता है : फैलता चला जाए ... एक बीज में करोड़ बीज लगते हैं; करोड़ों बीजों में और करोड़ बीज लगेंगे !

एक बीज मिल जाए पृथ्वी को तो सारी पृथ्वी हरी हो सकती है।

'एक मौज मचल जाए तो तूफां बन जाए
एक फूल अगर चाहे तो गुलिस्तां बन जाए।
एक खून के कतरे में है तासीर इतनी
एक कौम की तारीख का उनमां बन जाए !'

एक छोटे-से खून के कतरे में इतना छिपा है कि एक पूरी जाति के जीवन का शीर्षक बन जाए, इतिहास का शीर्षक बन जाए।

तुम्हें अपने होने का पता नहीं, तुम कौन हो ! तुमने जहाँ अपने को पाया है, वह तुम्हारे भवन की सीढ़ियाँ हैं; तुम अपने भवन में अभी प्रविष्ट भी नहीं



हुए। तुम जहाँ ठहर गये हो, वहाँ तो द्वार भी नहीं है, सीढ़ियाँ ही हैं; तुमने भवन में प्रवेश भी नहीं किया।

तुम इस किनारे पर बैठ गये हो – जिसको तुम संसार कहते हो। और अगर कभी तुम्हें कोई जगा देता है इस किनारे से...ऐसे तो तुम जगते नहीं आसानी से; ऐसे तो तुम बड़ी बाधाएँ डालते हो; ऐसे तो तुम हर चेष्टा करते हो, हर उपाय करते हो कि तुम्हारी नींद न टूट जाए – जो तुम्हारी नींद तोड़ता है वह दुश्मन जैसा मालूम पड़ता है।

लेकिन बुद्ध और क्राइस्ट और कृष्ण जैसे लोग तुम्हारे पीछे पड़े ही रहें, तो तुम आँख खोलते हो। तो तत्क्षण तुम पूछते हो कि दूसरा किनारा कितनी दूर है, ताकि तुम उस किनारे सो जाओ। यहाँ से तुम हटाये जाओ तो जल्दी ही तुम दूसरे किनारे को यही किनारा बना लेना चाहते हो। जड़ होने की तुम्हारी आदत बड़ी गहरी है।

जड़ता का मोह मंजिल की तलाश है।
चैतन्य तो प्रवाह है, यात्रा है। चैतन्य की कोई मंजिल नहीं।
पत्थर ठहर जाता है;
फूल कैसे ठहरे !
फूल को तो जाना है, और होना है !
फूल को तो करोड़ फूल होना है, अरब फूल होना है !
एक फूल को तो सारे विश्व पर फैल जाना है !
फूल रुके कैसे !
फूल एक यात्रा है, मंजिल नहीं।
पत्थर पड़ा है !
फूल खिलते हैं, मुरझा जाते हैं;
आते हैं, जाते हैं;
रुकते हैं क्षण-भर पत्थर के पास, फिर यात्रा पर निकल जाते हैं !
पत्थर अपनी जगह पड़ा है !
यह जड़ता ही सांसारिक मन है।

तुमसे इस किनारे को छुड़ाने का सवाल नहीं है – तुमसे किनारा ही छुड़ाने का सवाल है।

इसे मुझे दोहराने दो।

इस किनारे को छुड़ाने का सवाल नहीं है। तुमसे दुकान नहीं छुड़ानी है; क्योंकि तुम मकान छोड़ दोगे तो मंदिर पकड़ लोगे। तुम खाता-बही छोड़ दोगे तो तुम वेद-कुरान-गीता पकड़ लोगे। तुमसे यह नहीं छुड़ाना है, नहीं तो तुम वह पकड़

लोगे। तुमसे पकड़ छुड़ानी है। तुमसे किनारा नहीं छुड़ाना है, तुम्हारी जड़ता छुड़ानी है, यह बैठ जाने का ढंग छुड़ाना है

– ताकि तुम्हें प्रवाह होना आ जाए
– ताकि तुम गत्यात्मक हो जाओ
– ताकि बहने में ही तुम्हारी मंजिल हो
– रुकना तुम भूल जाओ
– तुम चलते ही रहो !

धीरे-धीरे अगर तुम ठीक से चलने की कला सीख जाओ तो तुम मिट जाओगे, चलना ही रह जाएगा। तुम भी इसीलिए हो, क्योंकि तुम बैठ जाते हो।

इसे कभी तुमने खयाल किया ? तुम कभी तेजी से दौड़े ? अगर तुम तेजी से दौड़ो तो तुम मिट जाते हो, दौड़ना रह जाता है।

तुम कभी परिपूर्ण रूप से नाचे ? अगर तुम समग्रतया नाच उठो तो तुम मिट जाते हो, नाच रह जाता है।

जब भी तुम गत्यात्मक होते हो, 'डायनेमिक' होते हो, तब तुम्हारा अहंकार मिट जाता है।

जहाँ तुम बैठे कि अहंकार आया ।
जहाँ तुम रुके कि अहंकार आया ।
जहाँ तुमने किनारा पकड़ा कि अहंकार आया ।
जहाँ तुमने कहा कि बस आ गये, कि अहंकार आया ।

जीवन अगर तुम्हारा पूरा गत्यात्मक हो और तुम बैठने की आदत छोड़ जाओ ...अगर तुम कभी बैठो भी तो इसीलिए कि चलने की तैयारी करते हो।

कभी-कभी बीज भी विश्राम करता है, वसंत की प्रतीक्षा करता है, महीनों पड़ा रहता है। जब बीज विश्राम करता है तो कंकड़-पत्थर में और बीज में फर्क करना मुश्किल होगा—लेकिन फर्क तो है।

कंकड़-पत्थर विश्राम ही करते हैं, कहीं जाते नहीं। बीज कहीं जाने के लिए तैयारी कर रहा है; साज-सामान जुटा रहा है; ठीक घड़ी-मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रहा है; ठीक समय और अनुकूल अवसर की बाट जोह रहा है; जाने को तत्पर है।

जैसे कभी दौड़ की प्रतियोगिता में तुमने देखा हो, दौड़ने वाले लोग खड़े होते हैं लकीर पर, लेकिन खड़े नहीं होते, भागे-खड़े होते हैं: घण्टी बजेगी या विसिल बजेगी, और वे दौड़ पड़ेंगे। बिलकुल तत्पर होते हैं ! अगर तुम उन्हें देखो तो तुम यह न कह सकोगे कि वे खड़े हैं; तुम कहोगे: वे अब गये, अब गये ! वे प्रतीक्षा में हैं, रोआँ-रोआँ तैयार है, क्योंकि एक क्षण भी चूकना खतरनाक है।

फूल और कंकड़ जब पास रखे हों तब भी फूल का जो बीज है वह ऐसे ही



खड़ा है जैसे दौड़ाक, या तैराक तैरने के लिए तत्पर हों; सिर्फ प्रतीक्षा है ठीक मुहूर्त की, और दौड़ जाएँगे। कंकड़ वहीं पड़ा रह जाएगा, बीज यात्रा पर निकल जाएगा।

तुम अगर कभी रुको भी तो सिर्फ थकान मिटा लेने को। कोई पड़ाव तुम्हारी मंजिल न बने ! रात-भर रुके और सुबह चल पड़ो। यह जीवंत धारा ही परमात्मा का अनुभव है।

तो अगर तुम्हें मुझे ठीक-ठीक समझना हो तो तुम तृप्ति और अतृप्ति के संयम में और संयोग में और संगीत में ही समझ पाओगे। मैं तुम्हें तृप्ति भी दूंगा ... तुम्हारे पुराने दुख छिनेंगे; तुम्हें नये दुख भी दूंगा। तुम्हारी पूरी पुरानी पीड़ाएँ गिर जाएँगी; तुम्हें नये दर्द भी दूंगा, ताकि तुम उन नये दर्दों को मिटाने में और नये-नये कदम उठाओ।

परमात्मा प्राप्ति नहीं अकेली, पीड़ा भी है। जिसने ऐसा जाना, उसके लिए हर कदम मंजिल हो जाता है।

और तुम अगर गौर से देखोगे तो तुम परमात्मा को हर जगह गत्यात्मक पाओगे। लेकिन तुमने झूठे परमात्मा खड़े किये हैं। मंदिरों में पत्थरों की मूर्तियाँ बना ली हैं, वे ठहरी हैं वहीं की वहीं। उनसे तो तुम्हीं थोड़े ज्यादा परमात्मा हो: चलते तो हो; उठते-डोलते तो हो; तुम्हारे जीवन में कुछ गति तो है – सुबह कहीं, साँझ कहीं ! मंदिर का तुम्हारा भगवान तो वहीं का वहीं पड़ा है।

अच्छा हो कि तुम फूलों को पूजो ! लेकिन तुम उलटे आदमी हो। तुम जिंदा फूलों को तोड़ के मुर्दा परमात्माओं के चरणों में रख आते हो। इससे तो अच्छा होता कि अपने मुर्दा परमात्मा को उठा के फूलों के चरणों में रख देते।

गति को पूजो, अगति को नहीं !
अगति जड़ता है।
प्रवाह को पूजो, पत्थरों को नहीं !

लेकिन पत्थर से तुम्हारा रास बैठ जाता है, क्योंकि तुम जड़ हो। तुमने अकारण ही पत्थर के भगवान नहीं बना लिये हैं; वे तुम्हारी जड़ता के सूचक हैं, सबूत हैं। तुमने अपनी ही छवि में उनको ढाल लिया है। तुमने अपनी ही प्रतिमाएँ गढ़ ली हैं – तुमसे भी ज्यादा मुर्दा !

थोड़ा पहचानो ! थोड़ा जागो !
गत्यात्मक को पूजो !
देखो: चाँद चलता है, सूरज चलता है, तारे चलते हैं ! कुछ ठहरा हुआ नहीं है !

इस जीवन को अगर तुम गौर से देखोगे तो कुछ ठहरी हुई कोई भी चीज न पाओगे। यहाँ सब चल रहा है !

तुम इतनी जल्दी में क्यों हो ठहर जाने को ?

यह ठहर जाने की आकांक्षा आत्मघाती है, सुसाइडल है। तुम मरना चाहते हो।

जियो ! हिम्मत करो जीने की ! और जितनी तुम्हारी हिम्मत बढ़ेगी जीने की उतना बड़ा जीवन तुम्हें उपलब्ध होगा – उसका अर्थ है, उतनी बड़ी चुनौती आएगी; उतनी बड़ी पीड़ा उतरेगी; उतने बड़े पहाड़ों को चढ़ने का अवसर मिलेगा।

और यह अवसर कभी समाप्त नहीं होता। यह समाप्त हो जाता तो दुर्भाग्य था। क्योंकि अगर ऐसी घड़ी आ जाए जहाँ तुम उस किनारे को पा लो तो फिर क्या करोगे ?

ब्रट्रेंड रसेल ने मजाक में ही कहीं कहा है कि मैं हिन्दुओं के मोक्ष से डरता हूँ : 'सब पा लिया, फिर ? फिर क्या करोगे ?'

रसेल गत्यात्मक व्यक्ति था; मुर्दा परमात्मा से, मुर्दा मोक्ष से डरे, स्वाभाविक है।

मोक्ष लेकिन मुर्दा नहीं है। जिन्होंने मोक्ष को मुर्दा बना लिया वे खुद मुर्दा होंगे, तो उन्होंने अपनी प्रतिछवि आरोपित कर ली है।

सागर की लहरें टकराती ही रहती हैं – अनंत काल से, अनंत काल तक ! ऐसे ही चैतन्य का सागर लहराता ही रहता है।

बुद्ध ने तो कहा : 'है' शब्द झूठा है। तुम कहते हो : नदी है; बुद्ध कहते हैं : नदी हो रही है, बह रही है; है नहीं। 'है' शब्द झूठ है। तुम कहते हो : वृक्ष है। जब तुमने कहा, वृक्ष है, तभी वृक्ष में कुछ नयी कोंपलें आ गयीं, कुछ पुराने पत्ते झड़ गये। तुम्हारे कहते-कहते ही तुम्हारा वक्तव्य झूठा हो गया; वृक्ष थोड़ा ऊपर छलाँग लगा गया; नयी जड़ें फूट आयीं।

'है' की अवस्था में तो कुछ भी नहीं है। ठहरा हुआ तो कुछ भी नहीं है।

तुम घड़ी-भर मुझे सुनोगे, घड़ी-भर बूढ़े हो गये। आये थे तुम वैसे ही वापस न जाओगे। चाहे तुम न समझ पाओ, लेकिन गंगा बहुत बह गयी ! सब बदल गया ! तुम ही नहीं बदल रहे हो, सारा संसार बदल रहा है।

गति जीवन है। और परमात्मा महाजीवन है तो महागति है।

तो मैं तुम्हें तृप्ति भी दूँगा, इसीलिए ताकि तुम्हें और अतृप्ति दे सकूँ। मैं तुमसे क्षुद्र की तृप्ति छीन लूँगा और विराट की अतृप्ति दूँगा। मैं तुमसे व्यर्थ की तृप्ति और व्यर्थ की अतृप्ति छीन लूँगा, और सार्थक की तृप्ति और सार्थक की अतृप्ति दूँगा। संसार के दुख तुमसे छीन लिये जाएँगे; तुम्हें परमात्मा की पीड़ा दूँगा।

पीड़ा भी ठीक और गलत होती है।

एक आदमी रो रहा है, उसका एक रुपया खो गया है : यह क्षुद्र की पीड़ा



है। यह हो तो भी ठीक नहीं। इसका रुपया भी मिल जाए तो भी क्या तृप्ति मिलने वाली है ! क्षुद्र की ही पीड़ा थी, क्षुद्र की ही तृप्ति होगी। यह अभागा आदमी है : रुपया खो गया है, इसलिए रो रहा है। फिर किसी को समझ में आयी कि मैं खुद ही खो गया हूँ, मेरा ही कुछ पता नहीं चलता, कहाँ हूँ। 'कहाँ हूँ' – अपने को खोजने लगा। बड़ी पीड़ा उठेगी। रुपये की पीड़ा बहुत बड़ी न थी, कोई भी हल कर देता; राह चलता कोई भी राहगीर एक रुपया दया करके दे देता। अब एक ऐसी पीड़ा उठी तुम्हें जो कोई भी हल न कर पाएगा। अब एक ऐसी पीड़ा उठी जो तुम्हें ही हल करनी पड़ेगी। संसार का कोई सिक्का इसे हल न कर पाएगा। फिर किसी दिन इसकी भी झलक मिलनी शुरू हो जाती है कि मैं कौन हूँ। तब एक और नयी पीड़ा उठती है कि यह विराट क्या है ! अपने को जान लिया, इतने से क्या होगा – यह बड़ा सागर क्या है ! बूंद की पहचान से क्या होगा ! अभी बूंद को पहचान भी न पाये थे कि सागर की जिज्ञासा उठने लगी। अभी बूंद को पहचान भी न पाये थे कि सागर ने द्वार पर दस्तक दी कि बैठ मत जाना।

और मैं तुमसे कहता हूँ : और भी बड़े सागर हैं। एक को चुकाओगे, दूसरा द्वार खुलेगा। एक द्वार निपटता नहीं कि नये द्वार खुल जाते हैं।

तो मेरे साथ तो केवल वे ही चल सकते हैं, जो तृप्ति और अतृप्ति दोनों को साथ-साथ लेने को तैयार हैं, जो मँझधार में जीने को तैयार हैं। और इसे ही मैं परमात्म-जीवन कहता हूँ। ऐसे जीवन के धारक को ही मैं संन्यस्त कहता हूँ। तुम उसे तृप्त भी पाओगे और अतृप्त भी। जहाँ तक व्यर्थ संसार का सम्बंध है, तुम उसे बड़ा तृप्त पाओगे; और जहाँ तक उस आत्यंतिक की, अंतिम की पुकार है, तुम उसे बड़ा अतृप्त पाओगे। एक दिव्य असंतोष उसमें तुम जलता हुआ पाओगे। संसार की तरफ से तुम उसमें पाओगे : बड़ी तृप्ति, सब मिला हुआ है ! और परमात्मा की तरफ से पाओगे : बड़ी अतृप्ति, कुछ भी मिला हुआ नहीं है !

इसलिए तुम्हें दोनों बातें लगेंगी : कभी लगेगा, बहुत-बहुत पाया मेरे पास; और कभी लगेगा, बहुत-बहुत चूके। दोनों ही ठीक हैं। और तुम दोनों के साथ ही राजी रहना, तो ही मेरे साथ, मेरे हाथ में हाथ डाल के चल सकोगे।

दूसरा प्रश्न : आपने कहा ... तब पाओगे कि भक्त ही भगवान है। प्रश्न उठता है कि एक भक्त भगवान होना पसंद करे और दूसरा सिर्फ भक्त रहना चाहे, तो दोनों में श्रेष्ठ कौन है ?

जो भगवान होना चाहे, वह तो हो न पायेगा। और जो भक्त भक्त ही रहना चाहे वह भगवान हो जाएगा। श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ का सवाल नहीं उठता, क्योंकि एक ही हो पायेगा। जो नहीं होना चाहता वही हो पायेगा। जो होना चाहता है, वह तो

वंचित रह जाएगा। वह तो चाह भी अहंकार की ही है ।

लेकिन मामला थोड़ा नाज़ुक है ।

कभी-कभी ऐसा होता है कि विनम्रता भी अहंकार की ही होती है । कहीं तुम्हारी विनम्रता भी अहंकार की ही न हो । कहीं तुम इसलिए ही न कह रहे होओ कि मैं नहीं होना चाहता, क्योंकि तुम जानते हो कि जो इनकार करते हैं वही हो पाते हैं । तो तुम चालाक हो । तो तुम्हारी विनम्रता व्यभिचारी है । तो तुम्हारी विनम्रता शुद्ध नहीं, पवित्र नहीं, कुँआरी नहीं, वेश्या जैसी है ।

जो भगवान होना चाहता है, जिसका यह अहंकार है कि भगवान होना है, वह तो पा नहीं सकेगा । लेकिन जो इसलिए विनम्र हो जाता है कि यही तरकीब है भगवान होने की, वह भी न पा सकेगा ।

और तब एक और जाल की बात है, वह भी समझ लेनी चाहिए । यह भी हो सकता है, जैसे कि विनम्र छिपाये हुए अहंकार हो सकता है, अहंकारी के भीतर छिपी हुई विनम्रता भी हो सकती है । कोई बड़ी सहजता से भी कह सकता है कि मैं भगवान होना चाहता हूँ; इसमें 'मैं' की कोई बात ही न हो । यह ज़रा कठिन है समझना । इसमें 'मैं' का कोई भाव ही न हो; इसमें शुद्ध पुकार हो अस्तित्व की; यह सीधी-सीधी बात हो; इसमें कहीं 'मैं' का कोई सवाल न हो; इसमें ऐसे ही हो कि मैं चाहता हूँ कि मुझमें भगवान हो; यह इतना ही हो कि मैं इससे कम पे राज़ी नहीं हो सकता : 'सब डुबाने को तैयार हूँ, सब गँवाने को तैयार हूँ – लेकिन जब तक भगवान ही मेरे हृदय में वास न करे, जब तक वही मुझे भर न दे, तब तक चैन नहीं ।' यह बड़ी गहरी प्यास हो सकती है; यह अहंकार हो ही न . . . ।

मैं तुमसे यह कह रहा हूँ कि अहंकार न हो तो ही भक्त भगवान हो पाता है । प्रगट-अप्रगट का सवाल नहीं है – वास्तविक विनम्रता हो ।

कभी-कभी ऊपर से शब्द तो अहंकार के दिखायी पड़ते हैं, भीतर बड़ी विनम्रता होती है । और कभी-कभी ऊपर से शब्द तो बड़ी विनम्रता के होते हैं, भीतर बड़ा अहंकार होता है ।

इसे तुम भलीभाँति खोज ले सकते हो अपने भीतर । दूसरे का कोई प्रयोजन भी नहीं है । अपने भीतर तो तुम जान सकते हो कि तुम्हारी विनम्रता अहंकार का ही आभूषण तो नहीं है, या तुम्हारा अहंकार केवल वक्तव्य की ही बात हो !

कृष्ण ने अर्जुन से कहा : 'मामेकं शरण व्रज ! तू मेरी शरण आ !' उस क्षण में कृष्ण में 'मैं' जैसा कुछ भी नहीं था – 'मैं' था ही नहीं । यह केवल वक्तव्य की बात थी, भाषा की बात थी । कृष्ण के भीतर से परमात्मा बोला, 'मैं' कुछ भी न था वहाँ ।

कभी-कभी तुम कहते हो : 'मैं तो कुछ भी नहीं, आपके पैरों की धूल हूँ ।



लेकिन ज़रा गौर करना । जिसे तुम कह रहे हो, वह अगर मान ले कि बिलकुल ठीक कह रहे हैं आप, यह तो मैं पहले ही से जानता हूँ कि आप कुछ भी नहीं, पैरों की धूल हैं, तब एक धक्का लगेगा छाती में कि अरे ! चोट लगेगी । अहंकार पीड़ित हो उठेगा, फुफकार उठेगा । तुम इस आदमी को कभी माफ न कर पाओगे । क्योंकि यह जो कह रहा था वह इसका प्रयोजन न था । यह तो असल में यह कह रहा था कि तुम कहो कि 'अरे आप, और पैर की धूल ! आप तो सिर के ताज हैं !' यह कहलवाने के लिए कह रहा था । यह चालाक है । यह होशियार है । यह गणित समझता है ।

तो तुम अपने भीतर जानना । दूसरे से कोई प्रयोजन भी नहीं है । दूसरे को ठीक-ठीक समझ भी न पाओगे, क्योंकि दूसरे के शब्द ही सुनायी पड़ेंगे । उसके भीतर क्या घट रहा है, तुम कैसे जानोगे ? लेकिन तुम अपने भीतर तो जाँच कर ही ले सकते हो ।

अगर तुम्हारी विनम्रता वास्तविक है, तो 'मैं' की उद्घोषणा भी उसे मिटा न सकेगी । और अगर तुम्हारा अहंकार प्रगाढ़ है तो 'मैं आपके पैरों की धूल हूँ', इस तरह का वक्तव्य उसे नष्ट न कर सकेगा ।

लेकिन भगवान वही हो पाते हैं जो 'नहीं' हो जाते हैं ।

और दोनों में कौन श्रेष्ठ है, यह तो पूछना ही मत । क्योंकि दोनों कभी पहुँच ही नहीं पाते । एक ही पहुँचता है । वही पहुँचता है जिसकी विनम्रता प्रमाणिक है । और प्रमाणिक विनम्रता का भाषा से कोई सम्बंध नहीं । प्रमाणिक विनम्रता का हृदय से सम्बंध है, तुम्हारी अन्तरानुभूति से सम्बंध है ।

'सूरते-नक्शे-रहगुजर आजिजी इख्तियार कर
अर्श की रफअतों पै गर तुझको मुकाम चाहिए ।'

अगर आकाश की ऊँचाइयों पर अपना मुकाम बनाना हो तो पदचिह्नों की भाँति विनम्र हो जा । लेकिन ध्यान रखना, इसीलिए मत पदचिह्नों की भाँति विनम्र हो जाना कि आकाश पर मुकाम चाहिए, नहीं तो चूक जाओगे । आकाश पर मुकाम चाहने की तो बात ही न हो । पृथ्वी पर पदचिह्नों की भाँति हो जाना, आकाश पे मुकाम अपने से हो जाता है ।

जो मिट जाते हैं, वे हो जाते हैं । जो अपने को छोड़ देते हैं, वे बच जाते हैं । मृत्यु यहाँ जीवन का सूत्र है और मिट जाना पा लेने की कला है ।

तीसरा प्रश्न : 'भक्त्या अनुवृत्या' ऐसा कहा है, तो भक्ति साकार ही होनी चाहिए । सूर्य सूर्यलोक में साकार ही है, वैसे ही भगवान भी साकार क्यों नहीं ?

किसने कहा, भगवान साकार नहीं है ?

सभी आकार उसी के हैं। भगवान का अपना कोई आकार नहीं है। तुम भगवान का आकार खोज रहे हो, इसलिए सवाल उठता है कि भगवान साकार क्यों नहीं।

वृक्ष में भगवान वृक्ष है, पक्षी में पक्षी है, झरने में झरना है, आदमी में आदमी है, पत्थर में पत्थर है, फूल में फूल है। तुम भगवान का आकार खोज रहे हो, तो चूकते चले जाओगे।

सभी आकार जिसके हैं, उसका अपना कोई आकार नहीं हो सकता। अब यह बड़े मजे की बात है। इसका अर्थ हुआ कि सभी आकार जिसके हैं, वह स्वयं निराकार ही हो सकता है। यह जरा उलटी लगती है बात : सभी आकार जिसके हैं वह निराकार!

सभी नाम जिसके हैं उसका अपना नाम कैसे होगा? जिसका अपना नाम है उसके सभी नाम नहीं हो सकते। सभी रूपों से जो झलका है उसका अपना रूप नहीं हो सकता। जो सब जगह है उसे तुम एक जगह खोजने की कोशिश करोगे तो चूक जाओगे। सब जगह होने का एक ही ढंग है कि वह कहीं भी न हो। अगर कहीं होगा तो सब जगह न हो सकेगा। कहीं होने का अर्थ है : सीमा होगी। सब जगह होने का अर्थ है : कोई सीमा न होगी।

तो परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं है। परमात्मा सभी के भीतर बहती जीवन की धार है। वृक्ष में हरे रंग की धार है जीवन की! वृक्ष आकाश की तरफ उठ रहा है– वह उठान परमात्मा है। वृक्ष छिपे हुए बीज से प्रगट हो रहा है– वह प्रगट होना परमात्मा है।

परमात्मा अस्तित्व का नाम है।

परमात्मा ऐसा नहीं है जैसे पत्थर है। परमात्मा ऐसे नहीं है जैसे तुम हो। परमात्मा ऐसा नहीं जैसा कि चाँद-तारे हैं। परमात्मा किसी जैसा नहीं, क्योंकि फिर सीमा हो जाएगी।

अगर परमात्मा तुम जैसा हो, पुरुष जैसा हो, तो फिर स्त्री में कौन होगा? स्त्री जैसा हो तो पुरुष वंचित हो जाएगा। मनुष्य जैसा हो तो पशुओं में कौन होगा? और पशुओं जैसा हो तो पौधों में कौन होगा?

इसे समझने की कोशिश करो।

परमात्मा जीवन का विशाल सागर है। हम सब उसके रूप हैं, तरंगें हैं। हमारे हज़ार ढंग हैं। हमारे हज़ारों ढंगों में वह मौजूद है। और ध्यान रहे कि हमारे ढंग पर ही वह समाप्त नहीं है; वह और भी ढंग ले सकता है। वह कभी भी ढंगों पर समाप्त नहीं होगा। उसकी संभावना अनंत है। तुम ऐसी कोई स्थिति की कल्पना नहीं कर सकते जहाँ परमात्मा पूरा-पूरा प्रगट हो गया हो। कितना ही प्रगट होता चला जाए, अनंत रूप से प्रगट होने को शेष है।



इसलिए तो उपनिषद कहते हैं : उस पूर्ण से हम पूर्ण को भी निकाल लें तो भी पीछे पूर्ण ही शेष रह जाता है। हम कितना ही निकालते चले जाएँ, हमारे निकालने से कुछ कमी नहीं पड़ती। हमारे निकालने से वह कुछ छोटा नहीं होता जाता– पूर्ण का पूर्ण ही शेष रहता है।

पूछा है : 'भक्ति साकार ही होनी चाहिए।'

भक्ति तो साकार होगी; भगवान साकार नहीं है। थोड़ी कठिनाई होगी तुम्हें समझने में। क्योंकि शास्त्रों से बँधी हुई बुद्धि को बड़ी अड़चनें हैं।

भक्ति तो साकार है; लेकिन भगवान साकार नहीं है। क्योंकि भक्ति का सम्बंध भक्त से है, भगवान से नहीं है। भक्त साकार है, तो भक्ति साकार है। लेकिन भक्ति का अंतिम परिणाम भगवान है। प्रथम तो यात्रा शुरू होती है भक्त से, अंतिम उपलब्धि होती है भगवान पर। शुरू तो भक्त करता है, पूर्णता भगवान करता है। प्रयत्न तो भक्त करता है, प्रसाद भगवान देता है।

तुम शुरू करने वाले हो, पूरे करने वाले तुम नहीं हो – पूरा परमात्मा करेगा।

तो, भक्ति के दो अर्थ हो जाएँगे : जब भक्त शुरू करता है तो वह साकार होती है; फिर जैसे-जैसे भगवान भक्त में उतरने लगता है, निराकार होने लगती है। जब भक्त पूरा मिट जाता है, भक्ति शून्य हो जाती है, निराकार हो जाती है। फिर तुम भक्त को बैठ के मंदिर में घंटी बजाते न देखोगे। फिर अहर्निश उसके प्राणों की धक-धक ही उसकी घंटी है। फिर तुम भक्त को राम-राम चिल्लाते न देखोगे, क्योंकि अब भक्त जो भी सोचे, वही राम-राम है। अब तुम भक्त को तिलक-टीका लगाते न देखोगे; अब तो भक्त ही स्वयं तिलक-टीका हो गया; वह स्वयं लग गया। अब अपना कुछ बचा नहीं। अब तुम भक्त को मंदिर जाते न देखोगे। हाँ, अगर तुम्हारे पास आँखें हों तो मंदिर को भक्त के पास आते देखोगे। अब तुम भक्त को भगवान को पुकारते न देखोगे; अगर तुम्हारे पास सुनने वाले कान हों तो तुम भगवान को देखोगे कि पुकार रहा है भक्त को।

भक्त ने शुरू की थी यात्रा, भगवान ने पूरी की। तुम एक हाथ बढ़ाओ, दूसरा हाथ उस तरफ से आता है। इस तरफ का हाथ साकार है, उस तरफ का हाथ निराकार है। इसलिए तुम ज़िद्द मत करना कि उस तरफ का हाथ भी साकार हो, अन्यथा झूठा हाथ तुम्हारे हाथ में पड़ जाएगा। फिर तुम्हारे ही दोनों हाथ होंगे : इधर से भी तुम्हारा, उधर से भी तुम्हारा।

उधर से आने वाला हाथ तो निराकार है, निर्गुण है। निर्गुण का यह मतलब नहीं है कि परमात्मा में कोई गुण नहीं है। निर्गुण का इतना ही मतलब है कि सभी गुण उसके हैं। इसलिए कोई विशेष गुण उसका नहीं हो सकता।

निराकार का यह अर्थ नहीं कि उसका कोई आकार नहीं है; सभी आकार

जो कभी हुए, जो हैं, और जो कभी होंगे, उसी के हैं। तरल है ! सभी आकारों में ढल जाता है। किसी आकार में कोई अड़चन नहीं पाता।

भक्त की तरफ से तो भक्ति साकार होगी, लेकिन जैसे-जैसे भक्त परमात्मा के करीब पहुँचेगा वैसे-वैसे निराकार होने लगेगी। और एक पड़ाव ऐसा आता है, जहाँ भक्त की तरफ से सब प्रयास समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि प्रयास भी अहंकार है। मैं कुछ करूँगा तो परमात्मा मिलेगा, इसका तो अर्थ हुआ कि मेरे करने पर उसका मिलना निर्भर है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि यह भी एक तरह की कमाई है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि अगर मैंने सिक्के मौजूद कर दिये तो मैं उसको वैसे ही खरीद के ले आऊँगा जैसे बाजार से किसी और सामान को खरीद के ले आता हूँ : पुण्य के सिक्के सही, भक्ति-भाव के सिक्के सही।

नहीं, ऐसा नहीं है। मैं सब भी पूरा कर दूँ तो भी उसके होने की कोई अनिवार्यता नहीं है। मेरे सब करने पर भी वह नहीं मिलेगा, जब तक कि मेरा 'करने वाला' मौजूद है।

तो भक्त पहले करने से शुरू करता है : बहुत करता है, बहुत रोता है, बहुत नाचता है, बहुत याद करता है, बहुत तड़फता है; फिर धीरे-धीरे उसे समझ में आता है कि मेरी तड़फन में भी मेरी अस्मिता छिपी है; मेरी पुकार में भी मेरा अहंकार है; मेरे भजन में भी मैं हूँ; मेरे कीर्तन में भी मेरी छाप है; कर्तृत्व मौजूद है !

जिस दिन यह समझ आती है उस दिन भक्त मिट जाता है; उस दिन जैसे किसी ने दर्पण गिरा दिया और काँच के टुकड़े-टुकड़े हो गये; उस दिन भक्त नहीं रह जाता।

जिस दिन भक्त नहीं रह जाता, भक्ति कौन करे ! कौन मंदिर जाए ! कौन मंत्रोच्चार करे ! कौन विधि-विधान पूरा करे ! एक गहन सन्नाटा घेर लेता है ! उसी सन्नाटे में दूसरा हाथ उतरता है।

तुम मिटे नहीं कि परमात्मा आया नहीं ! तुमने सिंहासन खाली किया कि वह उतरा ! तुम्हारी शून्यता में ही उसके आगमन की संभावना है।

भक्ति तो साकार है; भगवान निराकार है। और भक्त के सम्बंध में हम क्या कहें ? भक्त अपने को साकार समझता है, वह उसकी भ्रांति है; जिस दिन जानेगा, अपने को भी निराकार पायेगा। भक्त अपने को भक्त समझता है, यह भी उसकी भ्रांति है; जिस दिन जानेगा उस दिन अपने को भगवान पायेगा।

सब आकार स्वप्नवत् हैं। निराकार सत्य है; आकार स्वप्न हैं। लेकिन हम जहाँ खड़े हैं, वहाँ आकारों का जगत है। हम अभी स्वप्न में ही पड़े हैं। हमें तो जागना भी होगा तो स्वप्न में ही थोड़ी यात्रा करनी पड़ेगी।

भक्ति साकार ही होनी चाहिए — होती ही है। निराकार भक्ति हो नहीं सकती, क्योंकि निराकार में करने को क्या रह जाता है, करने वाला नहीं रह जाता !



भक्ति तो साकार ही होगी, लेकिन भगवान निराकार है। इसलिए एक-न-एक दिन भक्ति भी जानी चाहिए। भक्ति की पूर्णता पर भक्ति भी चली जाती है। प्रार्थना जब पूर्ण होती है तो प्रार्थना भी चली जाती है। ध्यान जब पूर्ण होता है तो ध्यान भी व्यर्थ हो जाता है — हो ही जाना चाहिए। जो चीज़ भी पूर्ण हो जाती है वह व्यर्थ हो जाती है। जब तक अधूरी है तब तक ठीक है : मंदिर जाना होगा, पूजा करनी होगी। करना, लेकिन याद रखना, कहीं यह न भूल जाए कि यह सिर्फ शुरुआत है। यह जीवन की पाठशाला की शुरुआत है, अंत नहीं है। यह बारहखड़ी है, क ख ग है।

छोटे बच्चों की किताबें देखी हैं ! कुछ भी समझाना हो तो चित्र बनाने पड़ते हैं, क्योंकि छोटा बच्चा चित्र ही समझ सकता है। आम तो छोटे में लिखो, आम का बड़ा चित्र बनाओ। पूरा पन्ना आम के चित्र से भरो, कोने में आम लिखो। क्योंकि पहले वह चित्र देखेगा, तब वह शब्द को समझेगा।

ऐसा ही भक्त है। भगवान ! 'भगवान' तो कोने में रखो, बड़ी मूर्ति बनाओ, खूब सजाओ। अभी भक्त बच्चा है। अभी उस खाली कोने में जो भगवान है वह उसे दिखायी न पड़ेगा।

तुमने कभी गौर किया ? मंदिर गये हो ? — जहाँ मूर्ति है वहाँ तो भगवान है; लेकिन खाली जगह जो मूर्ति को घेरे हुए है, वहाँ भगवान दिखायी पड़ा ? वहाँ भी भगवान है; तुम्हें नहीं दिखायी पड़ा, क्योंकि तुम्हें मूर्ति चाहिए। बचपन है अभी ! मंदिर में भगवान दिखायी पड़ा; मंदिर के बाहर कौन है ? मंदिर की दीवालों को कौन छू रहा है ? सूरज की किरणों में किसने मंदिर की दीवालों पर थाप दी है ? हवाओं में कौन मंदिर के आसपास लहरें ले रहा है ? मंदिर की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए भक्तों के भीतर कौन सीढ़ियाँ चढ़ रहा है ? वहाँ तुम्हें अभी नहीं दिखायी पड़ा। अभी बचकाना है मन। अभी चित्र चाहिए, मूर्ति चाहिए।

साकार से शुरुआत करनी होती है, लेकिन साकार पे रुक मत जाना। मैं यह नहीं कहता हूँ कि साकार की शुरुआत ही मत करना। नहीं तो बच्चा भाषा कभी सीखेगा ही नहीं। वह सीखने का ढंग है, बिलकुल ज़रूरी है। अड़चन वहाँ शुरू होती है जहाँ तुम पहले पाठ को ही अंतिम पाठ समझ के बैठ जाते हो।

सीख लेना और मुक्त हो जाना !

जो भी सीख लो, उससे मुक्ति हो जाती है।

आगे चलो !

मूर्ति में देख लिया — अब अमूर्त में देखो !

आकार में देख लिया – अब निराकार में देखो !

शब्द में सुन लिया – अब निःशब्द में सुनो !

शास्त्र में पहचान लिया – अब मौन में, शून्य में चलो !

पर जल्दी भी मत करना । अगर मंदिर में न दिखा हो तो मंदिर के बाहर तो दिख ही न सकेगा । जल्दी भी मत करना ।

आदमी का मन अति पर बड़ी आसानी से चला जाता है ।

तो इस देश में तो बड़ी अतियाँ हुईं । इसमें एक तरफ लोग हैं जो कहते हैं : परमात्मा निराकार है । वे किसी तरह की मूर्ति को बरदाश्त न करेंगे, किसी तरह की पूजा को बरदाश्त न करेंगे ।

मुसलमानों ने यही रुख पकड़ लिया, तो मूर्तियों को तोड़ने पे उतारू हो गये ।

अब थोड़ा सोचो : पूजा के योग्य तो मूर्ति नहीं है, लेकिन तोड़ने के योग्य है ! इतने में तो पूजा ही हो जाती । जब परमात्मा की कोई मूर्ति ही नहीं है तो तोड़ने का भी क्या प्रयोजन, तोड़ने में भी क्यों श्रम लगाते हो ?

अति होती है : या तो पूजा करेंगे, या तोड़ेंगे ।

समझ नहीं है अति के पास कोई ।

तो एक तरफ हैं जो जिद्द किये जाते हैं कि परमात्मा निराकार है । ठीक कहते हैं, बिलकुल ठीक ही कहते हैं : परमात्मा निराकार है । लेकिन आदमी उस जगह नहीं है अभी, जहाँ से निराकार से संबंध जुड़ सकें । आदमी अभी निराकार के योग्य नहीं है । होगा बुद्ध के लिए, पर आदमी बुद्ध कहाँ ? होगा महावीर के लिए, लेकिन किससे बातें कर रहे हो ? जिससे बातें कर रहे हो, उसकी भी तो सोचो । दया करो उस पर । तुम परम स्वस्थ लोगों की बातें अस्पताल में पड़े बीमारों से कर रहे हो ! बुद्ध को ज़रूरत नहीं है, लेकिन जिसको तुम समझा रहे हो, उसको ? उस पे ध्यान करो, करुणा करो थोड़ी ।

निराकार की बातें करने वाले बड़े दयाहीन हैं । करुणा उनके मन में ज़रा भी नहीं है । इसलिए उनकी निराकार की बातें सब थोथी, पांडित्य हैं, शास्त्रीय हैं ।

फिर दूसरी तरफ साकार की बात करने वाले लोग हैं, उनके मन में आदमी के प्रति दया तो है, लेकिन सत्य की निष्ठा नहीं । ठीक कहते हैं : इस आदमी को ले जाना है । जिसका सारा चित्त मूर्तियों से भरा है, जिसके चित्त में सब आकार ही आकार हैं, उससे निराकार की अभी पहचान नहीं हो सकती, आकारों से ही सम्बंध जुड़ाना होगा, फिर धीरे-धीरे छुड़ा लेंगे, सीढ़ी-सीढ़ी चढ़ा लेंगे । छलाँग न हो सकेगी, सीढ़ी-सीढ़ी यात्रा हो जाएगी ।

ठीक कहते हैं कि परमात्मा साकार है । लेकिन फिर जिद्द पैदा होती है । फिर जिद्द यह पैदा होती है कि परमात्मा साकार है, यह कोई अंतिम सत्य है । तो



फिर लोग मूर्तियों से ही बँधे रह जाते हैं । कुछ मूर्ति-भंजक हैं, मूर्तियाँ तोड़ने में जीवन गँवाते हैं; कुछ मूर्ति-पूजक हैं, मूर्तियों को सजाने में जीवन गँवाते हैं ।

मेरी तुम पूछते हो तो मैं तुमसे कहूँगा : मुझे दोनों की बातों में सार है और दोनों की बातों में खतरा भी दिखायी पड़ता है । सार है दोनों की बातों में और खतरा भी दोनों की बातों में । तुम सार-सार चुन लेना और खतरे से बच जाना ।

मेरा कोई मजहब नहीं है, मेरा कोई सम्प्रदाय नहीं है । इसलिए मुझे कोई अड़चन भी नहीं है; किसी से भी सत्य, जहाँ भी सत्य हो, वहाँ देखने में मुझे कोई अड़चन नहीं है । मेरा कोई आग्रह नहीं है । मेरे पास कोई कसौटी नहीं है जिस पे मैं तौलूं । मैं सीधा देख पाता हूँ ।

जो साकार की बात कहते हैं, वे ठीक कहते हैं; आधी मंजिल तक वे तुम्हारे साथ हो सकेंगे – बस आधी मंजिल तक ! उसके बाद निराकार की बात तुम्हारे लिए महत्त्वपूर्ण होने लगेगी । तब तुम घिरे मत रह जाना, गिरफ्त में मत रह जाना । तब तुम यह मत कहना कि हम तो साकार की पूजा करते रहे अब तक, आकार को भीतर न प्रवेश करने देंगे । आँख बंद मत कर लेना जब निराकार पुकारे । यह मत कहना कि यह मेरी धारणा में नहीं है, यह तो हमारा शास्त्र नहीं है, हम तो मानने वाले साकार के हैं ! आँख बंद मत कर लेना । पीठ मत फेर लेना । क्योंकि तुम्हारा साकार ही वहाँ ले आया है; उसको तो तुम अपनी साकार की सफलता मानना कि तुम्हारी पूजा पूरी हुई, तुम्हारी प्रार्थना सुनी गयी । तो तुमने फायदा भी ले लिया, तुम खतरे से भी बच गये ।

साकार से तुम चलो, निराकार पर तुम पहुँचो ।

ऐसा अगर तुम्हारे जीवन में संतुलन हो तो कोई खतरा नहीं है ।

तो, दूसरी तरफ लोग हैं, वे कहते हैं, 'जब निराकार ही है अखीर में तो हम पहले से ही निराकार क्यों न मानें ?' वे चल ही नहीं पाते । वे उन लंगड़े लोगों की तरह हैं जो बैसाखियों का सहारा लेने को राज़ी नहीं ।

तुमने देखा ! – पैर पे चोट लग गयी हो, ऐक्सिडेंट हो गया हो, तो डॉक्टर कहता है, बैसाखियों का सहारा ले लो । साल छह महीने बैसाखियों के सहारे चलो, फिर धीरे-धीरे शक्ति वापस लौट आएगी । फिर धीरे-धीरे बैसाखियाँ छोड़ देना, पैरों पे चलना ।

तुम डॉक्टर से यह नहीं कहते कि 'जब अखीर में पैरों पे ही चलना है तो अभी से हम बैसाखियों से क्यों चलें ? नहीं, हम बैसाखियाँ छुएँगे भी नहीं ।' तुम कहते हो, 'ठीक है, बैसाखियों का उपयोग कर लेंगे ।'

सब धर्म तुम्हारे उपयोग के लिए हैं । तुम उनका उपयोग कर लेना और तुम

किसी के भी गुलाम मत बनना। कोई धारणा इतनी बड़ी न हो जाए कि सत्य को ओट कर ले।

चौथा प्रश्न : आशीर्वाद क्या है? और गुरु जब शिष्य के सिर पर हाथ धरता है, तब क्या प्रेषित करता है? और क्या आशीर्वाद लेने की भी क्षमता होती है?

आशीर्वाद गुरु तो अकारण देता है, बेशर्त देता है; लेकिन तुम ले पाओगे या न ले पाओगे, यह तुम पे निर्भर है। इतना ही काफी नहीं है कि कोई दे और तुम ले लो; तुम्हें उसमें कुछ दिखायी भी पड़ना चाहिए, तभी तुम लोगे। वर्षा हो और तुम छाते की ओट में छिप के खड़े हो जाओ, तो तुम न भीगोगे। आशीर्वाद बरसे, और तुम अहंकार की ओट में, अहंकार के छाते में छिप जाओ, तो तुम न भीगोगे। वर्षा हो जाएगी, मेघ आएँगे और चले जाएँगे, और तुम सूखे-के-सूखे रह जाओगे।

तो, तुम्हारी तैयारी चाहिए। तुम्हारा स्वीकार का भाव चाहिए। ग्रहण करने की क्षमता चाहिए। चातक की भाँति मुँह खोल के आकाश की तरफ, प्रार्थना से भरा हुआ हृदय चाहिए। स्वाति की बूँद तुम्हारे बंद मुँह में न गिरेगी – मुँह खुला होना चाहिए, आकाश की तरफ उठा होना चाहिए, प्रतीक्षातुर होना चाहिए, तो ही ...।

तो, जब तुम गुरु के पास झुको, तब वस्तुतः झुकना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि सिर ही झुके और हृदय बिना झुका रह जाए, तो आशीर्वाद बरस जाएगा और तुम अछूते रह जाओगे ...।

समझने की बात यह है कि गुरु यह नहीं कह रहा है कि तुम्हारी कोई पात्रता होगी तो आशीर्वाद दूँगा; लेकिन तुम्हारी पात्रता न होगी तो दिया आशीर्वाद तुम तक न पहुँच पायेगा, व्यर्थ चला जाएगा।

गुरु आशीर्वाद देता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं; गुरु से आशीर्वाद बरसता है, ऐसा ही कहना ठीक है। जैसे दीये से रोशनी झरती है, फूल से गंध बहती है, ऐसा गुरु कुछ करता है, प्रेषित करता है, ऐसा नहीं; तुम्हें कुछ देता है विशेष रूप से, ऐसा नहीं – झर ही रहा है। वह उसके होने का ढंग है। उसने कोई ऊँचाई पायी है, जिस ऊँचाई से झरने नीचे की तरफ बहते ही रहते हैं। अगर तुम तैयार हो तो तुम नहा लोगे। तुम अगर तैयार हो तो तुम्हारे मार्ग के काँटे हट जाएँगे और फूलों से भर जाएगा मार्ग।

लेकिन आशीर्वाद लेने की कला, झुकने की कला है। वह अहंकार को हटाने की कला है। वह स्वीकार-भाव है! आस्तिकता है! श्रद्धा है! आस्था है! प्रेम है!



तो पहली तो बात यह है कि गुरु देता है, ऐसा नहीं; गुरु आशीर्वाद का दान है, देता नहीं है। गुरु के होने में ही समाया है ...।

तो अगर तुम मुझसे पूछो कि गुरु की परिभाषा क्या है तो यही परिभाषा है : जिससे आशीर्वाद झरते हों। तुम माँगो-न-माँगो, तुम लेने आये हो न लेने आये हो, तुम झुको-न-झुको – इससे कोई भेद नहीं पड़ता; जिससे आशीर्वाद तुम पर झरते ही हों, प्रसादरूप बरसते हों ...!

ऐसा भी मत समझना कि वह तुम्हारे लिए कुछ विशेष रूप से कर रहा है। कोई भी न हो, एकांत में भी दीया जले, तो भी रोशनी जलती रहती है, तो भी प्रकाश पड़ता रहता है। वीरान में, निर्जन में फूल खिले, कोई राह से न निकले, कोई नासापुट पास न आएँ, किसी को कभी कानोंकान खबर भी न होगी शायद, निर्जन में खिले फूल की किसको खबर होगी; लेकिन सुगंध तो झरती ही रहेगी; सुगंध तो भरती ही रहेगी हवाओं में, हवाओं पर पंख फैलाती रहेगी; सुगंध तो दूर-दूर की यात्रा पर निकलती ही रहेगी। फूल तो अपने को लुटा देगा, इससे क्या फर्क पड़ता है कि कोई था या नहीं! किसी का होना-न-होना संयोग है। फूल खिल गया है तो सुगंध का बिखरना नियति है।

गुरु वही है जिससे आशीर्वाद ऐसे ही बिखरता है, जैसे खिल गये फूल से गंध बिखरती है। संयोग की बात है कि कोई ले ले, झेल ले। संयोग की बात है कि कोई अपने नासापुटों को भर ले। संयोग की बात है कि इन किरणों को कोई सम्हाल ले अपने हाथों में और अपने अंधेरे रास्ते पर चिराग जला ले। यह संयोग की बात है।

आशीर्वाद दिया नहीं जाता; गुरु के होने का ढंग आशीर्वाद है; वह प्रसादरूप है।

आशीर्वाद क्या है?

आशीर्वाद जैसे मैंने कहा, फूल जब खिलता है तो गंध बिखरती है – गंध क्या है? बीज में छिपी थी, फूल में प्रगट हुई; बीज में बंद थी, फूल में खिली। लम्बी यात्रा करनी पड़ी, बीज अंकुर बना; कितनी कठिनाइयाँ थीं; कितने पत्थर-रोड़े थे राह में बीज के, ज़मीन को फोड़ कर ऊपर आया; कितना कोमल था और कितना संघर्ष था; हज़ार उपद्रवों को झेल कर बचा – वृक्ष बना, फूल खिले, गंध बिखरी!

गुरु – तुम्हारे भीतर जो कल होने वाला है, तुम्हारा जो भविष्य है, वह गुरु का वर्तमान है। तुम अगर बीज हो तो वह गंध हो गया है। तुम अगर बंद झरने हो, राह नहीं खोज पा रहे हो, तो वह सागर से मिल गया है। वह तुम्हारा भविष्य है।

गुरु में तुम अपने होने की आखिरी संभावना का दर्शन पाते हो।

आशीर्वाद का अर्थ है : गुरु के सान्निध्य में तुम्हारे वर्तमान और तुम्हारे भविष्य का मिलन होता है; तुम्हारा भविष्य तुम्हारे वर्तमान पे झरता है।

गुरु माध्यम है; तुम जो नहीं हो अभी और हो सकते हो, उसकी खबर है। अगर तुम ठीक से झुक जाओ तो उसका आशीर्वाद तुम्हारे लिए एक उर्ध्वयात्रा बन जाएगी। वह तुम्हारे ऊपर उतरेगा, बरसेगा। जैसे आकाश से वर्षा होती है, ज़मीन में छिपे बीज तक पहुँचती है, ऐसा वह तुम तक पहुँचेगा। आकाश से वर्षा होती है, ज़मीन में छिपे बीज तक पहुँचती है और तत्क्षण बीज का अंकुरण हो जाता है और बीज आकाश की तरफ उठने लगता है।

आशीर्वाद में गुरु तुम तक पहुँचेगा, उतरेगा; उसका अस्तित्व तुम्हारे अस्तित्व को छुएगा; तुम्हारी भूमि में, अँधेरे में दबे हुए बीज पर उसकी वर्षा होगी – और तत्क्षण तुम ऊपर की यात्रा पर निकल जाओगे।

आशीर्वाद का अर्थ है : गुरु ने तुम्हारे शून्य में, तुम्हारी रिक्तता में अपने को भरा, ताकि तुम्हारे भीतर जो दबा पड़ा है, उसे पुकार मिल जाए, उसे आह्वान मिल जाए, चुनौती मिल जाए, सुगबुगाहट पैदा हो; तुम्हारे भीतर जो बीज है वह भी अंकुरित होने लगे, उसे खबर मिल जाए कि मैं क्या हो सकता हूँ!

इसलिए भक्ति-शास्त्र सत्संग की महिमा गाता है।

तुम करीब आओ, तुम झुको, तो गुरु तुम्हारे करीब आ पाता है। तुम झुको तो वह तुम में उतर पाता है...अवतरण!

हर आशीर्वाद में परमात्मा अवतरित होता है। हर आशीर्वाद अवतार है।

हमने उन्हीं व्यक्तियों को अवतार कहा है जिनके कारण बहुत-से व्यक्तियों के भीतर, अनेकों के भीतर सोयी हुई सम्भावनाएँ सजग हो गयीं, वास्तविक बनीं। हमने उन्हीं व्यक्तियों को अवतार कहा है जो हमारे भीतर उस गहराई तक उतर सके जहाँ तक हम भी नहीं पहुँच पाए और जिन्होंने हमारी गहराइयों को छू दिया, तिलमिला दिया, जगा दिया, जिन्होंने हमारी नींद तोड़ दी।

तो आशीर्वाद अवतरण है – ऊँचाइयों का, तुम्हारी गहराइयों में; भविष्य का, तुम्हारे वर्तमान में; संभावना का, तुम्हारी वास्तविकता में; तुम्हारे तथ्यों के जीवन में सत्य की पुकार है।

और आशीर्वाद अनूठी बात है, क्योंकि गुरु दिये जा रहा है। उसे कुछ करना नहीं पड़ रहा है। कोई श्रम नहीं है जो उसे करना पड़ रहा है। तुम न भी लोगे तो भी यह गंध हवाओं में लुटानी ही पड़ेगी। मेघ जब भर जाएँगे, तो बरसेंगे ही। बीज अंकुरित हों या न हों; मेघ जब भर जाएँगे तो बरसेंगे ही – बरसना ही पड़ेगा।

तो गुरु मेघ है, बरस रहा है।

बुद्ध ने तो उस अवस्था को मेघ-समाधि कहा है – जब समाधि बरसती है। वही गुरु की दशा है। जब समाधि बरसने लगती है – तब आशीर्वाद, तब प्रसाद!

पर तुम ले सको तो ही ले पाओगे।



झुकने की कला सीखो, मिटने की कला सीखो, तो तुम्हारे होने का सूत्रपात होता है।

पाँचवाँ प्रश्न : कल के प्रवचन में अचानक कुछ घटा! सुनते-सुनते ध्यान दो वाक्यों के बीच मौन पर केन्द्रित हो गया और बड़ी गहरी और शीतल शांति का अनुभव हुआ! प्रणाम स्वीकार करें!

शुभ हुआ! उस तरफ ज्यादा-से-ज्यादा ध्यान को ले जाएँ, ताकि यह घटना केवल एक स्मृति न रह जाए, ताकि यह घटना धीरे-धीरे तुम्हारे जीवन की शैली बन जाए!

जैसे दो शब्दों के बीच में ध्यान रुका, ऐसे ही जीवन के हर पहलू में जहाँ-जहाँ अभिव्यक्ति है, वहाँ-वहाँ दो अभिव्यक्तियों के बीच में ध्यान देना।

स्त्री और पुरुष हैं – ये अभिव्यक्तियाँ हैं। अगर तुम पुरुष ही रहोगे तो संसार में रहोगे; स्त्री ही रहोगे तो संसार में रहोगे। दोनों के बीच में कहीं मोक्ष है।

रात और दिन अभिव्यक्तियाँ हैं। अगर तुम दिन से बँधे रहे तो रात से डरे रहोगे। अगर रात से बँधे रहे तो दिन से परेशान रहोगे। रात और दिन के बीच में संध्या का काल है। इसलिए तो हमने इस देश में संध्या को प्रार्थना का समय चुना है – बीच में, ठीक मध्य में!

दुकान से ही मत बँधे रहना और मंदिर से भी मत बँध जाना। मंदिर और दुकान के बीच में कहीं संन्यास है। हर दो अभिव्यक्तियों और विरोधों, अतियों के बीच में मध्य को खोजते रहना, तो तुम्हारे जीवन में संयम का फूल खिलेगा।

और यह घटना स्मृति न बन जाए, क्योंकि बहुत बार ऐसी घटना घटती है। हम ऐसे अभागे हैं कि घट भी जाती है, झलक भी मिल जाती है, तो भी झलक को गहराते नहीं। पकड़ में भी आ जाते हैं सूत्र तो आ-आ के खो जाते हैं। कई बार तुम्हारे हाथ में आँचल आ गया है सत्य का और छिटक गया है; तुम फिर झपकी लेने लगते हो, फिर याद भूल जाती है, फिर होश खो जाता है।

शुभ हुआ! सौभाग्य हुआ! प्रसाद का क्षण मिला! उसे गहराना। उसे जितना ज्यादा जहाँ-जहाँ खोज सको, खोजना, ताकि धीरे-धीरे वह तुम्हें हर जगह दिखायी पड़ने लगे। उसी शून्य और शांति से तुम्हें परमात्मा के पहले दर्शन होंगे। उसी शून्य से निराकार का हाथ तुम तक आएगा। हाथ तैयार ही है आने को! तुम बस ज़रा एक कदम चलो, परमात्मा हज़ार कदम तुम्हारी तरफ चलता है।

आखिरी प्रश्न : एक परम्परा कहती है कि देवर्षि नारद परम मुक्ति को उपलब्ध नहीं थे। दूसरी परम्परा उन्हें सप्तऋषि में एक मानती है, जिनका गुह्य

और परोक्ष कार्य सदा चलता रहता है। क्या भक्ति-सूत्र के रचयिता के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने की कृपा करेंगे ?

जान कर ही नारद की कोई बात मैंने नहीं की। सोच कर ही छोड़ा। क्योंकि भक्त का कोई कर्तृत्व नहीं होता और न व्यक्तित्व होता है। भक्त तो एक मौन है, एक शून्य निवेदन है !

भक्त कुछ करता नहीं, इसलिए कोई कर्तृत्व नहीं होता।

भक्त तो एक आनंद है ! एक गीत है ! एक नृत्य है ! एक अहोभाव है !

बड़ा सूक्ष्म है भक्त का अस्तित्व !

न तो कोई कर्तृत्व है, न कोई व्यक्तित्व है; क्योंकि भक्त तो एक खाली बाँस की पोंगरी है, व्यक्तित्व क्या ! खाली जगह है, जहाँ से भगवान को जगह देता है, जहाँ से भगवान उससे बहने लगते हैं।

नारद पर इसीलिए मैंने कुछ कहा नहीं। और इसीलिए नारद के सम्बंध में न मालूम कितनी कथाएँ प्रचलित हैं। नारद के व्यक्तित्व को समझा ही नहीं जा सका। समझने के लिए जगह नहीं है। समझने के लिए आधार नहीं है।

एक परम्परा कहती है कि वे परम मुक्ति उपलब्ध नहीं हुए। क्यों ?— क्योंकि नारद में बुद्ध जैसा व्यक्तित्व दिखायी नहीं पड़ता, न महावीर जैसा व्यक्तित्व दिखायी पड़ता है। नारद ऐसे सुलझे हुए मालूम नहीं होते जैसे बुद्ध सुलझे हुए मालूम होते हैं। नारद बड़े उलझे मालूम होते हैं। कथाएँ कहे चली जाती हैं कि पृथ्वी और स्वर्ग के बीच में न केवल खुद उलझे हैं, दूसरों को भी उलझाते रहते हैं।

नारद का व्यक्तित्व साफ-साफ नहीं है। बुद्ध साफ-साफ उस पार हैं, समझ में आते हैं। नारद न इस पार न उस पार, कहीं बीच में डोलते हैं।

कितनी कथाएँ हैं ! नारद स्वर्ग जा रहे हैं, वैकुंठ जा रहे हैं, वैकुंठ से ज़मीन पर आ रहे हैं— दो लोकों के बीच में ! मेरे लिए उतना ही इंगित है कि दो किनारों के बीच में ... !

व्यक्तित्व बड़ा उलझा हुआ मालूम पड़ता है। एक ही किनारे पे इतनी उलझन है। दो संसारों के बीच में जो जिये — एक पैर यहाँ रखे, एक वैकुंठ में रखे — उसकी उलझन तुम समझ सकते हो। लेकिन वही मेरे लिए परम संन्यास का रूप है, जो दो अतियों के बीच अपने को सम्हाल ले।

एक किनारे पे बस गये, वह भी कोई सुलझाव, सुलझाव हुआ ? या दूसरे किनारे पे हट गये, वह भी कोई सुलझाव, सुलझाव हुआ ? सेतु बनना चाहिए, जिस पे दोनों किनारे जुड़ जाएँ।

नारद सेतु हैं। इस तरफ से देखो तो बिलकुल संसारी हैं ! और उस तरफ



से तुम देख न सकोगे; उस तरफ से मैं देख रहा हूँ। उस तरफ से देखो तो परम वीतराग हैं।

इसी तरफ से देखा गया है। इसी किनारे पे खड़े हुए लोग देखते हैं कि यह सेतु तो यहीं जुड़ा है, इसी किनारे पर जुड़ा है, दूसरा किनारा तो दिखायी नहीं पड़ता।

तो नारद संसार से जुड़े मालूम पड़ते हैं, सांसारिक मालूम पड़ते हैं। उनके आसपास रची गयी कथाएँ इस किनारे के लोगों ने रची हैं। मैं तुमसे उस किनारे से कह रहा हूँ कि नारद सेतु हैं।

नारद बड़े अनूठे रहस्यपूर्ण व्यक्ति हैं। उनका अनूठापन यही है, उनकी अद्वितीयता यही है कि वे एकतरफा नहीं हैं, एकांगी नहीं हैं। महान समन्वय उनमें सिद्ध हुआ है।

फिर सारी कथाएँ कहती हैं कि वे कुछ उलझाव का ताना-बाना बुनते रहते हैं। लोकमानस में उनकी जो प्रतीति है वह कुछ चुगलखोर जैसी है। यह भी अकारण नहीं बन गयी होगी, क्योंकि कोई भी बात बनती है तो उसके पीछे कुछ-न-कुछ कारण होगा। हज़ारों साल तक करोड़ों लोग जब ऐसी कहानियाँ गढ़ते रहते हैं, तो उसके पीछे कहीं-न-कहीं कोई सूत्रपात होगा, कहीं-न-कहीं कोई आधार होगा। आधार है।

जब भक्त अपने को परमात्मा के हाथ में सौंप देता है, तो 'वह' जो करवाये वह करता है। फिर वह यह भी नहीं कहता कि यह बात जँचती नहीं, यह करना ठीक न होगा। फिर वह असंगतियाँ भी करवाये तो असंगति भी करता है। छोड़ने का अर्थ ही होता है पूरा छोड़ना। फिर उसमें हिसाब नहीं रखता। वह झूठ भी बुलवाये तो भी भक्त यह नहीं कह सकता, 'मैं न बोलूँगा।' क्योंकि भक्त है ही नहीं। वह कहता है, 'तेरा झूठ, तो तेरा झूठ मेरे सच से भी बड़ा है।'

इसे थोड़ा समझना : 'मेरा सच भी तेरे झूठ से छोटा होगा ! तेरा झूठ भी मेरे सच से बड़ा होगा ! फिर तू करवा रहा है तो ज़रूर कोई कारण होगा। फिर तू ही जान, यह हिसाब कौन रखे !'

तो नारद के व्यक्तित्व में संगति नहीं है : यहाँ की बात वहाँ कह रहे हैं, बढ़ा-चढ़ा के कह रहे हैं, कभी घटा के कह रहे हैं, कभी जोड़ के कह रहे हैं। इसलिए स्वभावतः लोकमानस को यह लगता है कि यह व्यक्ति और 'मुक्त'! तो थोड़ी अड़चन मालूम होती है।

'मुक्त' के सम्बंध में हमारी धारणाएँ हैं कुछ; नारद सब धारणाओं को तोड़ देते हैं, क्योंकि नारद अपने को सब भाँति समर्पित कर देते हैं। परमात्मा की इस विराट लीला में, इस बड़े खेल में, इस बड़े नाटक में, वे अपना कोई व्यक्तित्व ले के नहीं चलते, वे 'वह' जो करवाता है करते हैं। इतना ही इंगित है। 'वह'

अगर झूठ भी बुलवाये तो झूठ भी बोल देते हैं। लेकिन नारद ने झूठ नहीं बोला है; परमात्मा की लीला के अंश हो गये हैं !

इस बात को लोकमानस न समझ पाये, यह भी स्वाभाविक है। लेकिन इतना बड़ा सूत्र, इतना बड़ा नाटक चलता हो तो उसमें नारद जैसे व्यक्तित्व की भी ज़रूरत है। वह भी कोई कमी पूरी करता है। नारद के बिना कथाएँ अधूरी रह जाएँगी। नारद के बिना नाटक सूना-सूना होगा। नारद कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र का काम पूरा करते हैं।

पर नारद के व्यक्तित्व की बात इतनी ही है कि उन्होंने छोड़ दिया है : 'वह' जो करवाये !

उनका रूप जो लोकमानस में है वह यह है कि वे अपना एकतारा लिये इस लोक से उस लोक के बीच डोलते रहते हैं। उनका वाद्य उनके साथ है। उनका संगीत उनके साथ है। उनके भीतर की संगीतपूर्ण दशा उनके साथ है।

ज्यादा कुछ उनके सम्बंध में कहा नहीं जा सकता; कहने की कोई ज़रूरत भी नहीं है। उनका एकतारा ही उनका प्रतीक है। भीतर उनके एक ही स्वर बज रहा है, वह भक्ति का है; एक ही स्वर बज रहा है, वह समर्पण का है; एक ही स्वर बज रहा है, वह श्रद्धा का है। फिर परमात्मा जो कराये, जो 'उसकी' मर्जी !

नारद की अपनी कोई मर्जी नहीं है। अपने व्यक्तित्व को बनाने में भी उनकी कोई आचरणगत धारणा नहीं है। महावीर की मर्जी है; वे पैर भी फूंक-फूंक के रखते हैं; उनके पास एक आचरण है। बुद्ध की मर्जी है, एक शील है; नारद के पास अपना उतना भी दावा नहीं है।

इसलिए अगर तुम मुझसे पूछते हो तो मैं तुमसे कहता हूँ कि यही परम मुक्ति है।

आज इतना ही।

भगवान श्री रजनीश

रजनीश !
अहा, यह नाम कितना प्यारा है !
कितना मधुर है !
इस नाम ने—इस अनाम ने
न जाने कितने-कितने
कोटि-कोटि—असंख्य
हृदयों की वीणा—
सोयी वीणा के तार छेड़ दिये हैं
रजनीश—एक संगीतज्ञ अज्ञात का !
—स्वयं संगीत सनातन का !
—स्वयं स्रोत !
रजनीश—एक द्रष्टा !
—उसकी आंखों में झांको
तो उतर आता है आंखों में
कोई अलौकिक आलोक !
रजनीश—एक आग शीतल-सी !
—एक प्रज्ञा निर्झर-सी !
—एक कलाकृति स्वयंभू-सी !
—एक महामौन मुखरित-सा !
—एक शून्य विराट-सा !
—एक भगवान मानव-सा !

## भगवान श्री रजनीश

रजनीश !
अहा, यह नाम कितना प्यारा है !
कितना मधुर है !
इस नाम ने—इस अनाम ने
न जाने कितने-कितने
कोटि-कोटि—असंख्य
हृदयों की वीणा—
सोयी वीणा के तार छेड़ दिये हैं
रजनीश—एक संगीतज्ञ अज्ञात का !
—स्वयं संगीत सनातन का !
—स्वयं स्रोत !
रजनीश—एक द्रष्टा !
—उसकी आंखों में झांको
तो उतर आता है आंखों में
कोई अलौकिक आलोक !
रजनीश—एक आग शीतल-सी !
—एक प्रज्ञा निर्झर-सी !
—एक कलाकृति स्वयंभू-सी !
—एक महामौन मुखरित-सा !
—एक शून्य विराट-सा !
—एक भगवान मानव-सा !